प्रकाशक—
श्रीमहावीर ग्रंथ प्रकाश मंदिर,
भानपुरा (होलकर-राज्य)

ग्राहकों से क्षमा प्रार्थना—

हमने "भगवान् महावीर" के भाद्रपद शुक्ल पूर्णिमा तक ग्राहकों के पास पहुँचादेने का वायदा किया था। उसी वायदे के अनुसार पुस्तक चित्रों सहित एकादशी पर ही तैयार हो गई थी पर जिल्द-बंधी कलकत्ते में होने के कारण यह इतने विलम्ब से पाठकों के पास पहुँच रही है। इसके लिये हमें दुःख है।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
बनारस सिटी। १३९९—२४

भगवान् महावीर पर

न्याय विशारद न्यायाचार्य्य जैनमुनि श्री न्यायविजयजी की सम्मति

'जिन'का चरित्र अभी तक किसी भी लोक-भाषा में पूर्णतया (सांगो-पांग) प्रकाशित नहीं हुआ है उन महावीर देव के जीवन के लिखने के लिए लेखक को शतशः साधुवाद। यह शुभ अध्यवसाय और शुभ प्रयत्न सर्वथा अनुमोदनीय है। इसके लिखने में लेखक ने अनेकानेक ग्रन्थों के आधार पर गवेषणापूर्ण दृष्टि से जो काम लिया है वह इस पुस्तक की प्रशंसनीय विशेषता है। ऐतिहासिक दृष्टि और वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण तो—इसके अंदर—यथा संभव आदि से अन्त तक है ही किन्तु कहीं कहीं विचार-स्वातन्त्र्य का उपयोग भी दीख पड़ता है; परन्तु इस समय के लिये वह तो दूषणरूप न होकर भूषणरूप है, और प्रज्ञावान् के लिये वह अनिवार्य भी। हाँ, केवल कल्पनासम्भूत-तर्क के आधार पर मताग्रही हो जाना, निःसन्देह, हृदय की अनुदार वृत्ति है। वर्तमान नयी रोशनी के कई लेखकों के अंदर ऐसी वृत्ति पाई जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में भी कहीं यह बात पाई जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। त्रुटियों का होना प्रायः हर एक कार्य में साहजिक है।

पुस्तक बड़े काम की है। महावीर-जीवन की ऐसी पुस्तक यह पहले ही नजर आती है। जैन के सभी फिरके वालों को अपनाने के योग्य है। और आशा है कि—महावीर-देव के जीवन-चित्रण के लिए ऐसे छोटे बड़े प्रयत्न अधिकाधिक अध्यवसाय पूर्वक जारी रहने पर एक दिन वह आ सकेगा कि महावीर-जीवन का सम्पूर्ण-व्यवस्थित महाभारत दुनिया के सन्मुख रक्खा जायगा।

इन्दौर
अश्विनकृष्णा १ वि०
वि० धर्म-सवत्० ३

मुनि न्यायविजय

श्रीमान् राय सेठ चांदमलजी रीयांवाले.

नोट.—चित्र परिचय के लिये पृष्ठ नम्बर ६८५ देखिये।

भूमिका।

जिन महात्माओंने पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर जीवन के कठिन रहस्यों को सुलझाने का प्रयत्न किया है—जिन महात्माओं ने मनुष्य जाति के कल्याण की कामना पर अपने जीवन का वलिदान कर दिया है और जिन महात्माओं ने भूली हुई मनुष्य जाति को ज्ञान के पथ पर लगाने का प्रवल प्रयास किया है उन महात्माओं के जीवन चरित्र सर्वसाधारण के लिए कितने उपयोगी हैं यह वतलाने की अवश्यकता नहीं। उन्नत देशों में और सुसंस्कृत साहित्य में ऐसे जीवन अलङ्कार स्वरूप समझे जाते हैं।

आज हम पाठकों के सम्मुख ऐसे ही उच्च श्रेणी के एक महान् पुरुष का जीवन चरित्र लेकर उपस्थित होते हैं। पाठकों को इस जीवन चरित्र के पढ़नेसे मालूम होगा कि भगवान् महावीर का व्यक्तित्व कितना उन्नत और उदार था, उनका चरित्र कितना कठिन और संयम पूर्ण था एवं उनका उपदेश कितना दिव्य और मनोहर था।

आजकल भारतवर्ष में साम्प्रदायिकता की लहर इतनी अधिकता के साथ उठ रही है—आजकल हमारा धार्मिक वायुमण्डल ऐसा विकृत हो रहा है कि उसमें रहकर वास्तविकता का प्रचार करना की वहुत कठिन हो रहा है। भगवान् महावीर का जीवन चरित्र लिखने वाले के मार्ग में भी ऐसी अनेक वाधाएं आकर उपस्थित होती हैं। साम्प्रदायिक झगड़ों के कारण भगवान् महावीर का भी रूप ऐसा विकृत हो गया है कि उसमें से वास्तविकता को निकालना अत्यन्त कठिन है। दिगम्वरी लोग कहते हैं—

भगवान् महावीर बाल ब्रह्मचारी थे, श्वेताम्बरी कहते हैं नहीं उनका विवाह हुआ था। ऐसी हालत में लेखक के विचारों का ठिकाना नहीं रह जाता, उसे सत्य का अन्वेषण करना महा कठिन हो जाता है। साम्प्रदायिक ढङ्ग से जीवन चरित्र लिखनेवालों को तो इन दिक्कतों का सामना नहीं करना पड़ता पर जो एक सार्वजनिक एवं सर्वोपयोगी ग्रन्थ लिखने बैठता है उसे तो महा भयङ्कर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हमारे खयाल से इसी कारण आजतक किसी भी विद्वान् ने इस कठिनाई पूर्ण काल में हाथ डालना उचित न समझा।

लेकिन इन सब कठिनाइयों और असुविधाओं का अनुभव करते हुए भी हम इस महान् दुस्तर और कठिन कार्य्य में हाथ डालने का प्रयास कर रहे हैं। भगवान् महावीर का जीवन चरित्र इतना गम्भीर और रहस्यपूर्ण है कि उसे लिखना तो क्या समझना भी महा कठिन है। अनुभव शील और दिग्गज विद्वान् ही इस महान् कार्य्य में सफ़ल हो सकते हैं। हम जानते हैं कि महावीर के जीवन चरित्र को लिखने के लिए जितनी योग्यता की दरकार है उसका शतांश भी हममें नहीं है। फिर भी इस महान् कार्य्य में हाथ डालने का कारण यह है कि कुछ भी न होने की अपेक्षा कुछ होना ही अच्छा है, कम से कम भविष्य के लेखकों के लिए ऐसी आधार-शिलाओं का साहित्य में होना आवश्यक है।

यहाँ हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि हमने यह ग्रन्थ किसी पक्षपात के वश होकर नहीं लिखा है और न इस ग्रन्थ की रचना किसी सम्प्रदाय विशेष ही के लिए की है। इस ग्रन्थ को लिखने का हमारा प्रधान उद्देश्य ही यह है कि इसे सब लोग जैन और अजैन, श्वेताम्बरी और दिगम्बरी प्रेम पूर्वक पढ़ें और लाभ उठावें। लेखक का यह निर्भीक मन्तव्य है कि "भगवान् महावीर" किसी सम्प्रदाय विशेष की मौरूसी जायदाद नहीं है। वे सारे विश्व के हैं—उनका उपदेश सारे विश्व का कल्याण करता है। ऐसा स्थिति में यदि कोई पाठक इसमें साम्प्रदायिकता

की भावनाओं को ढूँढने का प्रयत्न करेंगे तो निराश होंगे। क्योंकि जो लेखक साम्प्रदायिकता को देश और जाति की नाशक समझता है उसके ग्रन्थ में ऐसी भावनाओं का मिलना कैसे सम्भव है? हाँ, जो लोग निरपेक्ष भाव से महावीर के जीवन के रहस्यों को और उनके विश्वव्यापी सिद्धान्तों को जानने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ को खोलेंगे तो हमारा विश्वास है कि वे अवश्य सन्तुष्ट होंगे।

महावीर के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी सर्वव्यापी बातें लेखक को दिगम्बरी ग्रन्थों से मिली वे उसने दिगम्बरी ग्रन्थों से लीं, श्वेताम्बरी ग्रन्थों से मिली वे उसने श्वेताम्बरी ग्रन्थों से लीं, जितनी बौद्ध ग्रन्थों से मिलीं वे बौद्ध ग्रन्थों से लीं, और जितनी अंग्रेजी ग्रन्थों से मिली वे अंग्रेजी ग्रन्थों से ली हैं। जो जो बातें जिस ढङ्ग से उसकी बुद्धि को मान्य हुईं उन्हें उसी ढङ्ग से लिखी हैं। सम्भव है हमारे इस कृत्य से कुछ पाठक नाराज हों, पर इसके लिए हम लाचार हैं हमने हमारी बुद्धि के अनुसार जहाँ तक बना महावीर के इस जीवन को उत्कृष्ट और सर्वव्यापी बनाने का प्रयास किया है।

हमारे खयाल से महावीर के जीवन का महत्व इसमें नहीं होसकता कि वे ब्रह्मचारी थे या विवाहित, इससे भी उनके जीवन का महत्व नहीं बढ़ सकता कि वे ब्राह्मणी के गर्भ में गये थे या नहीं। महावीर के जीवन का महत्व तो उनके अखण्ड त्याग, कठिन संयम, उन्नत चरित्र और विश्वव्यापी उदारता के अन्तर्गत छिपा हुआ है। उसके पश्चात् उनके जीवन का महत्व उनके विश्वव्यापी और उदार सिद्धान्तों से है। इन्हीं बातों के कारण भगवान् महावीर संसार के सब महात्माओं से आगे बढ़े हुए नजर आते हैं। इन्हीं बातों के कारण संसार उनकी इज्जत करता है।

हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस सङ्कीर्णता और साम्प्रदायिकता को छोड़ कर—जो कि हमारी जाति और धर्म का नाश करने वाली है—महावीर की वास्तविकता को समझने का प्रयत्न करें। पक्षपात के अन्धे चश्मे

को उतारकर हम इन तत्त्वों को देखें जिनके कारण महावीर "भगवान् महावीर" हुए हैं। यदि हम निर्पेक्ष हो बुद्धि को शुद्ध कर महावीर के जीवन के गम्भीर रहस्यों का, उनके उदार और अखण्डनीय तत्त्वों का अध्ययन करेंगे तो हमें वह उज्ज्वल आनन्द, दिव्य शान्ति और ज्ञान का अलौकिक प्रकाश दिखलाई देगा जो वर्णनातीत है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में हमें करीव ५५ छोटे वड़े ग्रन्थों से सहायता मिली है, उन सव के लेखकों के हम कृतज्ञ हैं। सव ग्रन्थों का नामोल्लेख करना यहाँ असम्भव है इसलिए उनमें से कुछ मुख्य २ ग्रन्थों का नाम दे देना आवश्यक समझते हैं।

महावीर जीवन विस्तार (गुजराती)।
त्रिषिष्ठशाला के पुरुषों का चरित्र (गुजराती)।
कल्पसूत्र, आचाराङ्ग सूत्र और उत्तराध्यन सूत्र।
महावीर पुराण।
कल्पसूत्र उपर निवन्ध (गुजराती)।
हर्मनजेकोबी द्वारा लिखित सूत्रों की प्रस्तावना।
डाक्टर हार्नल के लिखे हुए जैनधर्म सम्वन्धी विचार।
बौद्धपर्व (मराठी)।
दैशिक शास्त्र (हिन्दी)।
भारतवर्ष का इतिहास (लाला लाजपतराय)।
जैनधर्मनु अहिंसातत्व (गुजराती)।
मुक्तिका स्वरूप (हिन्दी सरस्वती से)।
जैन साहित्य मा विकार थवा थी थयेली हानि (गुजराती)।
डाक्टर परटोल्ड का धूलिया में दिया हुआ व्याख्यान।
जैनदर्शन (मुनि न्यायविजयजी)।
प्रवचनसार (कुन्दकुन्दाचार्य्य)।
समयसार (,, ,,)

श्रेणिकचरित्र (हिन्दी)

उपरोक्त साहित्य के सिवा कई अंग्रेजी, बङ्गला ग्रन्थों और सामयिक पत्रों से भी सहायता मिली है। जिसके लिए लेखक उन सब रचयिताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है।

शान्ति मन्दिर भानपुरा
श्रावणीपूर्णिमा १९८१ 'चन्द्रराज भण्डारी विशारद'

शुद्धि पत्र

इस ग्रंथ मे संशोधकों की दृष्टि दोष से यत्र तत्र कुछ अशुद्धियां रह गई हैं उनके लिये हमें खेद है। आशा है पाठक उन्हे सुधार कर पढ़ेंगे। इस स्थान पर हम उन थोड़ी सी मोटी २ अशुद्धियों का शुद्धिपत्र दे रहे हैं जिनसे भावों मे अंतर आने का डर है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४७	२	इस	इन
५०	१२	प्रस्पोटिक	प्रस्पोटित
५१	१२	क	मजाक
५४	९	था	पर
५७	११	प्राणी को	प्राणी की
६०	१५	प्रताप ही के	प्रताप ही से
६४	१०	अब	जब
६४	८	प्रोटेस्सेन्ट	प्रोटेस्टेन्ट
६४	२४	विहिताश्रम	विहिताश्रव
६५	२२	ज्ञानीपुत्र	ज्ञातिपुत्र
६६	२	महापगा	महापग्ग
६७	३	बात है	बात है जब
६८	१६	अनुमती	अनुमति
६९	१६	कोसिश	कोशिश
७१	७	कल्यनाएं	कल्पनायें
७२	१६	उपदेशों के	उपदेशो का
७२	१६	इतिहास का	इतिहास को
७३	१	आचार्य	आचौर्य
७३	२३	प्रतिस्पर्धी	प्रतिस्पर्धा
८०	९	हिलाब	हिसाब

८०	१७	अंकर	अन्तर
८०	११	अत्तर	अन्तर
८३	९	नहपान	नहयान
८४	१५	वीर	वीच
८५	१७	नगरी	नगरी का
८६	१९	न्याय	नाय
९०	७०	लोगों के	लोगों को
९४	१८	शब्द के आगे दत्त	शब्द के आगे दत्त शब्द का प्रयोग नहीं होता दिन्न
९५	९	करके	कहके
९५	१०	उपाहोह	उहापोह
९५	१२	निष्कर्म	निष्कर्ष
९६	१४	यदि ...	... ...
९७	२३	उपदेशा	उपदेशों
९९	३	त्रिरान	त्रिरत्न
१११	७	उनके	लोगों के
११५	१५	और	और उन
११७	७	अखण्ड राज्य वैभन के	त्याग के
११९	२४	अन्नन शाला	अन्न शाला
१२३	२३	निष्कर्म	निपकर्ष
१३५	२१	होती... ...	होती है त्यो २ अधिकाधिक विपत्तियों का समूह उसपर उतरता है
१३६	१०	वात में ...	यात को
१३७	१४	मनुष्य के ...	मनुष्य के अन्तर्गत

१३९	१३	अध्ययन	...	अध्ययन व
१४७	२४	रहते	...	करते
१४१	८	निकांचित	...	निकाचित
१४१	२२	आत्मावाले	...	आनेवाले
१४२	१५–१७	श्वेताम्बरी	...	श्वेताम्बी
१४३	१	अनिष्टको कर		अनिष्ट कर
१४३	९	की	...	कि
१४३	९	उससे	...	... ...
१४३	१०	शक्ति	...	स्थिति
१४७	८	जाति	...	जति
१४९	९	आत्मा	...	आत्मा को
१५१	४	उपसर्गों की		उपसर्गों को
१५२	२४	भ्रम	...	क्रम
१५१	२०	गढता	...	गाढता
१६०	५	लेवल	...	केवल
१६२	१५	समय	...	संयय
१६५	४	सुख	...	दुख
१६६	३	खाक	...	खरक
१६८	५	वाहर	...	वारह
१७०	४	पारिधि	...	परिधी
१७४	३	स्वांस	...	स्वांग
१७७	६	कुछ चक्र		कुचक्र

पृष्ठ ७५ के अंदर भूल से लिखा गया है कि, महावीर और बुद्ध दोनों महात्माओं ने परस्थिति का अध्ययन कर एक २ नवीन धर्म भी नींव डाली। यह बात भूल से लिखी गई है। महावीर ने किसो नवीन धर्म की नींव नहीं डाली प्रत्युत प्राचीन काल से चले आये हुए जैन धर्म का ही नेतृत्व ग्रहण किया। जैसे कि इसी पुस्तक में अन्यत्र लिखा गया है।

विषय-सूची

पृष्ठ

ऐतिहासिक खण्ड

पृष्ठ

पृष्ठ

पौराणिक खण्ड

प्रथम अध्याय

दार्शनिक खण्ड

प्रथम अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

Blocks & Printings by the Banik Press, Cal

ऐतिहासिक खण्ड

HISTORICAL PART

भगवान् महावीर का प्रादुर्भाव।

लेखक—कवि पुष्कर

जब अधर्म का दुखद राज्य होता है जारी।
होते हैं अन्याय जगत में निशिदिन भारी॥
सामाजिक सब रीति-नीतियाँ नस जाती हैं।
अनाचार की वृत्ति हृदय में बस जाती हैं॥

तब ऐसे सत्पुरुष का, होता झट अवतार है।
जो अपने सच्चरित से, हरता पापाचार है॥

भारत में जब सदाचार की गिरी अवस्था।
वर्णाश्रम की नहीं रह गई मूल व्यवस्था॥
नर-पशुओं की फैल रही थी दुर्गुण-सत्ता।
भ्रष्ट हो रही थी मुनियों की प्रिय नय-मत्ता॥

महावीर भगवान का, उसी काल आगम हुआ।
जिनके तेज-प्रताप से, नष्ट ऊत ऊधम हुआ॥

पूज्य पिता सिद्धार्थ धन्य! थीं त्रिशला माता।
वैशाली था जन्म-नगर सब सुख का दाता॥
तीस वर्ष में जगजाल तज हुए तपस्वी।
कर्म-भोग निर्वाण-सुपथ में हुये यशस्वी॥

सदुपदेश दे देश को, पाठ अहिंसा का पढ़ा।
अमर हुये इस लोक में, जैन धर्म आगे बढ़ा॥

भगवान् महावीर

अवतरणिका

बहुत दिनों की बात है—करीब ढाई हजार वर्ष व्यतीत हुए होंगे—जब भारतीय समाज के अंतर्गत एक भयङ्कर विशृंखला उत्पन्न हो रही थी। वे सब सामाजिक नियम जो समाज को उन्नत बनाये रखने के लिये प्राचीन ऋषियों ने आविष्कृत किये थे नष्ट-भ्रष्ट हो चुके थे। वर्णाश्रम व्यवस्था का वह सुन्दर दृश्य जिसके लिये प्लेटो और एरिस्टोटल के समान प्रसिद्ध दार्शनिक भी तरसते थे, इस काल में बहुत कुछ नष्ट हो चुका था, ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व को भूल गये थे। स्वार्थ के वशीभूत होकर वे अपनी उन सब सत्ताओं का दुरुपयोग करने लग गये थे जो उन्हें प्राचीन काल से अपनी बहुमूल्य सेवाओं के बदले समाज से कानूनन प्राप्त हुई थी। क्षत्रिय लोग भी ब्राह्मणों के हाथ की कठपुतली बन अपने कर्तव्य से च्युत हो गये थे। समाज का राजदंड अत्याचार के हाथ में जा पड़ा था। सत्ता अहंकार की गुलाम हो गई थी, राज मुकुट अधर्म के सिरपर मण्डित था, समाज में त्राहि त्राहि मच गई थी।

भारतवर्ष के सामाजिक और धार्मिक इतिहास में यह काल बड़ा ही भीषण था। यह वह समय था जब मनुष्य अपने मनुष्यत्व को भूल गये थे—सत्ताधारी लोग अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने लग गये थे, बलवान निर्बलों पर छुरा तान कर खड़े हो गये थे, और वे लोग पीसे जा रहे थे जिन पर समाज की पवित्र सेवा का भार था।

समाज के अन्तर्गत अत्याचार की भट्टी धधक रही थी। धर्म पर स्वार्थ का राज्य था; कर्तव्य सत्ता का गुलाम था, करुणा पाशविकता की दासी थी, मनुष्यत्व अत्याचार पर बलिदान कर दिया गया था। शूद्र ब्राह्मणों के गुलाम थे, स्त्रियां पुरुषों के घर की सम्पत्ति-मात्र समझी जाने लगी थीं, प्रेम का नामो निशां केवल प्राचीन ग्रन्थो मे रह गया था। सारे समाज में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी।

मतलब यह है कि ब्राह्मणों के अत्याचारों से सारा भारत क्षुब्ध हो उठा था, सब लोग एक ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा कर रहे थे जो अत्याचार की उस धधकती हुई भट्टी को बुझा कर समाज में शान्ति की स्थापना करे—जो अपने गम्भीर विचारो से भटके हुए लोगों को राह पर लगादे, जो अपने दिव्य सदुपदेश से लोगों की आत्म-पिपासा को शान्त कर दे। एवं जो मनुष्यो को मनुष्यत्व का पवित्र सन्देश सुना कर उस अशान्ति का नाश कर दे या यों कहिये कि जो नष्ट हुए धर्म को संशोधित कर नवीन विचारों के साथ नवीन-रूप में जनता के सम्मुख रक्खे।

समाज के अन्तर्गत जब इस प्रकार की आवश्यकता होती है तब प्रकृति उसे पूरी करने के लिए अवश्य किसी महापुरुष को

पैदा करती है। प्रकृति का यह नियम सनातन है। इसी नियम के अनुसार उसने तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का संशोधन करने के लिये एक साथ दो महापुरुषों को पैदा किये। ये दोनों महापुरुष भगवान महावीर और भगवान् बुद्धदेव थे। संसार के इतिहास में इन दोनों ही महात्माओं को कितना उच्च स्थान प्राप्त है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

इन दोनों महापुरुषों ने भारतवर्ष में अवतीर्ण होकर यहां की नैतिक, मानसिक, सामाजिक और धार्मिक दुरावस्थाओं का निराकरण कर समाज के अन्तर्गत ऐसी जीवित शान्ति उत्पन्न कर दी कि जिस के प्रताप से भारतीय समाज एक वार फिर से उन्नत समाज कहलाने के लायक हो गया। इनके उन्नत चरित्र और सद्विचारों का जनता पर इतना दिव्य और स्थायी प्रभाव पड़ा कि जिसके कारण वह भविष्य में भी कई शताब्दियों तक अपना कर्तव्य-पालन करती रही। तात्पर्य्य यह है कि इन दोनो महापुरुषों ने अपने व्यक्तित्व के बल से भारत में पुन. स्वर्ण-युग उपस्थित कर दिया।

इन्हीं दोनों महात्माओ में से भगवान महावीर का पवित्र जीवन चरित्र इस ग्रन्थ में अङ्कित है। आजकल के कुछ लोग भगवान महावीर को बहुत ही संकीर्ण निगाह से देखते हैं। वे उनकी मर्य्यादा केवल जैन समाज तक ही मानते हैं। पर वास्तविक बात ऐसी नहीं है। आगे हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि महावीर पर केवल जैनियों का ही अधिकार नहीं है। यह सत्य है कि उन्होंने पूर्व प्रचलित जैन धर्म को ग्रहण कर उसे कुछ संशोधन के साथ प्रचारित किया, पर इससे यह कदापि सिद्ध नहीं

हो सकता कि भगवान महावीर पर केवल जैनियों का ही अधिकार है।

हमारे खयाल से तो उनका एक एक वाक्य विश्व-कल्याण के निमित्त निकला है और उससे विश्व का प्रत्येक व्यक्ति लाभ उठा सकता है। उनका सन्देश कितना सार्वजनिक और सर्वव्यापी है इसका दिग्दर्शन कराना भी इस ग्रन्थ का एक प्रधान उद्देश्य है। आगे चल कर हम क्रमानुसार ऐतिहासिक, पौराणिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से उनके जीवन और सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

पहला अध्याय

उस समय का भारतवर्ष

भगवान महावीर के समय में भारतवर्ष तीन बड़े भागों में बँटा हुआ था। उसमें से बीच वाला भाग "मज्झिम-देश" (मध्यदेश) कहलाता था। मनुस्मृति के अनुसार हिमालय और विन्ध्याचल के बीच तथा सरस्वती नदी के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम वाले प्रान्त को मध्यदेश कहते हैं। इस मध्यदेश के उत्तर वाले प्रान्त को "उत्तरा-पथ" और दक्षिण वाले प्रान्त को "दक्षिणा पथ" कहते थे। इन सब प्रान्तों में उस समय भिन्न भिन्न राजा राज्य करते थे। साम्राज्य का कुछ भी सगठन नहीं था, उस समय के प्रसिद्ध राज्यों में से चार राज्यो का विशेष रूप में उल्लेख मिलता है:—

१—मगध—इसकी राजधानी राजगृह थी। यही बाद को "पाटलिपुत्र" बन गई। यहां पहले राजा बिम्बसार ने राज्य किया और उसके पश्चात् उसके पुत्र अजातशत्रु ने। इस वश का प्रवर्तक शिशु नाग नामक एक राजा था। बिम्बसार इस वश का पांचवां राजा था, उसने अगदेश अर्थात् मुंगेर और भागल पुर को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

२—दूसरा राज्य उत्तर-पश्चिम में कौशल का था। इसकी राजधानी "श्री वस्ती" रापती नदी के तीर पर्वत के अञ्चल में स्थित थी।

३—तीसरा राज्य कौशल से दक्षिण की ओर वत्सों का था। उसकी राजधानी यमुना तीर पर कौशाम्बी थी। इसमें परन्तप का पुत्र "उदयन" राज्य करता था। हेमचन्द्राचार्य के कथनानुसार उदयन के पिता का नाम "शतानिक था"।

४—चौथा राज्य इससे भी दक्षिण में "अवन्ति" का था, इसकी राजधानी उज्जयिनी थी और यहां पर राजा "चण्डप्रद्योत" राज्य करता था।

इन चार के अतिरिक्त निम्नांकित छोटी बड़ी बारह राजनैतिक शक्तियां और थीं।

१—अङ्ग राज्य—इसकी राजधानी चम्पापुरी—जो आज कल भागलपुर के समीप है—थी।

२—काशी राज्य—जिसकी राजधानी बनारस मे थी।

३—वज्जियों का राज्य—इस राज्य में आठ वंश सम्मलित थे, इनमें सबसे बड़े लिच्छवि और विदेह थे। उस समय मे यह राज्य प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर व्यवस्थित था। इसका क्षेत्रफल तेईससौ मील के लगभग था। इसकी राजधानी मिथिला थी। प्रसिद्ध कर्मयोगी राजा जनक इसी विदेह वंश के थे।

४—कुशीनारा और पावा के मल्ल ये दोनों स्वाधीन जातियां थीं। इनका प्रदेश पर्वत के अञ्चल मे था।

५—चेदि राज्य—इसके दो उपनिवेश थे, पुराना नैपाल में और नवीन पूर्व में कौशाम्बी के समीप था।

६—कुरु राज्य–इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। इसके पूर्व में पांचाल और दक्षिण में मत्स्य जातियाँ बसती थीं। इतिहासज्ञों की राय में इसका क्षेत्रफल दो सहस्र वर्ग मील था।

७—दो राज्य पांचालों के थे। इनकी राजधानियो "कन्नौज" और "कपिला" थीं।

८—मत्स्य राज्य जो कुरु राज्य के दक्षिण मे और जमुना के पश्चिम में था, इसमें अलवर, जयपुर, और भरतपुर के हिस्से शामिल थे।

९—शूरसेनों का राज्य—इसकी राजधानी मथुरा मे थी।

१०—अश्मक राज्य–इसकी राजधानी गोदावरी नदी के तीर पोतन या पोतली में थी।

११—गान्धार–इसकी राजधानी तक्षशिला मे थी।

१२—काम्बोज राज्य–इसकी राजधानी द्वारिका मे थी।

यह स्मरण रखना चाहिये कि उपरोक्त सोलह ही नाम शासक जातियों के थे, पर इन जातियों के नाम से उनके अधीनस्थ देशों के भी यही नाम पड़ गये थे। इन जातियो अथवा राज्यों के ऊपर कोई शक्ति ऐसी न थी जो इन पर अपना आतङ्क जमा सके। अथवा इन सबों को एकत्रित कर एक छत्री साम्राज्य का सगठन कर सके। ये छोटे छोटे राज्य कभी २ आपस मे लड़ भी पडते थे क्योंकि राजनैतिक स्वतंत्रता के भाव लोगो के अन्तर्गत बहुत फैले हुए थे।

उस काल में उत्तरीय भारत के अंतर्गत बहुत से प्रजातन्त्र राज्य भी थे। अध्यापक "राइजडेविड्स" अपनी "बुद्धिस्ट-

इण्डिया" नामक पुस्तक में निम्नांकित ग्यारह प्रजातन्त्र राज्यों का उल्लेख करते हैं:—

१—शाक्यों का प्रजातन्त्र राज्य–जिस की राजधानी "कपिल-वस्तु" में थी।

२—भग्गो का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी "संसुमार पहाड़ी" थी।

३—बुल्लियों का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी "अलकप्य" थी।

४—कोलियो का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी "केश-पुञ्ज" थी।

५—कालामो का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी "राम ग्राम" थी।

६—मलयों का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी "कुशि-नगरी" थी।

७—मलयों का प्रजातन्त्र राज्य—जिसकी राजधानी "पावा" थी।

८—मलयो का प्रजातन्त्र राज्य—जिसको राजधानी 'काशी' थी।

९—मौर्य्यों का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी 'पिप्पली वन" थी।

१०—विदेहो का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी मिथिला थी।

११—लिच्छावियों का प्रजातन्त्र राज्य–जिसकी राजधानी वैशाली थी। भगवान् महावीर की माता इसी वंश की लड़की थी।

ये सब प्रजातन्त्र राज्य प्राय: आजकल के गोरखपुर, बस्ती और मुजफ्फरपुर जिले के उत्तर मे अर्थात् बिहार प्रान्त में फैले हुए थे। ये जातियाँ प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर शासन करती थीं। इनकी शासन प्रणाली कई बातों में प्राचीन काल के यूनानी प्रजातन्त्र राज्यों के सदृश थी। इन प्रजातन्त्र जातियों मे से सब से बड़ी शाक्य जाति थी। इस जाति के राज्य की जन संख्या उस वक्त करीब दस लाख थी, उनका देश नैपाल की तराई में पूर्व से पश्चिम को लगभग पचास मील और उत्तर से दक्षिण को करीब चालीस मील तक फैला हुआ था। इस राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में थी। इस राज्य के शासन का कार्य एक सभा के द्वारा होता था। इस सभा को "संथागार" कहते थे। छोटे और बड़े सब लोग इस सभा मे सम्मिलित होकर राज्य के कार्य्य में भाग लेते थे। "संथागार" एक बड़े भारी सभाभवन में जुटती थी। इस सभा में सब लोग मिलकर एक व्यक्ति को सभापति चुन देते थे। उसी को राजा का सम्मान-सूचक पद प्राप्त होता था। उस समय भगवान् बुद्ध के पिता इस सभा के सभापति थे। भगवान गौतमबुद्ध इसी प्रजातन्त्र के एक नागरिक थे। यहीं पर रह कर उन्होंने स्वाधीनता की शिक्षा भी प्राप्त की थी। और इसी प्रजातन्त्र राज्य के आदर्श पर उन्होंने अपने भिक्षु सम्प्रदाय का संगठन भी किया था।

वज्जियों का प्रजातन्त्र राज्य प्राचीन भारत का एक संयुक्त राज्य था। इस प्रजातन्त्र राज्य में कई जातियाँ सम्मिलित थीं। इस संयुक्त राज्य की राजधानी वैशाली थी। इसकी दो प्रधान जातियाँ विदेह और लिच्छवि नाम की थी। वज्जी लोग तीन

मनुष्यो को चुन कर उनके हाथ मे शासन कार्य्य सौंप देते थे। ये तीनो अग्रणी समझे जाते थे। लिच्छवियों की एक महा-सभा थी। इस महासभा मे भी सब लोग सम्मिलित हो कर कार्य्य में भाग लेते थे। "वरण जातक" और "चुलमकलिंग जातक" नामक वौद्ध ग्रन्थों में इस महासभा के सदस्यों की संख्या ७७०७ दी गई है। ये लोग महा सभा में वैठ कर न सिर्फ कानून वनाने मे राय देते थे, प्रत्युत् सेना और आय व्यय सम्बन्धी सभी वातों की देखभाल करते थे। यह महासभा राज्य-शासन की सहूलियत के निमित्त नौ सभासदों को चुनकर उनकी एक कमेटी वना देती थी। ये नौ सभासद् "गणराजन्" कहलाते थे। ये लोग समस्त जनसमुदाय के प्रतिनिधि होते थे। "भट्ट साल जातक" नामक वौद्ध ग्रन्थ में लिखा है कि इन सभा-सदों का नियमानुसार जलाभिषेक होता था। और तव ये राजा की पदवी से विभूषित किये जाते थे।

ये प्रजातन्त्र राज्य कभी कभी आपस मे लड़ भी पड़ते थे। "कुनाल जातक" नामक वौद्ध ग्रन्थ मे लिखा है कि एक वार शाक्यो और कोलियों में वड़ा भारी युद्ध हुआ। युद्ध का कारण यह था कि दोनों ही राज्य अपने अपने खेत सींचने के निमित्त रोहिणी नदी को अपने अधिकार में रखना चाहते थे।

उस समय के राजा लोग आपस में किस प्रकार लड़ा करते थे. इसका खुलासा निम्नांकित उदाहरण से हो जायगा।

उस समय कौशल देश मे "ब्रह्मदत्त" नामक एक राजा राज्य करता था। उसने अपनी कन्या का विवाह मगध के राजा "श्रेणिक" (विम्वसार) के साथ कर दिया और आप अपने

पुत्र प्रसेनजित को राज्य देकर आत्म-चिन्तन मे लग गया। राजा श्रेणिक ने भी कुछ समय पश्चात् अपने श्वसुर का अनुकरण कर राज्य का भार अपनी बड़ी रानी के पुत्र कुणिक (अजात शत्रु) के हाथ में दे दिया और वह केवल राजकार्य्य की देख-रेख करता रहा। पर अजातशत्रु को इतनी पराधीनता भी पसन्द न आई और उसने कपट करके अपने पिता को मरवा डाला। कहा जाता है कि अजातशत्रु को यह दुष्ट सलाह बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त ने दी थी। अपने बहनोई की इस हत्या से राजा प्रसेनजित को बड़ा क्रोध आया, और उसने क्रोधित होकर मगध राज को दहेज स्वरूप दी हुई काशी नगरी की उत्पन्न को पुनः जप्त कर लिया। इस घटना से क्रुद्ध होकर अजातशत्रु ने प्रसेनजित के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। पर बहुत चेष्टा करने पर भी वह कृतकार्य न हो सका और अन्त में वह प्रसेनजित के हाथ बन्दी हो गया। प्रसेनजित को उसके दीन मुखमण्डल पर बड़ी दया आई और अन्त मे अजातशत्रु के बहुत प्रार्थना करने पर उसने उसे छोड़ दिया। इतना ही नहीं अपनी लड़की का विवाह भी उसके साथ कर दिया, एवं काशी की जागीरी भी उसे वापस करदी। इसके तीन वर्ष पश्चात् जब कि प्रसेनजित कार्यवश कहीं बाहर गया हुआ था, उसके लड़के "विरुदाभ" ने पीछे से अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह खडा कर दिया, और इस विद्रोह में सहायता प्राप्त करने की आशा से वह अजातशत्रु के पास जाने को उद्यत हुआ, पर दैवयोग से रास्ते ही में उसके प्राणान्त हो गये। प्रसेनजित उस काल का एक बड़ा ही न्यायी राजा था। बचपन से ही वह बड़ा बुद्धिमान

और दूरदर्शी था। तक्षशिला विश्वविद्यालय में उसने विद्योपार्जन किया था। इसने अपनी बहन के साथ बौद्धधर्म ग्रहण किया था और बौद्धधर्मावलम्बिनी कन्या से ही विवाह करने का इसका इरादा था। बहुत कोशिश के पश्चात् इसे शाक्य वंश की एक कन्या का पता लगा। पर शाक्य राजा ने इसे कन्या देने से इन्कार किया, क्योंकि वे कौशल राज्य को अपनी कन्या नहीं देते थे। इस पर प्रसेनजित ने उनसे युद्ध करना चाहा। पर इस अवसर को टाल देने के निमित्त उन्होंने अपनी दासी पुत्री वासवक्षत्रिया को राजकुमारी कह कर उसके साथ प्रसेनजित की शादी कर दी। "विरुदाभ" प्रसेनजित की इसी स्त्री का लड़का था। जब विरुदाभ बड़ा हुआ और उसे यह घटना मालूम हुई तो उसने इसका बदला लेने के लिए कपिलवस्तु पर चढ़ाई कर दी और वहां के लोगों की इस निर्दयता के साथ कतल की कि जिससे वहां पर रक्त की नदियां बहने लगीं। इन घटनाओं से तत्कालीन राजकीय परिस्थिति का अनुमान करना अपेक्षाकृत अवश्य आसान हो जायगा।

मतलब यह है कि बुद्ध और महावीर के समय मे भारतवर्ष के राजनैतिक वायुमण्डल में क्रान्ति होने के पूर्ण लक्षण नजर आने लग गये थे। क्या लोगों के आचार विचार मे, क्या धर्म-सम्बन्धी कार्य में, सामाजिक रीति रिवाजों मे और क्या साहित्य मे, सभी अङ्गों में क्रान्ति के लक्षण प्रगट होने लग गये थे। देश का वायुमण्डल क्रान्ति की पूर्ण तैयारी कर चुका था। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि, किसी भी क्रान्ति का वायुमण्डल एक दम तैयार नहीं हो जाता। क्रान्ति के अनुकूल परिस्थिति बनने में सैकड़ो

वर्ष लग जाते हैं। बहुत ही शनैः शनैः क्रम क्रम से ऐसी परिस्थिति तैयार होती है इसलिए यह निश्चय है कि बौद्धधर्म और जैनधर्म के समान विशाल क्रान्तियों की तैयारी भारतवर्ष दो या चार वर्षों में नहीं. प्रत्युत सैकड़ो वर्षों से कर रहा था।

उस समय के बड़े बड़े नगर

भगवान महावीर के समय में इस देश में निम्नांकित बडे बडे नगर थे। इन सब नगरों में ऊंचे २ प्राचीर बने हुए थे। इन नगरों के मकान चूने, ईंट और पत्थर के बनाये जाते थे। लकड़ी का भी प्रचुरता से उपयोग किया जाता था, मकान बहुत सजे हुए रहते थे, कई मकान सात मंजिल के होते थे। इनमें गर्म स्नानागार भी रहते थे। ये स्नानागार प्राय: तुर्की ढङ्ग के होते थे।

१—अयोध्या जो सरयू नदी पर था।

२—बनारस जो गंगा तीर पर था—उस समय इसका विस्तार करीब ८५ मील था।

३—चम्पा—यह अङ्ग राज्य की राजधानी थी और चम्पा नदी के किनारे बसी हुई थी।

४—काम्पिला—उत्तरीय पाञ्चाल जाति की राजधानी थी।

५—कौशाम्बी—बनारस से २३० मील की दूरी पर यमुना तट पर स्थित थी। यह व्यापार की बहुत बडी मण्डी थी।

६—मधुपुरी—यह यमुना तीर पर शूरसेनों की राजधानी थी, कई लोगों का मत है कि वर्तमान मथुरा वही स्थान है जहां मधुरा या मधुपुरी थी।

७—मिथिला—राजा जनक की राजधानी थी।

८—राजगृह—मगध की राजधानी थी।

९—रोरुक सौवीर—जो बाद को रोरुआ बन गया और जिससे वर्तमान काल का सूरत निकला है। उस समय भी यह व्यापार की बड़ी भारी मण्डी थी।

१०—सागल—उत्तर पच्छिम में था इसके राजा ने सिकन्दर का सामना किया था।

११—साकेत—जो उन्नाव जिले के अन्तर्गत सई नदी के तट पर सुजानकोट के स्थान पर पहचाना गया है।

१२—श्रावस्ती—यह बुद्धकाल के छः प्रसिद्ध शहरों में से एक थी।

१३—उज्जैन—यह मालवे का प्रसिद्ध शहर था।

१४—वैशाली—इसका घेरा १२ मील था।

उस समय की ग्राम रचना

प्रोफ़ेसर रिस डेविड्ज अपनी "बुद्धिस्टिक इंडिया" नामक पुस्तक मे उस समय के गावों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि उस काल में सब गांव प्रायः एक ही तरीके के बनाये जाते थे। सारी बस्ती को एक जगह इकट्ठी करके उसको गलियो में बाँटा जाता था, गांव के समीप वृक्षों का एक झुंड रखा जाता था। उन वृक्षों की छांह में ग्राम-पंचायत की बैठक हुआ करती थी। बस्ती के आस पास खेती की जमीन होती थी, गोचर भूमि पब्लिक प्रापर्टी में रक्खी जाती थी। जंगल का एक टुकड़ा इस लिये छोड़ दिया जाता था कि जहां से प्रत्येक व्यक्ति जलाने के लिये ईंधन ला सके। सब लोग अपने अपने पशु अलग अलग

रखते थे। पर गोचरभूमि सभी की सम्मिलित रहती थी। जितनी जमीन में खेती होती थी उसके उतने ही भाग कर दिये जाते थे जितने कि उस ग्राम में घर होते थे। सब लोग अपने अपने टुकड़ों में खेती करते थे। जल सिंचन के लिये नालियाँ बनाई जाती थीं। सारी जोती हुई भूमि की एक बाड़ रहती थी। अलग अलग खेतों की अलग अलग बाड़ें न रहती थीं। सारी भूमि गाँव की मिल्कियत समझी जाती थी। प्राचीन कथाओं में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि जिसमें किसी भागीदार ने अपनी जोती हुई भूमि का भाग किसी विदेशी के हाथ बेंच दिया हो। किसी अकेले भागीदार को अपनी भूमि वसीयत करने का भी अधिकार न था। यह सब काम तत्कालीन रिवाजों के अनुसार होते थे। उस समय राजा भूमि का मालिक नहीं समझा जाता था। वह केवल कर लेने का अधिकारी था।

आर्थिक-अवस्था

उस समय की दन्तकथाओं और पुराणों से पता चलता है कि उस काल में भी इस देश में कई प्रकार के व्यवसाय जारी थे। जैसे बढ़ई, लुहार, पत्थर छीलने वाला, जुलाहे, रंगरेज, सुनार, कुम्हार, धीवर, कसाई, व्याध, नाई, पालिश करने वाले, चमार, संगमरमर की चीजें बेचने वाले, चित्रकार आदि सब तरह के व्यवसाई पाये जाते थे, उनकी कारीगरी के कुछ नमूने प्रोफेसर रिस डेविड्स ने "बुद्धिस्टिक इण्डिया" नामक पुस्तक के छटें अध्याय में दिये हैं। सब तरह के व्यवसायों के होते हुए भी

उस समय प्रधान धंधा कृषि का ही समझा जाता था। आजकल की तरह न तो उस समय यहाँ की जनसंख्या ही इतनी बढ़ी हुई थी और न यहाँ का अन्न विदेशों में जाता था। इस कारण सब व्यक्तियों के हिस्से में जीवन-निर्वाह के पूर्ति या उससे भी अधिक जमीन आती थी। खेती की उत्पन्न का दसवाँ हिस्सा जहाँ राज्य कोष में जमा कर दिया कि बस सब ओर से निश्चिन्तता हो जाती थी। सरदारों—सरकारी कर्मचारियों और पुरोहितों को इनाम की जमीन भी मिलती थी, पर उस जमीन का इन्तिजाम उनके हाथ में नहीं रहता था। इन्तिजाम के लिये दूसरे कृषिकार नियुक्त रहते थे।

पैसे लेकर मज़दूरी करने का रिवाज़ उस समय बिल्कुल न था। मज़दूरी को लोग हेच समझते थे। सब लोग अपनी स्वतंत्र आजीविका से कमाते और खाते थे। न उस समय धनाढ्य और अमीर मिलते थे न निर्धन और गरीब। बहुत बड़े २ कारखाने और फर्म्स भी उस समय नहीं थे। सब लोग अपने और अपने कुटुम्ब के निर्वाह के लायक छोटा सा धन्धा कर लेते और सन्तोष-पूर्वक जीवन-यापन करते थे। केवल ब्राह्मणों के स्वार्थ की मात्रा बढ़ी हुई थी। और इसी कारण समाज के इतर लोगों के हृदय में उनके प्रति घृणा के भाव उदय हो रहे थे।

सामाजिक-स्थिति

उपरोक्त विवेचन पढ़ने से पाठकों के मन में उस समय की राजनैतिक और आर्थिक-अवस्था के प्रति कुछ श्रद्धा की लहर का उठना सम्भव है। पर उन्हें हमेशा इस बात को ध्यान में

रखना चाहिए कि जहाँ तक समाज की नैतिक और धार्मिक परिस्थिति सन्तोष-जनक नहीं होती, वहाँ तक राजनैतिक परिस्थिति भी—फिर चाहे वह बाहर से कितनी ही अच्छी क्यो न हो—कभी समुन्नत नहीं हो सकती। समाज की नैतिक-परिस्थिति का राजनैतिक परिस्थिति के साथ कारण और कार्य का सम्बन्ध है। यदि समाज की नैतिक-स्थिति खराब है, यदि तत्कालीन जनसमुदाय में नैतिकबल की कमी है, तो समझ लीजिए कि उस काल की राजनैतिक स्थिति कभी अच्छी नहीं हो सकती-इसके विपरीत यदि समाज मे नैतिकबल पर्याप्त है, जनसमुदाय के मनोभावों में व्यक्तिगत स्वार्थ की मात्रा नहीं है तो ऐसी हालत मे उस समाज की राजनैतिक स्थिति भी खराब नहीं हो सकती। यदि हुई भी तो वह बहुत ही शीघ्र सुधर जाती है। किसी भी राजनैतिक आन्दोलन का भविष्य आन्दोलन कर्ताओं के नैतिकबल का अध्ययन करने से बहुत शीघ्र निकाला जा सकता है। यह सिद्धान्त नूतन नहीं, प्रत्युत बहुत पुरातन है—और इसी सिद्धान्त की विस्मृति हो जाने के कारण ही भारत का यह दीर्घकालीन पतन हो रहा है। अस्तु।

अब आगे हम उस काल की सामाजिक और नैतिक परिस्थिति का विवेचन करते हैं। पाठक अवश्य इन सब परिस्थितियों को मनन कर वास्तविक निस्कर्ष निकाल लेंगे।

भगवान् महावीर का जन्म होने के बहुत पूर्व आर्य्य लोगों के समुदाय पंजाब से बढ़ते बढ़ते बंगाल तक पहुँच चुके थे। उत्तम आबहवा और उपजाऊ जमीन को देख कर ये लोग स्थायी रूप से यहीं बसने लग गये। अब इन लोगो ने चौपाये

चराने का अस्थिर व्यवसाय छोड़ कर खेती करना प्रारम्भ किया। इस व्यवसाय के कारण ये लोग स्थायी रूप से मकान बना २ कर रहने लगे। धीरे धीरे इन मकानो के भी समुदाय बनने लगे, और वे ग्राम सज्ञा से सम्बोधित किये जाने लगे। इस प्रकार स्थायी रूप से जम जाने पर कुदरत के कानूनानुसार इन लोगो के विचारो मे परिवर्तन होने लगा। इधर उधर फिरते रहने की अवस्था में उनके हृदय मे स्थल अभिमान उत्पन्न नहीं हुआ था, पर अब एक स्थल पर स्थायी रूप से जम जाने के कारण उनके मनोभावों मे स्थलाभिमान का सचार होने लगा। इसके अतिरिक्त यहां के मूल निवासियों को इन लोगों ने अपने गुलाम बना लिये थे और इस कारण उनके हृदय में स्वामित्व, और दासत्व, श्रेष्ठत्व और हीनत्व की भावनाओं का संचार होने लग गया। उनके तत्कालीन साहित्य में जित और जेता की तथा आर्य व अनार्य की भावनाएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। ये भावनाएँ यहीं पर खतम न हुईं। अभिमान किसी भी छिद्र से जहां घुसा कि फिर वह अपना विस्तार बहुत कर लेता है। आर्य्यों के मनमें केवल अनार्य्यों के ही प्रति ऐसे मनो-विकार उत्पन्न होकर नहीं रह गये प्रत्युत आगे जाकर उनके हृदयो में आपस में भी ये भावनाएँ दृष्टि गोचर होने लगी। क्योंकि इन लोगो में भी सब लोग समान व्यवसाई तो थे नहीं सब भिन्न भिन्न व्यवसाय के करने वाले थे। कोई खेती करता था, कोई व्यापार करता था, कोई मजदूरी करता था तो कोई अध्ययन का काम करके अपना जीवन निर्वाह करता था। कोई उच्च कर्म करता था और कोई निकृष्ट। उत्कृष्ट-व्यवसायी लोग निकृष्ट-व्यव-

साथियों से घृणा करने लगे फल इसका यह हुआ कि समाज में एक प्रकार की विशृंखला उत्पन्न हो गई।

इस विशृंखलता को मिटा कर समाज मे शान्ति और सुव्यवस्था रखने के उद्देश्य से हमारे पूर्वज ऋषियों ने वर्णाश्रम-धर्म के समान सुन्दर विधान की रचना की थी। यह व्यवस्था इतनी सुन्दर और सुसंगठित थी कि जहाँ तक समाज में यह अपने असली रूप से चलती रही वहाँ तक यहाँ का समाज ससार के सब समाजो में आदर्श बना रहा। इसका विधान इतना सुन्दर था कि यूरोप के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने अपने "रिपब्लिक" नामक ग्रन्थ में और एरिस्टोटल ने "पालिटिक्स" मे इसी विधान का अनुकरण किया है। यदि विषयान्तर होने का डर न होता तो अवश्य हम पाठकों के मनोरजनार्थ इस विधान का विस्तृत विवेचन यहाँ पर करते, पर यह विवेचन इस स्थान पर अवश्य असङ्गत मालूम होगा इसलिये हम केवल उन बहुत ही मोटी बातो का वर्णन कर, जिसके बिना इस पुस्तक का क्रम नहीं जम सकता, इस विषय को समाप्त कर देंगे।

वर्णाश्रम-धर्म का संक्षिप्त इतिहास

वर्णाश्रम-धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई, जब समाज के अन्तर्गत बहुत प्रयत्न करने पर भी शान्ति स्थिर न रह सकी तब हमारे पूर्वज ऋषियों ने उत्कट आत्म-बल के सहारे शान्ति प्रचार के उपाय की खोज करना प्रारम्भ की, उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि समाज में शान्ति बनाये रखने के लिये उसमें

श्रेष्ठ बुद्धि का, उत्कृष्ट पौरुष का, पर्याप्त अर्थ का और यथेष्ट अवकाश का संयोग होना आवश्यक है। समाज में इन चार बातों में से एक के भी कम होने अथवा उनके साधारण कोटि के होने से सुप्रत्यर्थी गुणों की साम्यावस्था की धारणा नहीं हो सकती है। श्रेष्ठ बुद्धि का, उत्कट पौरुष का, पर्याप्त अर्थ का, और यथेष्ट अवकाश का संयोग करने के लिए पर्याप्त-संख्यक चार प्रकार के प्रवीण मनुष्य होने चाहिए। एक वे जो समाज मे श्रेष्ठ बुद्धि को बनाए रक्खें, दूसरे वे जो समाज में उत्कट-पौरुष का योग-क्षेम किया करे, तीसरे वे जो समाज में अर्थ का पर्याप्त उपार्जन और वितरण किया करें और चौथे वे जो समाज की बड़ी बड़ी बातो पर विचार करने के लिए पूर्वोक्त तीनो वर्णों को यथेष्ट अवकाश प्रदान करें।

उन्होंने इस विधान के अनुसार समाज के गुण कर्मानुसार चार विभाग कर दिये। एक एक विभाग को एक एक काम दिया गया। विद्या द्वारा समाज मे श्रेष्ठ बुद्धि का, योग-क्षेम और समाज की स्वाभाविक स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला वर्ग ब्राह्मण वर्ग कहलाया। बल-वीर्य द्वारा समाज में पौरुष बनाए रखने वाला और समाज की शासनिक स्वतन्त्रा की रक्षा करनेवाला वर्ण क्षत्रिय वर्ण कहलाया, अर्थद्वारा समाज में श्री स्मृद्धि को बनाए रखने वाला और समाज की आर्थिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाला वर्ण वैश्य वर्ण कहलाया। शारीरिक श्रम और सेवा द्वारा समाज की अवकाशिक स्वतन्त्रता की रक्षा करनेवाला वर्ण शूद्र वर्ण कहलाया।

केवल इन कर्त्तव्यो को निश्चित कर के ही हमारे पूर्वज

चुप नहीं हो गये। वे जानते थे कि मनुष्य-प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि सेवा का उचित पुरस्कार पाये विना वह सन्तुष्ट नहीं होती। प्रत्येक वर्ण पर समाज की उचित सेवा का भार तो रख दिया, पर जहाँ तक इसका यथेष्ट पुरस्कार इन वर्णों को समाज की ओर से न मिल जाय वहाँ तक यह विधान कभी सफलता-पूर्वक नहीं चल सकता। इसलिए उन्होंने चारों वर्णों का पुरुस्कार भी निश्चित कर दिया। उन्होंने चारों वर्णों को चार प्रकार की समाजिक विभूतियाँ प्रदान कीं। इन विभूतियों का उन्होंने इस प्रकार विभाग किया कि जिससे प्रत्येक वर्ण अपने अपने धर्म का पालन करता जाय। कोई वर्ण अपने धर्म को त्याग कर दूसरे धर्म में हस्तक्षेप न करे।

प्रत्येक वर्ण को केवल एक ही विभूति दी जाती थी। ब्राह्मणों को केवल मान, क्षत्रियों के केवल ऐश्वर्य्य, वैश्यों को केवल विलास और शूद्रों को केवल नैश्चिन्त्य दिया जाता था। ब्राह्मण के बराबर मान, क्षत्रिय के बराबर ऐश्वर्य्य, वैश्य के बराबर विलास और शूद्र के बराबर नैश्चिन्त्य समाज में किसी को न मिलता था। ये विभाग भी मनो-विज्ञान के पूर्ण अध्ययन के साथ किये गये थे। प्रत्येक मनोविज्ञान-वेत्ता से यह बात छिपी नहीं है कि विद्या के द्वारा जात्युपकार करने वाले का मान-प्रिय होना, बल द्वारा जाति सेवा करने वाले का ऐश्वर्य्य-प्रिय होना, व्यवसाय द्वारा जात्युपकार करने वाले का विलास-प्रिय होना और सेवा द्वारा जाति सेवा करने वाले का नैश्चिन्त्य-प्रिय होना स्वाभाविक है। और इसी कारण उनकी मनोवृत्तियों के अनुकूल ही उन्हें विभूतियां दी गईं। मान-प्रधान ब्राह्मणों के

हाथ में सारे समाज की सत्ता का भार दे दिया गया। लेकिन इसके साथ ही वे उस सत्ता मे लिप्त न हो जांय—उसका दुरुपयोग न करने लग जांय—इसलिये यह नियम रखा गया कि वे अपने लिए कुछ भी सम्पति उपार्जन न कर सकें। इसके अतिरिक्त वे जो कुछ भी सोचें, समाज मे जो कुछ भी सुधार करना चाहें, राजा के द्वारा करवायें। वे ऐश्वर्य्य और विलास से हमेशा विरक्त रहे। यह विधान उनके लिए रख कर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीनों वर्ण उनके अधिकार मे कर दिये गये।

यही वर्णाश्रम-धर्म्म का उद्देश्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे पूर्वजों ने वहुत ही गहरे पैठ कर समाज की इस व्यवस्था-प्रणाली का आविष्कार किया। और जहाँ तक समाज के अन्दर ब्राह्मणों ने निःस्वार्थ-भाव से तीनों वर्णों पर शासन किया, वहां तक यहां के समाज का दृश्य अत्यन्त सुन्दर रहा। पर दैव-दुर्वियोग से या यों कहिये कि मनुष्य-प्रकृति की कमजोरी से ब्राह्मणो के मस्तिष्क मे भौतिक-स्वार्थ का कीड़ा घुसा। अध्यात्मिकता की जगह वे भी भौतिकता मे रमण करने लगे। वस फिर क्या था, सत्ता तो उनके पास थी ही, वे मनमाने ढङ्ग से अपने नीचे वाले वर्णों पर अत्याचार करने लगे। फल स्वरूप समाज मे भयंकर क्रान्ति मच गई। कुछ समय तक तो क्षत्रिय भी ब्राह्मणों के हाथ की कठ पुतली वने रहे, और उनके अत्याचारों मे योग देते रहे, पर आगे जाकर वे भी इनसे घृणा करने लग गये, ब्राह्मणों के अत्याचार और वढ़ने लगे। भगवान् महावीर और वुद्धदेव के कुछ पूर्व ये अत्याचार वहुत वढ़ गये थे इनके कारण समाज में भयङ्कर त्राहि त्राहि मच गई थी, इन अत्या-

चारों के कुछ दृश्य हमें बौद्ध और जैन ग्रन्थो में देखने को मिलते हैं।

"चित्त सम्भूत जातक" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि, एक समय ब्राह्मण और वैश्य वश की दो स्त्रियां एक नगर के फाटक से निकल रही थीं, रास्ते मे उन्हे दो चाण्डाल मिले। चाण्डाल-दर्शन को उन्होने अप शकुन समझा। घर आकर उन्होंने शुद्ध होने के लिए अपनी आंखो को खूब धोया, उसके बाद उन्होंने उन चाण्डालों को खूब पिटवाया, और उनकी अत्यन्त दुर्गति करवाई।

"मातंग जातक" तथा "सत् धर्म्म जातक" नामक बौद्ध-ग्रन्थो से भी पता चलता है कि उस समय अछूतों के प्रति बहुत ही घृणित व्यवहार किया जाता था। ऐसा भी कहा जाता है कि उस समय यदि कोई ब्राह्मण वेद मंत्र का पाठ करता था और अकस्मात् अगर कोई शूद्र उसके आगे से होकर निकल जाता था तो उसके कानो मे कीलें तक ठुकवा दी जाती थीं।

कहने का मतलब यह है कि ब्राह्मणों के ये कर्म सर्व-साधारण को बहुत अखरने लग गये थे। अप्रत्यक्ष रूप से लोगों के हृदय मे ब्राह्मणो के प्रति बहुत घृणा के भाव फैल गये थे। और यही कारण है कि उस समय के ब्राह्मण-ग्रन्थों में बौद्ध लोगों की, और बौद्ध तथा जैन धर्म्म-शास्त्रों में ब्राह्मण वर्ग की खूब ही निन्दा की गई है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में ब्राह्मणों का स्थान क्षत्रियों से नीचे रखा गया है और उनका उल्लेख अपमान-पूर्ण शब्दो मे किया है। कल्पसूत्र नामक भगवान महावीर के पौराणिक जीवन-चरित में लिखा है कि अर्हत आदि उच्च पुरुष

ब्राह्मण जाति में जन्म ग्रहण नहीं करते और सम्भव है यह घृणा और भी जोरदार रूप मे प्रदर्शित करने। के लिए ही शायद उसके लेखक ने भगवान् महावीर की आत्मा को पहले ब्राह्मणी के गर्भ मे भेज कर फिर क्षत्राणी के गर्भ में जाने का उल्लेख किया है।

खैर इस पर हम आगे विचार करेंगे। यहां पर हम इतना लिखना पर्याप्त समझते हैं कि समाज में प्रचारित ब्राह्मणों के अत्याचारो के खिलाफ इन दोनों महात्माओं ने वड़े जोर की आवाज उठाई। इन महात्माओं ने इस अन्याय को दूर करने के लिए छूता-छूत के भेद को बिल्कुल छोड़ दिया और अपने धर्म तथा सम्प्रदाय का द्वार सब धर्मों और जातियो के लिए समान रूप से खोल दिया।

कुछ लोगों का यह खयाल है कि भगवान् बुद्ध और महावीर ने वर्णाश्रम-धर्म की सुन्दर व्यवस्था को तोड़ कर भारत के प्रति बड़ा भारी अन्याय किया। पर उनका यह कथन बहुत भ्रम पूर्ण है। जो लोग यह कहते है कि भगवान् महावीर ने वर्णाश्रम-धर्म को तोड़ दिया वे बड़ी गलती पर हैं। भगवान् महावीर ने वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध आवाज न उठाई थी प्रत्युत उस विशृंखला के प्रति उठाई थी जिसने वर्णाश्रम-धर्म मे घुस कर उसको बड़ा ही भयङ्कर बना रक्खा था। उन्होंने ब्राह्मणों की उस स्वार्थपरता के विरुद्ध आवाज उठाई थी जिसके कारण शूद्र बुरी तरह से कुचले जा रहे थे। भगवान् महावीर वर्णाश्रम-धर्म के नाशक न थे प्रत्युत उसके संशोधक थे।

मतलब यह कि उस समय में जैसा वर्णाश्रम-धर्म प्रच-

लित हो रहा था, उसको संशोधन करना आवश्यक था, भगवान्-बुद्ध और महावीर ने ऐसा किया भी। उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म की उस सब असभ्यता को नष्ट कर दिया जो मनुष्यजाति के पतन का कारण थी। जातक कथाओं से पता चलता है कि उस समय सब वर्णों और जातियों के मनुष्य परस्पर एक दूसरे का धंधा करने लग गये थे, ब्राह्मण लोग व्यापार भी करते थे। वे कपडा बुनते हुए, बढ़ई का काम करते हुए और खेती करते हुए भी पाये जाते थे। क्षत्रिय लोग भी व्यापार करते थे। लेकिन इन कामो से इनकी जातियां तथा वर्णों मे कोई गड़बड़ पैदा न होती थी।

तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर के पूर्व भारत की सामाजिक और नैतिक दशा का भयङ्कर पतन हो गया था। धार्मिक-स्थिति का उससे भी कितना अधिक गहरा पतन हो गया था, यह आगे चल कर मालूम होगा।

धार्मिक–स्थिति

भगवान् महावीर के समय में भारत की धार्मिक अवस्था बहुत ही भयङ्कर थी। पशुयज्ञ और बलिदान उस समय अपनी सीमा पर पहुँच गया था। प्रति दिन हजारों निरपराध पशु तलवार के घाट उतार दिये जाते थे। दीन, मूक, और निरपराध पशुओं के खून से यज्ञ की वेदी लाल कर ब्राह्मण लोग अपने नीच स्वार्थ की पूर्ति करते थे। जो मनुष्य अपने यज्ञ में जितनी ही अधिक हिंसा करता था, वह उतना ही पुण्यवान् समझा जाता था। जो ब्राह्मण पहले किसी समय

में दया के अवतार होते थे, वे ही इस समय में पाशविकता की प्रचण्ड मूर्ति की तरह छुरा लेकर मूक पशुओं का वध करने के लिए तैयार रहते थे। विधान बनाना तो इन लोगों के हाथ मे था ही जिस कार्य मे ये अपनी स्वार्थ लिप्सा को चरितार्थ होती देखते थे, उसी को विधान रूप बना डालते थे। मालूम होता है कि "वैदि की हिंसा हिंसा न भवति" आदि विधान उसी समय मे उन्होंने अपनी दुष्ट-वृति को चरितार्थ करने के निमित्त बना लिये थे।"

सारे समाज के अन्दर कर्म-काण्ड का सार्व-भौमिक राज्य हो गया था। समाज वाह्याडम्बर मे सर्वतोभाव फँस चुका था। उसकी आत्मा घोर अन्धकार मे पड़ी हुई प्रकाश को पाने के लिए चिल्ला रही थी। किन्तु कोई इस चिल्लाहट को सुनने वाला न था। इस यज्ञ-प्रथा का प्रभाव समाज में बहुत भयङ्कर रूप से बढ़ रहा था। यज्ञो मे भयङ्कर पशुवध को देखते देखते लोगों के हृदय बहुत क्रूर और निर्दय हो गये थे। उनके हृदय में से दया और कोमलता की भावनाएँ नष्ट हो चुकी थीं। वे आत्मिक-जीवन के गौरव को भूल गये थे। अध्यात्मिकता को छोड़ कर समाज भौतिकता का उपासक हो गया था। केवल यज्ञ करना और कराना ही उस काल में मुक्ति का मार्ग समझा जाने लगा था। वास्तविकता से लोग बहुत दूर जा पड़े थे। उनमे यह विश्वास दृढ़ता से फैल गया था कि यज्ञ की अग्नि मे पशुओं के मांस के साथ साथ हमारे दुष्कर्म भी भस्म हो जाते हैं। ऐसी अप्रमाणिक स्थिति के बीच वास्तविकता का गौरव समाज में कैसे रह सकता था।

इसके सिवाय यज्ञ करने मे बहुत सा धन भी खर्च होता था, जिस यज्ञ मे ब्राह्मणों को दक्षिणाएँ न दी जाती थीं वह यज्ञ अपूर्ण समझा जाता था, बड़ी बड़ी दक्षिणाएँ ब्राह्मणों को दी जाती थीं। कुछ यज्ञ तो ऐसे होते थे जिनमें साल साल भर लग जाता था और हजारों ब्राह्मणों की जरूरत पड़ती थी, अतएव जो लोग सम्पतिशील होते थे, वे तो यज्ञादि कर्मों के द्वारा अपने पापों को नष्ट करते थे, पर निर्धन लोगों के लिए यह मार्ग सुगम न था। उन्हे किसी भी प्रकार ब्राह्मण लोग मुक्ति का परवाना न देते थे। इसलिए साधारण स्थिति के लोगो ने आत्मा की उन्नति के लिए दूसरे उपाय ढूँढ़ना आरम्भ किये। इन उपायों में से एक उपाय "हठयोग" भी था, उस समय लोगों को यह विश्वास हो गया था कि कठिन से कठिन तपस्या करने पर ऋद्धि सिद्धि प्राप्त हो सकती है। आत्मिक उन्नति प्राप्त करने और प्रकृति पर विजय पाने के निमित्त लोग अनेक प्रकार की तपस्याओं के द्वारा अपनी काया को कष्ट देते थे, पञ्चाग्नि तपना, एक पैर से खड़े होकर एक हाथ उठा कर तपस्या करना, महीनो तक कठिन से कठिन उपवास करना, आदि इसी प्रकार की कई अन्य तपस्याएँ भी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझी जाती थीं।

इन तपस्याओं के करते करते लोगों का अभ्यास इतना बढ़ गया था कि उन्हे कठिन से कठिन यन्त्रणा भुगतने में भी अधिक कष्ट न होता था। जनता के अन्दर यह विश्वास जोरो के साथ फैल गया था कि यदि यह तपस्या पूर्ण रूपेण हो जाय तो आदमी विश्व का सम्राट् हो सकता है। यह भ्रम इतनी सत्यता

के साथ समाज मे फैला हुआ था कि स्वयं बुद्धदेव भी छः साल तक इसके चक्कर मे पड़े रहे पर अन्त में इसकी निस्सारता मालूम होते ही उन्होने इसे छोड़ दिया।

समाज में यज्ञवादियों और हठयोगवादियो के अतिरिक्त कुछ अश ऐसा भी था, जिसे इन दोनो ही मार्गों से शान्ति न मिलती थी। वे लोग सच्ची धार्मिक उन्नति के उपासक थे। या उनको समाज का यह कृत्रिम जीवन बहुत कष्ट देता था। ये लोग समाज से और घर-बार से मुंह मोड़ कर सत्य की खोज के लिये जगलों मे भटकते फिरते थे। भगवान् महावीर के पहले और उनके समय में ऐसे बहुत से परिव्राजक, सन्यासी और साधु एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते थे। समाज की प्रचलित संस्थाओ से इनका कोई सम्बन्ध न था। बल्कि वे लोग तत्कालीन प्रचलित धर्म और प्रणाली का डंके की चोट विरोध करते थे। सब-साधारण के हृदयो मे वे प्रचलित धर्म के प्रति अविश्वास का बीज आरोपित करते जाते थे। इन सन्यासियों ने समाज के अन्दर बहुत सा उत्तम विचारों का क्षेत्र तैयार कर दिया था।

इसके अतिरिक्त भगवान् महावीर के पूर्व उपनिषदों का भी प्रादुर्भाव हो चुका था। इन उपनिषदों मे कर्म के ऊपर ज्ञान की प्रधानता दिखलाई गई थी, उनमें ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश और मोह से निवृत्ति बतलाई गई थी। इन उपनिषदों में पुनर्जन्म का अनुमान, जीव के सुख दुख का कारण परमात्मा की सत्ता, आत्मा और परमात्मा में सम्बन्ध आदि कई गम्भीर प्रश्नों पर विचार किया है। धीरे धीरे इन उपनिषदों का अनु-

शीलन करने वालों की संख्या बढ़ने लगी, इनके अध्ययन से लोगों ने और कई तत्त्वज्ञान निकाले। किसी ने इन उपनिषदों से अद्वैत-वाद का अविष्कार किया किसी ने विशिष्टाद्वैत का और किसी ने द्वैतवाद का। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि ऐसे लोगों की संख्या उस समय समाज में बहुत ही कम थी और समाज में इनकी प्रधानता भी न थी। मतलब यह है कि महावीर के पूर्व भारत में कई मत मतान्तर प्रचलित हो गये पर प्रधानतया उपरोक्त तीन प्रधान विचार प्रवाह भगवान् महावीर के पूर्व समाज में प्रचलित हो रहे थे। इनके अतिरिक्त टोने, टुटके भूत, चुड़ैल आदि बातों के भी छोटे छोटे मत मतान्तर जारी थे, पर लोगों का हृदय जिस प्रश्न का उत्तर चाहता था, जिस शंका का वह समाधान चाहता था, जिस दुख की निवृत्ति का वह मार्ग चाहता था यह उपरोक्त किसी भी मत से न मिलता था।

लोग इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए इच्छुक थे कि संसार में प्रचलित इस दुख का और अशान्ति का प्रधान कारण क्या है।

याज्ञिक कहते थे कि देवताओं का कोप ही संसार की अशान्ति का प्रधान कारण है। इस अशान्ति को मिटाने के लिए उन्होंने देवताओं को प्रसन्न करना आवश्यक बतलाया और इसके लिए पशु-यज्ञ की योजना की। हठयोगवादियों ने इस दुख का मुख्य कारण तपस्या का अभाव बतलाया। उन्होंने कहा कि तपस्या के द्वारा मनुष्य अपने शरीर और इन्द्रियों पर अधि-कार कर सकता है और इन पर अधिकार होते ही अशान्ति

और दुख से छुटकारा मिल जाता है। ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने वालों ने कहा कि—अशान्ति का मूल कारण अज्ञान है। ज्ञान के द्वार अज्ञान का नाश कर देने से मनुष्य सच्ची शान्ति प्राप्त कर सकता है।

पर इन सब समाधानों से जनता के मन को तृप्ति न होती थी। जिस भयङ्कर उहापोह के अन्दर समाज पड़ रहा था, उसका निराकरण करने में ये शुष्क उत्तर बिल्कुल असमर्थ थे। समाज को उस समय सहानुभूति, प्रेम और दया की सब से अधिक आवश्यकता थी। कृतघ्नता मोह और अत्याचार की भयङ्कर अग्नि उसको वेतरह दग्ध कर रही थी। ऐसी भयङ्कर परस्थिति में वह ऐसे महात्माओं की प्रतीक्षा कर रहा था जो सारे समाज के अन्दर शान्ति प्रेम और सहानुभूति का सुन्दर झरना वहा दे। ठीक ऐसे भयङ्कर समय में देश के सौभाग्य से भगवान-महावीर और भगवान् बुद्ध देव यहाँ पर अवतीर्ण हुए। परिस्थिति के पूर्ण अध्ययन के पश्चात् उन्होंने भारतवर्ष को और सारे संसार को दिव्य सदेशा दिया। उन्होंने बतलाया कि यज्ञों से और मन्त्रों से कभी शान्ति नहीं मिल सकती, इसी-प्रकार हठ योग आदि (कुतपस्याएँ) भी व्यर्थ हैं। उन्होंने बतलाया कि यज्ञ, कर्म्म काण्ड और कुतपस्याओं की अपेक्षा शुद्ध अन्तःकरण का होना बहुत आवश्यक है। उन्होंने साधारण जनता को अहिंसा सत्य, आचार, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण आदि पाँच व्रतों का उपदेश दिया। उनकी निगाह में ब्राह्मण और शूद्र उच्च और नीच, अमीर और गरीब सब बराबर थे, उनका निर्वाण मार्ग सब के लिए खुला था।

मतलब यह कि ऐसी भयङ्कर परिस्थिति के अन्दर अवतीर्ण होकर इस दोनों महात्माओं ने तत्कालीन तड़पते हुए समाज के अन्दर नव जीवन का संचार किया। अशान्ति की त्राहि त्राहि को मिटा कर उन्होंने समाज में शान्ति की धारा बहा दी। इनके दिव्य उपदेश से अकर्मण्य और आलसी कर्मयोगी हो गये। अत्याचारी पूर्ण दयालु हो गये। और सारा विश्रृंखला युक्त समाज सुश्रृंखला बद्ध हो गया। इन महात्माओ ने ऐहिक और और पारलौकिक दोनों दृष्टियो से विश्व का कल्याण किया।

दूसरा अध्याय

बौद्ध-धर्म का उदय

जिस समय महावीर सन्यासावस्था को ग्रहण करके संसार को विश्वप्रेम का सन्देश दे रहे थे। जिस समय सारे भारतीय समाज के अन्दर जैन धर्म रूपी क्रान्ति प्रसारित हो रही थी। ठीक उसी समय इसी भारत भूमिपर एक और महान् पुरुष अवतीर्ण हो रहे थे। मालूम होता है कि उस समय समाज की इतनी अधिक दुरावस्था हो रही थी कि भगवती प्रकृति को केवल एक ही दिव्यात्मा उत्पन्न करके सन्तोष नहीं हुआ। समाज की उस जटिल अवस्था को सुलझाने के लिये उसे एक और महापुरुष को उत्पन्न करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसीलिए शायद उसने भगवान् महावीर के पश्चात ही भगवान् बुद्ध को उत्पन्न किया।

मगधदेश के जिस शाक्य प्रजातन्त्र का वर्णन हम पहले कर आये हैं। उस समय उसके सभापति राजा शुद्धोधन थे। इनकी राजधानी कपिल वस्तु मे थी। भगवान् बुद्धदेव का जन्म इन्हीं शुद्धोधन की रानी महामाया के गर्भ से हुआ था। बचपन से ही इनका मन सांसारिक वस्तुओं की ओर आकृष्ट न होता था। राजा शुद्धोधन ने इनको संसार में आसक्त करने के लिए

कई उपाय किये, प्रमोद भवन बनाये। सुन्दरी यशोधरा से विवाह किया। पर कुमार सिद्धार्थ का हृदय किसी भी वस्तु पर अधिक समय के लिए आसक्त न हुआ। समाज का करुण क्रन्दन उनके हृदय पर दारुण चोट पहुँचा रहा था। मनुष्य जाति के दुःख से उनका हृदय दिनरात रोया करता था। वैराग्य की अग्नि उनके हृदय में दिन पर दिन अधिकाधिक प्रज्वलित होती जा रही थी। अन्त मे एक दिन अवसर पाकर रात के समय अपने पिता, माता (गौतमी) पत्नी, पुत्र आदि सब परिजनों को सोता हुआ छोड कर बुद्धदेव घर से निकल पड़े। वे सन्यासी हुए। उन्होंने बहुत शीघ्र समाज के अत्याचारों के विरुद्ध जोर की आवाज उठाई। महावीर की आवाज ने समाज को पहले ही सजग कर दिया था। बुद्ध की आवाज ने उसका रहा सहा भ्रम भी मिटा दिया, फिर क्या था? सारे समाज के अन्दर एक नव जीवन का संचार हो आया। मोह का पर्दा फट गया, मनुष्यत्व का विकास हुआ। जो लोग महावीर के झण्डे के नीचे जाने से हिचकते थे। वे भी खुशी के साथ बुद्ध के झण्डे के नीचे एकत्र होने लगे। इसका कारण यह था कि जैन-धर्म एक तो बिल्कुल नवीन न था, वह पहले ही से चला आ रहा था, और मनुष्य प्रकृति कुछ ऐसी है कि वह नवीनता को जितना अधिक पसन्द करती है। उतनी प्राचीनता को नहीं। दूसरा कारण यह था कि भगवान महावीर ने श्रावक के नियम कुछ ऐसे कठिन रख दिये थे, कि सर्व साधारण सुगमता के साथ उनका पालन नहीं कर सकते थे। इधर बुद्ध-धर्म पूर्ण उदारता के साथ सर्व साधारण को अपने झण्डे

के नीचे आने का निमन्त्रण दे रहा था। उसके नियम इतने सरल थे, कि, सर्व साधारण सुगमता के साथ उनका पालन कर सकते थे। इसके अतिरिक्त और भी कुछ ऐसे कारण थे कि जिनके कारण कुछ समय के लिये बुद्ध-धर्म को फैलने का खूब ही अवसर मिला। यद्यपि उस समय बौद्ध-धर्म जैन-धर्म की अपेक्षा बहुत अधिक फैल गया, तथापि उसकी नीव मे कुछ ऐसी कमजोरी रह गई थी कि, जिसके कारण वह भारत में स्थायी रूप से न चल सका। और जैन-धर्म की नीव इतनी दृढ़ रक्खी गई थी कि, उस समय बहुत अधिक न फैलने पर भी वह आज तक भारतवर्ष में प्रचलित है।

दूसरे शब्दों में हम यो कह सकते हैं कि बौद्ध-धर्म समाज मे उस आकस्मिक तूफान की तरह था जो एक दम प्रस्फोटिक होकर बहुत शीघ्र बन्द हो जाता है, पर जैन-धर्म उस शान्त नदी की तरह था जो धीरे धीरे बहती है और बहुत समय तक स्थायी रहती है।

मतलब यह कि बौद्ध-धर्म ने उदय होकर तत्कालीन समाज पर एक अभूत पूर्व प्रभाव डाला। केवल साधारण जनता ने ही नहीं प्रत्युत बड़े बड़े सम्भ्रान्त व्यक्तियों ने, रईसों ने, जागीरदारों ने और यहाँ तक कि बड़े बड़े राजाओं ने भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया। और यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जैन-धर्म की अपेक्षा बौद्ध-धर्म ने तत्कालीन समाज पर बहुत अधिक प्रभाव डाला।

आजीविक सम्प्रदाय

ईसा के पूर्व छठवीं शताब्दी में अर्थात् भगवान् महावीर के समय में भारतवर्ष के अन्तर्गत और भी कई, छोटे बड़े सम्प्रदाय प्रचलित थे। इतिहास के अन्तर्गत इन मतों में तीन मतों का अधिक उल्लेख पाया जाता है। बौद्ध, जैन और आजीविक। बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध का परिचय हम पाठकों को पहले दे चुके हैं। इस स्थान पर आजीविक सम्प्रदाय से हम उनका थोडा परिचय करवा देना चाहते हैं।

जिन लोगों ने पुराणों में भगवान महावीर के जीवन का पठन किया है। वे मश्करी पुत्र गौशाल के नाम से अपरिचित न होंगे। यही गौशाल आजीजिक सम्प्रदाय के मुख्य प्रवर्तक। जैन पुराणों में आजीविक सम्प्रदाय के प्रवर्तक "गौशाल को "मश्करीपुत्र" अर्थात् विदूपक कह कर उनकी खूब क उड़ाई है। इनकी जीवनी का कुछ विस्तृत विवेचन हम पौराणिक खण्ड मे करेंगे। यहाँ पर सिल सिला जमाने के निमित्त कुछ सच्चिप्त विवेचन करेंगे।

अपने चरण कमलों से पृथ्वी को पवित्र करते हुए एक बार "भगवान महावीर" राजगृही नगरी मे पहुँचे। इस स्थान पर उन्हे "गौशाला" नामक एक व्यक्ति शिष्य होने की इच्छा से मिला। महावीर उस समय किसी को भी शिष्य को तरह ग्रहण न करते थे। क्योकि उस समय तक उनको कैवल्य की प्राप्ति नही हुई थी भगवान् महावीर यह जानते थे कि जब तक मनुष्य अपने आपका पूर्ण कल्याण नही कर लेता तब तक वह अपनी सामर्थ्य से दूसरे का दारिद्रय हरण करने में असमर्थ होता है। और इसी कारण जब गौशाला ने उनसे शिष्य बना लेने की याचना की तो उन्होंने मौन ग्रहण कर लिया, तो भी गौशाला ने प्रभु का साथ न छोड़ा, उसने महावीर में गुरु बुद्धि की स्थापना कर भिक्षा के द्वारा अपना गुजर करना प्रारंभ किया। सत्य को प्राप्त करने की उसमें कुछ अभिलाषा थी, आत्मशक्ति का विकास करने के निमित्त योग्य पुरुषार्थ करने को वह प्रस्तुत था, पर दुर्भाग्य से उस समय भगवान महावीर उपदेश के कार्य से बिलकुल विमुख थे। उस समय आत्मचिन्तन और कर्मनिर्जरा के सिवाय उनका दूसरा कार्य न था, ऐसे अवसर में गौशाला ने महाबीर के सम्बन्ध में अपनी मनोकल्पना से जो बोध ग्रहण किया वह बिल्कुल एक तर्फा और अनिष्ट कर साबित हुआ, वह कई बार भगवान को किसी भावी घटना के विषय में पूछता, महावीर अवधिज्ञान के बलसे "वही उत्तर देते जो भविष्य में होने वाला होता था। उनका कथन बिल्कुल "बावन तोला, पाव रत्ती," उतरते देख कर गौशाला ने यह सिद्धान्त निश्चय कर लिया कि भविष्य में जो कुछ होने वाला है, वही होता है।

मनुष्य के प्रयत्न से इसमें कभी कोई फेरफार नहीं हो सकता। गौशाला का यही सिद्धान्त इतिहास में "नियतिवाद" के नाम से प्रसिद्ध है। यह सिद्धान्त उसके मस्तिष्क में इतनी दृढ़ता के साथ ठस गया था कि उसके जीवन में फिर परिवर्तन न हो सका। और इसी सिद्धान्त के कारण आगे जाकर वह जैन धर्म से भी विमुख होकर अपने सिद्धान्तों का स्वतन्त्रता से प्रचार करने लगा।

इसी मत के कारण हमारे जैन ग्रंथकारों ने गौशाला को अत्यन्त मूर्ख, बुद्धिहीन, और विदूषक के रूपमें बतलाने का प्रयत्न किया है। हमारे ख्याल से जिस समय में यह पुराण लिखे गये हैं उस समय के लोगों की प्रवृति कुछ ऐसी बिगड़ गई थी कि. वे अपने धर्म के सिवाय दूसरे धर्म के संस्थापकों की भर पेट निन्दा करने में ही अपना गौरव समझते थे, उनकी दृष्टि इतनी संकुचित हो गई थी कि वे अपने महापुरुष के अतिरिक्त किसी दूसरे को भला मानने को तैयार ही न थे और इसी संकुचित दृष्टि के परिणाम स्वरूप हमारे ग्रन्थों में प्रायः सभी अन्य मत संस्थापकों की निन्दा देखते हैं, केवल जैनशास्त्रकार ही नहीं प्रायः उस समय के सभी शास्त्रकार इस संकुचित दृष्टि से नहीं बचे थे। तमाम धर्मों के शास्त्रकारों की मनोवृत्तियां कुछ ऐसी ही संकुचित हो रही थीं।

हमारे ख्याल से जैन शास्त्रों में "गौशाला" को जितना मूर्ख कम अक्ल और उन्मत्त चित्रित किया गया है, वास्तव में वह उतना नहीं था, श्री मद हेमचन्द्राचार्य्य ने गौशाला की जिन जिन भद्दी चेष्टाओं का वर्णन किया है, उसको पढ़कर तो प्रत्येक

पाठक यही अनुमान बांधेगा कि, वह किसी पागल खाने से छूट कर आया होगा। परन्तु प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य की सामान्य बुद्धि भी यह बात स्वीकार न करेगी कि, जिस गौशाला के अनुयायियों की संख्या स्वयं हमारे शास्त्रकार महावीर के अनुयायियों की संख्या से भी अधिक बतला रहे हैं। जिस गौशाला की सङ्गठन-शक्ति की प्रशंसा कई ग्रन्थों मे की गई है उस गौशाला को इतना बुद्धिहीन और विदूषक कोई बुद्धिमान स्वीकार नहीं कर सकता।

जैन साहित्य के ही समकालीन बौद्ध साहित्य में भी कई स्थानों पर "गौशाला" का नाम आया है। या उस साहित्य में गौशाला को इतना मूर्ख और नष्ट ज्ञान नहीं बतलाया है। उसके द्वारा प्रचलित किया हुआ आजीविक सम्प्रदाय आज दुनियां के पर्दे से उठ गया है। और उसके धर्म शास्त्र और सिद्धान्त भी प्रायः गुम हो गये हैं। इसलिये आज उसके विषय में कोई अधिक नही कह सकता, पर यह निश्चय है कि बुद्ध और महावीर के काल मे और उसके पश्चात अशोक के काल में यह मत एक बलवान और प्रभावशाली मत समझा जाता था, प्रोफेसर कर्न का कथन है कि खुद सम्राट अशोक ने आजीविक मत के सम्बन्ध में शिला लेख खुदवाये थे।

बुद्ध और महावीर की तरह आजीविक मत का मुख्य सिद्धान्त भी अहिंसा ही है, इस विषय मे मनोरंजन घोष नामक एक विद्वान् लिखते हैं कि:—

The history of the Ajivkas reveals the curious fact that sacredness of animal life was not the pecaliar tenet of Buddhism alone but the religion of Sakyamuni shared it with the Ajivkas and the Nigrantas. They

had some tenets in common but differed in details . ... They were naked, monks practising severe penances We find the Ajivkas an influential sect in existence even in the life time of Buddha. Mokkali Gosala was the teacher of the Ajivkas with whom Gautam Buddha had a religious controversy.

अर्थात् "आजीविकों के इतिहास में हमें एक जानने योग्य तत्त्व यह मिलता है कि जीव दया यह केवल बौद्धों का ही सिद्धान्त न था प्रत्युत आजीविकों और निर्ग्रन्थों का भी यही सिद्धान्त था। इनके अधिकांश नियम प्राय. सभी समान है। केवल वृत्तान्त और आध्यायन मात्र में अन्तर है—आजीविक शरीर से नग्न रहते थे, और बहुत कठिन तपस्या करते थे, बुद्ध के समय मे भी आजीविकों का सम्प्रदाय एक प्रभाव युक्त-सम्प्रदाय गिना जाता था, मखलीपुत्र गोशाला उनका नेता था, एक बार उसके साथ धार्मिक शास्त्रार्थ करने के निमित्त गौतम बुद्ध को भी उतरना पड़ा था।"

Ancient Civilization नामक ग्रन्थ मे एक स्थान पर उसका विद्वान् लेखक लिखता है कि:—

Among the other sects of ascetics which flourished side by side with the Buddhist and Nigranthas (Jains) in the sixth century B C the Ajivkas founded by Gosala were the best known in their day. Asoka named them in their inscriptions a long with Brahmins and Nigranthas Gosala was there for a rival of Buddha aad Mahabir. but this seed has now ceased to exist.

अर्थात् ईस्वी सन् के छ:सौ वर्ष पूर्व बौद्धों और जैनियो के साथ साथ त्याग धर्म वाले जो दूसरे मत प्रचलित हुए थे, उन

में गोशाला के द्वारा स्थापित किया हुआ आजीविक सम्प्रदाय सब से अधिक लोक परिचित था, सम्राट अशोक ने अपने शिलालेखो में ब्राह्मणो और जैनियों के साथ इस सम्प्रदाय का भी विवेचन किया है। इससे मालूम होता है कि, गोशाला बुद्ध और महावीर का प्रति स्पर्धी था लेकिन अब उसका चलाया हुआ धर्म लोप हो गया है।

हाल के नवीन अन्वेषणो से इतना स्पष्ट मालूम होता है कि गोशाला एक समर्थ मत प्रवर्तक था, किसी कारणवश महावीर के साथ उसका मत भेद हो गया था, और उस मत भेद के कारण भविष्य मे जाकर वह उनका विरोधी हो गया था। इस विरोध की छाप उस समय जैन धर्मानुयायियो के हृदय पर बैठ गई होगी, और भविष्य मे वह घटने के वदले प्रति दिन वढ़ती गई होगी, एवं जिस समय जैन सिद्धान्त और कथाएं लेख बद्ध हुई, उस समय जैनी लोग उसको इस रूप में मानने लग गये होंगे और इसी कारण उन के ग्रन्थों मे भी उनकी मान्यता के अनुसार उसका वैसा ही विकृत रूप लेखों में चित्रित कर दिया होगा। क्योंकि हम देखते हैं कि बौद्ध ग्रन्थों में उसका रूप इतना विकृत नहीं दिखाई पड़ता है। इससे मालूम होता है कि गोशाला वास्तव में वैसा नहीं था जैसा जैन लेखकों ने उसे चित्रित किया है, सम्भव है हमारो दृष्टि से उसका तत्व-ज्ञान कुछ भ्रम पूर्ण हो पर यह अवश्य स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह एक तत्वज्ञानी था।

चौथा अध्याय

उस समय के दूसरे सम्प्रदाय

बौद्ध और आजीविक सम्प्रदाय का वर्णन तो हम कर चुके, अब यहां पर उन शेष छोटे छोटे मतों का विवेचन करना चाहते हैं जो भगवान महावीर के समय में इस देश के अंतर्गत प्रचलित थे। जैन शास्त्रों में इन मतों का विरोध किया गया है।

सूत्र कृतांग २,१,१५ और २१ में दो जड़वादी मतोका उल्लेख किया गया है। पहले सूत्र में आत्मा को एक और अभिन्न बतानें वाले एक मत का वर्णन है। और दूसरे सूत्र मे "पचभूत" को ही नित्य और सृष्टि का मूल-तत्व मानने वाले एक दूसरे मत का वर्णन है। सूत्र कृतांग मे जाहिर होता है कि ये दोनों ही मत जीवित प्राणी को हिंसा मे पाप नहीं समझते थे।

बौद्धों के "सामञ्ज फल सूत्र" मे "पूरणकस्सप" और "अजितकेश कम्बलि" के मतों का उल्लेख किया गया है। इन दोनों मतो के तत्वों में और सूत्र कृतांग में वर्णन किये हुए उप-

रोक्त दोनों मतों में वहुत समानता पाई जाती है। "पूरण कस्सप" पुण्य और पाप को कोई वस्तु नहीं मानता था और "अजित केश कम्बलि" का यह सिद्धान्त था कि लोक के अंतर्गत अनु-भवातीत जो काल्पनिक मत प्रचलित है, उनको कोई तात्विक आधार नहीं है। इसके अतिरिक्त वह यह मानता था कि मनुष्य चार तत्वों का बना हुआ है, जव वह मर जाता है, तब पृथ्वी, पृथ्वी मे, जल जल में, अग्नि अग्नि में, और ज्ञानेन्द्रियां हवा में मिल जाती हैं। शव को उठाने वाले चार पुरुप मुर्दे को उठा कर स्मशान में ले जाते हैं और वहां उसका कल्पान्त कर डालते हैं। कपोत रग की हड्डियां शेप रह जाती हैं और वाकी सब पदार्थ जल कर भस्म हो जाते हैं। इसी बात को सूत्र कृतांग में कुछ हेर फेर के साथ इस प्रकार लिखी है। "दूसरे लोग मुर्दे को जलाने के निमित्त वाहर ले जाते हैं। जव अग्नि उसको जला डालती है। तव केवल कपोत रङ्ग की ही हड्डियां शेष रह जाती है और चारों उठानेवाले हड्डियों को लेकर ग्राम की ओर मुड़ जाते हैं।"

इन मतों के अतिरिक्त एक "अज्ञेयवाद" नामक मत भी प्रचलित था, इसका प्रवर्तक "सञ्जयवेलट्ठिपुत्त" था। "सामञ्ञ-फल सुत्त" नामक बौद्ध ग्रन्थ में उसका विवेचन इस प्रकार किया गया है। महाराज! यदि-तुम मुझसे यह प्रश्न करोगे कि जीव की कोई भावी अवस्था है? तो मैं यही उत्तर दूंगा कि, जब में उस अवस्था का अनुभव कर सकूंगा तभी उसके विषय में कुछ कह सकूंगा। यदि तुम मुझसे पूछोगे कि "क्या वह अवस्था इस प्रकार की है तो मैं यही कहूँगा कि "यह मेरा विषय

नहीं है" यदि तुम पूछोगे कि "क्या वह अवस्था उस प्रकार की है। तो भी यही कहूँगा कि "यह मेरा विषय नहीं"। क्या वह इन दोनों से भिन्न है ? तब भी यही कहूँगा कि यह मेरा विषय नहीं। इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् तथागत की स्थिति रहती है, या नही ? रहती है? यह भी नही ! नही रहती है ? यह भी नही। इस प्रकार के तमाम प्रश्नो का वह यही उत्तर देता है, इससे जान पड़ता है कि, अज्ञेयवादी किसी भी वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के सम्बन्ध मे सब प्रकार की निरूपण पद्धतियों की जांच करते थे। इस जांच पर से भी जो वस्तु उन्हें अनुभवातीत मालूम होती है तो वे उसके विषय मे कहे गये सब मतों के कथन को अस्वीकृत करते थे।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी का मत है कि सञ्जय के इसी "अज्ञेयवाद" के विरुद्ध महावीर ने अपने प्रसिद्ध "सप्तभङ्गीन्याय" को सृष्टि की थी। अज्ञेयवाद बतलाता है कि, जो वस्तु हमारे अनुभव से अतीत है, उसके विपय मे उसके अस्तित्व (यह है) नास्तित्व (यह नहीं है) युगपत् अस्तित्व (है और नहीं है) और युगपत् नास्तित्व (नहीं है और है) का विधान और निषेध नही किया जा सकता। उसी प्रकार-पर उससे बिल्कुल विपरीत दिशा में दौड़ता हुआ "स्याद्वाद दर्शन" यह प्रतिपादित करता है कि, एक दृष्टि से (अपेक्षा से) कोई पुरुष वस्तु के अस्तित्व का विधान (स्यादस्ति) कर सकता है और दूसरी दृष्टि से वह उसका निषेध भी कर सकता है, और उसी प्रकार भिन्न भिन्न काल में वह वस्तु के अस्तित्व तथा नास्तित्व का विधान भी (स्यादस्ति-

नास्ति) कर सकता है, पर एक ही काल और एक ही दृष्टि से कोई मनुष्य वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के विधान करने की इच्छा रखता हो तो उसे "स्याद्-अवक्तव्य." कहना पड़ेगा, सञ्जय के "अज्ञेयवाद" और जैनियों के स्याद्वाद में सब से बड़ा और महत्व का अन्तर यही है कि जहाँ सञ्जय किसी भी वस्तु का निर्णय करने में सन्देहाश्रित रहता है, वहाँ स्याद्वाद बिल्कुल निश्चयात्मक ढङ्ग से वस्तुतत्व का प्रतिपादन करता है।

जेकोबी महाशय का कथन है कि, ऐसा जान पड़ता है उस समय में अज्ञेयवादियों के सूक्ष्म विवेचन ने बहु-संख्यक आदमियों को भ्रम में डाल रक्खा था, इस भ्रम-जाल से इन सबों को मुक्त करने के निमित्त ही जैन-धर्म में स्याद्वाद के क्षेम-मार्ग की योजना की गई थी। इस अद्भुत तत्व ज्ञान के सामने आकर सञ्जयवादी खुद अपने ही प्रति पक्षी हो जाते थे। इस दर्शन के प्रताप ही के अज्ञायवादियों के मत का पूर्ण खण्डन करने की सामर्थ्य लोगों में आगई। नहीं कहा जा सकता कि, इस शास्त्र के प्रताप से कितने ही अज्ञानवादियों ने जैन-धर्म की शरण ली होगी।

जेकोबी महाशय के इस अनुमान में सत्य का कितना अंश है इसके विषय में कुछ भी निश्चय नहीं कहा जा सकता।

पाँचवाँ अध्याय

क्या जैन और बुद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध क्रान्ति रूप उदय हुए थेः—

हम पहिले इन दोनों धर्मों को क्रान्ति सज्ञा से सम्बोधित करते आये हैं। सम्भव है कि कुछ लोगो को इसमें कुछ एतराज हो। क्योंकि क्रान्ति शब्द का साधारण अर्थ आज कल राजनैतिक बलवे मे लिया जाता है। इसमें कुछ लोग सहज ही कह सकते हैं कि जैन और बौद्ध धर्म कोई राजनैतिक बलवे तो थे नहीं कि, जिसके कारण उन्हें 'क्रान्ति'' कहा जाय,इसके उत्तर-स्वरूप हम यही कह देना उचित समझते हैं कि केवल राजनैतिक बलवे को ही क्रान्ति नहीं कहते। समाज की विशृंखला और दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिए जो आन्दोलन होते हैं, उन्हींको क्रान्ति कहते हैं। फिर चाहे वे आन्दोलन राजनैतिक रूप से हों चाहे सामाजिक रूप से हो चाहे धार्मिक रूप से। समय की आवश्यकता को देखकर तत्कालीन महापुरुष कभी राजनैतिक रूप से उस क्रान्ति का उद्गम करते हैं कभी सामाजिक रूपमें और कभी धार्मिक रूप से।।महात्मा गांधी की क्रान्ति राजनैतिकता और धार्मिकता का मिश्रण है। स्वामी

दयानन्द की क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति थी और महावीर, बुद्ध और ईसा की धार्मिक क्रान्तियां थीं।

महावीर और बुद्ध ने तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक अवस्था के प्रति आन्दोलन उठाया था। उन्होंने यज्ञादिक कर्म-काण्ड के खिलाफ, हठयोगादि कुतपस्याओं के विरुद्ध और शूद्रों के प्रति जुल्मों के विरुद्ध अपनी आवाज उठा कर समाज में तहलका मचा दिया था। अतएव जैन और बुद्ध धर्म को तत्कालीन धर्म के विरुद्ध क्रान्ति कहे तो अनुपयुक्त न होगा। जैन और बौद्ध धर्म वास्तव में तत्कालीन वैदिक धर्म के विरुद्ध उत्पन्न हुई प्रबल क्रान्तियां थीं। जिनके नेता भगवान महावीर और बुद्ध थे।

छठवां अध्याय

जैन और बौद्ध-धर्म में संघर्ष

यद्यपि "भगवान महावीर" और "भगवान बुद्ध" दोनों ने एक साथ ही इस कर्म भूमि पर अवतीर्ण होकर एक साथ ही कार्य्य किया था। एवं जैन और बौद्ध-धर्म का प्रकाश भी एक ही साथ समाज में फैला हुआ था। और एक ही उद्देश्य को लेकर दोनों धर्म्मों का विकाश हुआ था तथापि आगे जाकर दैव दुर्वियोग से इन दोनों धर्मों में पारस्परिक वैमनस्य फैल गया था। एक ही उद्देश्य से उत्पन्न हुए दोनों बंधु परस्पर में ही लड़ने लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि, समाज में इन दोनों धर्मों के प्रति फिर से हीनता के भाव दृष्टि गोचर होने लगे और मृतप्राय: वैदिक धर्म्म पुनर्जीवित होने लगा।

प्रकृति का यह नियम केवल जैन और बौद्ध-धर्म के ही लिए पैदा नहीं हुआ था। सभी धर्मों में यह सनातन नियम चलता रहता है। जहाँ तक समाज जागृतावस्था में रहता है वहाँ तक किसी नए नियम की विजय नहीं हो सकती। पर ज्योंही समाज कुछ सुप्तावस्था में होने लगता है त्योंही यह नियम जोर शोर से अपना कार्य करने लगता है। इसका उदाहरण जगत का प्राचीन इतिहास है।

वैदिक धर्म को ही लीजिए पहले कितनी दृढ़ नींव पर इसकी इमारत खड़ी की गई थी, इस धर्म के द्वारा संसार को कितना दिव्य सन्देश मिला था, पर आगे जाकर ज्योंही समाज के तत्वो मे अन्तर आने लगा। त्योंही इसमें कितने फिरके हो गये और वे आपस में किस प्रकार रक्त बहाने लगे। मुसलमान धर्म को लीजिए शिया और सुन्नी के नाम पर क्या उसमें कम खून खराबा हुआ है। ईसाई धर्म में क्या रोमन कैथालिक और प्रोटेस्टेण्ट के नाम पर कम अत्याचार हुए हैं, मतलब यह कि प्रकृति का यह नियम सब स्थानो पर समान रूप से काम करता रहता है। अब एक ही धर्म के अन्दर इस तरह फिरके उत्पन्न हो कर आपस मे लड़ते हैं। तब जैन और बौद्ध-धर्म तो अलग अलग धर्म थे इनमे यदि संघर्ष पैदा हो तो क्या आश्चर्य्य।

मतलब यह कि आगे जाकर जैन और बौद्ध धर्म मे खूब ही जोर का सघर्ष चला। जैन ग्रन्थो मे बौद्धों की और बौद्ध ग्रन्थ मे जैनियों की दिल खोल कर निन्दा की गई। उसके कुछ उदाहरण लीजिए।—

दिगम्बर सम्प्रदाय मे "दर्शनसार" नामक एक ग्रन्थ है। इसके लेखक देवानन्द नाम के कोई आचार्य्य हैं। यह ग्रन्थ सन् ९९० ईस्वी में उज्जैन के अन्दर लिखा गया है। इस ग्रन्थ मे लेखक ने बुद्ध धर्म की उत्पत्ति का बड़ा ही मनोरंजक या यो कहिये कि हास्यास्पद उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में लिखा है कि, "भगवान पार्श्वनाथ" "और भगवान महावीर" के समय के दर्मियान पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य पिहिताश्रम नामक मुनि का "बुद्ध

कीर्ति" नामक शिष्य पलाश नगर के पास सरयू नदी के किनारे पर तप कर रहा था। "वुद्ध कीर्ति" ने एक वार आहार लेने की इच्छा से आस पास दृष्टि डाली, इतने ही में उसे नदी किनारे एक मरा हुआ मत्स्य नजर आया। उसको देख कर उसने कुछ समय तक विचार किया और अन्त में यह निश्चय किया कि, मरी हुई मछली को खाने में कुछ भी पाप नहीं, क्योंकि इसमें जीव नहीं है, और जहां जीव नहीं वहां हिंसा नहीं। ऐसा विचार कर उसने पार्श्वनाथ का पंथ छोड़ दिया और "वुद्ध-धर्म" नाम का अपना एक नया ही धर्म शुरु किया। महावीर-स्वामी के तीर्थंकर होने से पूर्व ही उसने उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया था।"

इस दन्त कथा की आलोचना करना हम व्यर्थ समझते हैं। क्योंकि कोई भी निष्पक्ष पात फिर चाहे व जैन ही क्यों न हो इस कथा पर हंसे विना न रहेगा।

इसके अतिरिक्त जैनियों के और भी कई ग्रन्थो में बौद्धों की निन्दा में पृष्ठ के पृष्ठ रंगे हुए हैं। श्रेणिकचरित्र, अकलंक-चरित्र आदि ग्रन्थों के लिखने का तो शायद मूल उद्देश्य ही बौद्धों की निन्दा करना था।

इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में भी जैन-धर्म्म की भर पेट निन्दा की गई है। स्थान स्थान पर "निग्रन्थ" को धर्म-द्रोही के नाम से सम्बोधित किया गया है "मज्झिमनिकाय" नामक बौद्धों का एक ग्रन्थ है, उसमें लिखा है कि, ज्ञातीपुत्र (महावीर) ने अपने "अभय कुमार" नामक एक शिष्य को बुद्धदेव के पास शास्त्रार्थ करने के लिए भेजा पर वह ऐसा परास्त हुआ कि वापस अपने

गुरु के पास गया ही नहीं, उसी समय उसने बुद्धधर्म अङ्गि-कार कर लिया। "महापगा" नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि, लिच्छिक जाति के ज्ञानीपुत्र के एक शिष्य ने बुद्धसे मुलाकात की थी और उसने तत्काल ही अपना मत बदल दिया। इस प्रकार और भी कई ग्रन्थों में जैनियों की खूब निन्दा की गई है।

आगे जाकर इन निन्दा के भावों ने विद्रोह का रूप धारण कर लिया और यह भी कहा जाता है कि, बौद्धधर्म के कुछ राजाओ ने जैन लोगो की कत्ल तक करवा दी। पर इस बात में सत्य का कितना अंश है यह नही कहा जा सकता।
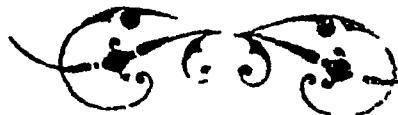
सातवाँ अध्याय

क्या महावीर जैनधर्म के मूल संस्थापक थे ?

अभी वहुत समय नहीं हुआ है, केवल वीस पचीस वर्षों की वात है जैनेतर विद्वानोंका प्राय. यह विश्वास था कि जैनधर्म बौद्धधर्म की ही एक शाखा है, और महावीर भी बुद्ध के एकशिष्य थे। इस मत के प्रचारकों में खासकर लेसन, वेवर और विल्सन का नाम लिया जा सकता है। यद्यपि इन-लोगों का यह भ्रम अब दूर हो गया है, और डाक्टर हार्नल और डाक्टर हर्मन जेकोवी नामक दो जर्मन विद्वानो के प्रयत्न मे अब सब लोग जैनधर्म को एक स्वतन्त्र धर्म स्वीकार करने लग-गये हैं, तथापि पाठकों के मनोरंजनार्थ इस स्थान पर उन लोगों के मत का उल्लेख करदेना आवश्यक है, जिसके कारण वे जैनधर्म को बौद्धधर्म की एक शाखा मानते थे।

विल्सन साहव का खयाल था कि, जैनधर्म वौद्धधर्म की ही एक शाखा है। यह शाखा ईसा की दशवीं शताब्दी मे बौद्धधर्म का विल्कुल नाश होने पर निकली है। ब्राह्मण जव यहा से बौद्धों को निकालने लग गये तो वचे हुए बौद्ध जाति भेद स्वीकार करके जैनी हो गये और निकाले जाने से वच गये। इसके अतिरिक्त उपरोक्त साहव का यह भी कथन है कि, बुद्ध और महावीर के

जीवन में ऐसा आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है कि, इनको अलग अलग व्यक्ति स्वीकार करने में बुद्धि प्रेरणा नहीं करती। मसलन, महावीर और बुद्ध दोनों की स्त्री का नाम "यशोदा" और दोनो ही के भाइयों का नाम "नन्दिवर्धन" था। इसके अतिरिक्त बुद्ध की कुमारावस्था का नाम "सिद्धार्थ" और महावीर के पिता का नाम भी सिद्धार्थ था। इन सब बातों से यह बात स्वीकार करने में बड़ा सन्देह होता है कि बुद्ध और महावीर अलग अलग व्यक्ति थे।

लेकिन विल्सन साहब की यह युक्ति प्रमाण नहीं मानी जा सकती। क्योंकि महावीर और बुद्ध के जीवन में जितनी बातों में साम्य पाया जाता है, उससे अधिक महत्वपूर्ण बातों मे वैषम्य भी पाया जाता है। जैसे बुद्ध का जन्म कपिलवस्तु में हुआ और महावीर का कुण्डग्राम में। बुद्ध की माता बुद्ध का जन्म होते ही कुछ समय के अन्तर्गत स्वर्गस्थ हो गई, जब की महावीर की माता उनके जन्म के २८ वर्ष तक जीवित रही, बुद्ध माता पिता और पत्नी की अनुमती के बिना सन्यासी हुए थे, पर महावीर माता, पिता के स्वर्गवास हुए के पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता की अनुमति से संन्यासी हुए थे। इसके अतिरिक्त सब से बडा प्रमाण यह है कि राजा बिम्बसार जिसे जैनी लोग श्रेणिक कहते हैं। बुद्ध के समकालीन थे। इनको बुद्ध महावीर दोनो ने उपदेश दिया था। और श्रेणिक पहले बुद्ध और फिर जैनी हुए थे। इन सब बातों का आधार देकर डाक्टर जेकोबी ने विल्सन का खण्डन करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि, बुद्ध और महावीर दोनो भिन्न भिन्न व्यक्ति थे, और समकालीन थे।

अब लेसन साहब का मत सुनिए उनका कथन है कि चार बड़ी बड़ी बातों में जैनधर्म और बौद्धधर्म बिल्कुल समान है।

१—दोनों सम्प्रदाय वाले अपने अपने आचार्यों (Prophets) को एक ही (अर्हत) संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। इसके अतिरिक्त "सर्वज्ञ" "सुगत" "तथ्यगत" "सिद्ध" "बुद्ध" "सुंबुंदह" आदि सब संज्ञाओं को दोनों धर्म वाले अपने अपने आचार्यों के लिए प्रयुक्त करते हैं।

२—दोनों सम्प्रदाय वाले अपने अपने निर्वाणस्थ-आचार्यों को देवताओं के समान पूजते हैं, उनकी मूर्तिया और मन्दिर बनाते हैं।

३—दोनों ही सम्प्रदायों का मुख्य सिद्धान्त "अहिंसा" है। और दोनों की काल प्रणाली में भी बहुत कुछ साम्य है।

४—जैन श्रमणों और बौद्ध श्रमणों के चरित्रों मे भी बहुत साम्य पाया जाता है दोनों ही चार महाव्रत के पालक होते हैं।

इन चारों दलीलों के आधार पर मि० लेसन यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि जैनमत भी बौद्धमत की ही एक शाखा है।

लेकिन लसन साहब के ये मत भी उतने ही भ्रम पूर्ण हैं जितने कि विल्सन साहब के। यह बात सत्य है कि "अर्हत" आदि शब्द बौद्ध और जैन दोनों धर्मों में मिलते हैं। पर "जिन" "श्रमण" आदि शब्द जो कि जैन शास्त्रों में मुख्यतय, प्रयुक्त किये जाते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में नहीं पाये जाते। इसके अतिरिक्त 'तथ्यगत' 'तीर्थंकर' शब्द को यद्यपि दोनो ही व्यवहृत करते हैं, पर भिन्न भिन्न रूप में। जैनधर्म के तीर्थंकर शब्द का प्रयोग

बहुत ऊँची श्रेणी के महात्माओं के लिये व्यवहृत होता है। पर बौद्धधर्म मे भ्रष्ट उपाश्रय के स्थापित करने वाले को 'तथागत' कहा है। इसका कारण यही मालूम होता है कि, द्वेषांध होकर ही पीछे से बौद्ध लोगो ने जैनधर्म मे इस शब्द को उडा कर इस रूप मे उसका प्रयोग किया। अब लेसन साहब की दूसरी युक्ति पर विचार कीजिए "अहिंसा" के लिये तो विचार करना ही व्यर्थ है। क्योंकि यह तो हिन्दुस्तान के प्राय. सभी धर्मों में पाई जाती है। रहा कालमापन का, इसके लिए हर्मन जेकोबी का मत सुनिये।

The Buddhas improved upon the Brahman system of yugas, while the jains invented their utassanpini and Avasarpini eras after the model of the day and night of Brahma

अर्थात् बुद्ध लोगो ने ब्राह्मणो के युगो की सिस्टम का अनुकरण करके चार बड़े बड़े कल्पो का आविष्कार किया, और जैनियो ने ब्रह्म के दिन और रात (अहोरात्र) की कल्पना पर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की कल्पना की।

इससे लेसन साहब की तीसरी युक्ति भी निरर्थक हो जाती है। क्योंकि, जेकोबी के कथानुसार दोनों ही मतो ने कालमापन की कल्पना ब्राह्मणधर्म के अनुसार की। इसी प्रकार लेसन साहब की चौथी युक्ति भी निमूंल हो जाती है। क्योंकि जिन चार महाव्रतों का उन्होंने जिक्र किया है, वे ब्राह्मण बौद्ध, और जैन तीनों धर्मों में समान पाये जाते हैं। पर समान होते हुए भी कोई बौद्धधर्म को ब्राह्मणधर्म की शाखा नहीं कह

सकता। इसी प्रकार इसी प्रमाण पर जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा मानना भी, हास्यास्पद ही होगा। इसके अतिरिक्त महावीर के समय में तो ये महाव्रत चार से पांच हो गये थे। सिवाय इसके जैनधर्म में तीर्थंकर २४ माने गये हैं। पर बुद्ध लोग २५ बुद्धों का होना मानते हैं।

इस प्रकार डाक्टर जेकोबी वगैरह विद्वानो के प्रयत्न से अब उपरोक्त विद्वानो की कल्पनाएं बिल्कुल नष्ट हो गयीं हैं और सिद्ध हो गया है कि, बुद्ध और महावीर दोनों अलग अलग व्यक्ति थे।

अब प्रश्न रह जाता है कि, क्या महावीर ने ही जैनधर्म नामक धर्म की पहले पहल कल्पना की थी, या यह धर्म उनके भी पहिले मौजूद था।

जैन शास्त्रों में तो जैनधर्म अनादि माना गया है। उनके अनुसार महावीर के पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके हैं। जिन्होंने समय समय पर इस पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर संसार के निर्वाण के लिए सत्य धर्म का प्रचार किया। इनमें से पहले तीर्थंकर का नाम ऋषभदेव था। ऋषभदेव के काल का निर्णय करना इतिहास की शक्ति के बाहर है। जैन ग्रन्थों के अनुसार वे करोड़ों वर्षों तक जीवित रहे। अतएव प्राचीन तीर्थंकरों के बारे मे जैन ग्रन्थों में लिखी हुई बातों पर एका-एक विश्वास नहीं किया जा सकता। कम से कम इतिहास तो इन घटनाओं को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। इस स्थान पर हम ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म की उत्पत्ति पर कुछ विवेचन करना चाहते हैं।

लोगों का विश्वास है कि भगवान् महावीर ही जैनधर्म के मूल संस्थापक थे। लेकिन यदि यह बात सत्य होती तो बौद्ध-ग्रन्थों के अन्दर अवश्य इस बात का वृतान्त मिलता, पर बौद्ध-ग्रन्थों में महावीर के लिए कहीं भी यह नहीं लिखा कि वे किसी धर्म विशेष संस्थापक थे। इसी प्रकार उनमें कहीं यह भी नहीं लिखा है कि, निग्रन्थधर्म कोई नया धर्म है। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्ध के पहले भी किसी न किसी अवस्था में जैनधर्म मौजूद था। यह बात अवश्य है कि, उनके पहिले यह बहुत विकृत अवस्था मे था। जिसका महावीर ने सशोधन किया।

इधर आज कल की खोजो से यह बात सिद्ध हो गयी है कि, पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे। डाक्टर जेकोबी आदि व्यक्तियो ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि पार्श्वनाथ ही जैनधर्म के मूल संस्थापक थे। ये महावीर निर्वाण के करीब २५० वर्ष पूर्व हुए अतएव उनका समय ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी में निश्चय होता है। पार्श्व की जीवन सम्बन्धी घटनाओं और उपदेशों के इतिहास का बहुत कम ज्ञान है।

भद्रबाहु स्वामी रचित कल्पसूत्र के एक अध्याय मे कई तीर्थंकरो की जीवनियां दी हुई हैं। उनमे पारर्श्वनाथ की जीवनी भी है। उससे मालूम होता है कि, महावीर से २५० वर्ष पूर्व श्रीपारर्श्वनाथ निर्वाण को गये। पारर्श्वनाथ काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामादेवी था। तीस वर्ष तक गार्हस्थ्य सुख का उपभोग कर ये मुनि हो गये। ८३ दिन तक ये छद्मावस्था मे रहे, और ८३ दिन कम सत्तर वर्ष तपस्या करके निर्वाणस्थ हुए। पार्श्वनाथ के समय में अणुव्रतो की संख्या

केवल चार थी। १-अहिंसा २-सत्य ३-आचार्य्य ४-परिगृह-परिमाण। पर समय की अवस्था को देख कर भगवान् महावीर ने इनमें "ब्रह्मचर्य्य" नामक एक व्रत की संख्या और बढ़ा दी। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ ने अपने शिष्यो को एक अधोवस्त्र पहनने की आज्ञा दी है पर महावीर ने अपने शिष्यों को बिल्कुल नग्न रहने की शिक्षा दी है। इससे सम्भवतः यह मालूम होता है कि, आज कल के श्वेताम्बर और दिगम्बर समाज क्रम से पार्श्वनाथ और महावीर के अनुयायी थे।

उपरोक्त विवेचन मे यह मतलब निकलता है कि भगवान् महावीर जैनधर्म के मूल संस्थापक न थे। प्रत्युत वे उसके एक संशोधक मात्र थे। अब प्रश्न यह है कि, क्या पार्श्वनाथ ही जैनधर्म के मूल संस्थापक थे? यद्यपि जैनशास्त्र और जैनसमाज वाले तो इस बात को भी स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि उनके मत मे तो पार्श्वनाथ के पूर्व भी बाईस तीर्थंकर और हो चुके हैं। और इन बाईस तीर्थंकरो के पूर्व भी कई चौविसियां गुजर चुकी हैं तथापि ऐतिहासिक दृष्टि मे भगवान् पार्श्वनाथ से आगे बढ़ने का अभी तक तो कोई मार्ग नहीं है। लेकिन निरंतर की खोज और उद्योग से जिस प्रकार जैनधर्म के मूल संस्थापक महावीर से पार्श्वनाथ माने जाने लगे। उसी प्रकार सम्भव है और भी जो खोज हो तो क्या आश्चर्य कि, पार्श्वनाथ से पूर्व नेमिनाथ का भी पता लगने लगे। पर अभी तो इसकी कोई आशा नहीं। अभी कुछ अंग्रेज लेखक यह भी कहते हैं:—

"जैनियों और बौद्धों ने ब्राह्मणों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के लिए ही अपने मत को पुराना बतलाने की चेष्टा की है। इन दोनो

मतवालो ने ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए ही इन सब प्राचीन नामों की कल्पना की है।

कुछ भी हो अभी तक हमारे पास कोई ऐसे साधन नहीं हैं कि, जिनके जरिये हम पार्श्वनाथ से पहले के तीर्थंकरों का ऐतिहासिक अनुसंधान कर सकें। इसलिये ऐतिहासिक दृष्टि से हमे जैनधर्म के मूल संस्थापक पार्श्वनाथ को ही मान कर सन्तोप करना पड़ेगा।

जैनधर्म की उन्नति और उसका तत्कालीन समाज पर प्रभाव

एक विद्वान् का कथन है कि युद्ध, महामारी आदि बाह्य आपत्तियों से समाज के अन्दर क्रान्ति नहीं हो सकती। समाज में क्रान्ति उसी समय होती है, जब उसके अन्तर्तत्व मे कोई खास विशृंखला उत्पन्न होती है। समाज के अन्तर्जगत् में जब मूल-तत्वो के नष्टभ्रष्ट होने से खल बली मचती है, तभी क्रान्ति का बाह्य उद्गम होता है, क्रान्ति उसी ज्वालामुखी पहाड़ की तरह समाज मे धधकती है, जिसके अतर्गत बहुत समय पूर्व से अन्दर ही अन्दर भभकने का मसाला तैयार होता रहता है।

उपरोक्त विद्वान् का यह कथन समाज-शास्त्र के पूर्ण अध्य-यन का परिणाम है। समाज-शास्त्र की इस निर्मल कसोटी पर जब हम तत्कालीन समाज को जांचते हैं तब हमे मालूम होता है कि, उस समय के मूलतत्त्वों में बहुत विशृंखला पैदा हो गई थी। समाज के अतर्गत उस समय बहुत हलचल उत्पन्न हो गई थी। इस हलचल का ऐतिहासिक विवेचन हम पहले कर

चुके हैं। समाज उस समय उस क्रान्ति की तैयारी कर रहा था जो बहुत ही थोड़े समय के अन्दर उसमें प्रारम्भ होने वाली थी।

ठीक समय पर समाज के अन्दर क्रान्ति का उदय हुआ। यह क्रान्ति और कुछ नहीं समाज में जैन और बौद्ध धर्म का उदय थी। इन दोनों क्रान्तियों के नेता भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध थे। दोनों नेताओं ने समाज की उस दुरावस्था के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और परिस्थिति का अध्ययन कर एक एक नवीन धर्म की नींव डाली।

दोनों महात्माओ के आजाद सन्देश को सुन कर समाज मे हलचल मच गई। समाज के अत्याचारों से पीड़ित होकर लाखो त्रस्त मानव उनके झण्डे के नीचे एकत्रित होने लग गये। यहां तक कि इन दोनों धर्मो के नवीन प्रकाश में ब्राह्मणधर्म लुप्त प्राय-सा नजर आने लग गया। समाज की ये क्रान्तियां केवल भारत-वर्ष में ही प्रचारित होकर न रहीं। बुद्धधर्म तो चीन, जापान, वर्मा और सिलोन तक में प्रचारित हो गया।

जैन और बुद्धधर्म के इस शीघ्रगामी प्रचार का तत्कालीन परिणाम यह हुआ कि, समाज की वह दुर्व्यवस्था, समाज की वह हिंसात्मक प्रवृत्ति, और अछूतो के प्रति होनेवाले घृणित अत्याचार समाज में एकदम बन्द हो गये। लाखो मूक पशुओं का हत्याकांड बन्द हो गया "वैदि की हिंसा हिंसान भवति" की भयंकर आवाज के स्थान पर "अहिंसा परमो धर्म" के उज्वल और दिव्य सन्देशों का प्रचार हुआ। भयङ्कर-क्रान्ति के पश्चात् दिव्य शान्ति का उदय हुआ।

लोकमान्य तिलक का कथन है कि, सनातनधर्म के चिर-

शान्त हृदय पर जैनधर्म की उज्वल और स्पष्ट मोहर लगी हुई है। वह मोहर हिंसा के विरुद्ध अहिंसा के साम्राज्य की है। आज भी ब्राह्मणधर्म जैनधर्म का इस बात के लिए अहसान मन्द है कि, उसने उसे अहिंसा का उज्वल सन्देशा दिया।

उस समय मे तो इन दोनों क्रान्तियो को समाज पर पूर्ण विजय मिली। यज्ञो में होनेवाली हिंसा बन्द हो गई और यह बात तो अब तक भी स्थायी है। इसके अतिरिक्त अछूतो के प्रति घृणा के भाव भी समाज से मिट गये। लेकिन थोड़े ही समय के पश्चात् जब कि शङ्कराचार्य्य ने वैदिकधर्म का पुनरुद्धार किया, छूआछूत के ये भाव पुनः समाज में फैलने लगे और यहाँ तक फैले कि केवल वैदिकधर्म पर ही नहीं, पर इसका पूर्ण विरोधी जैनधर्म भी इसका कु-प्रभाव पड़ने से न बचा। वैदिकधर्म के दबाव के कारण अपने हृदय के विरुद्ध भी जैन लोगो ने इन भावो को स्वीकार किया। क्रमशः बढ़ते बढ़ते ये भाव जैनधर्म के हृदय में भी लग गये और अन्त मे इस बातका जो दुष्परिणाम हुआ वह आज आँखों के सामने प्रत्यक्ष है।

मतलब यह है कि, उस समय इन दोनों क्रान्तियो का तत्कालीन समाज पर बहुत ही अधिक शुभ परिणाम हुआ। वर्णाश्रमधर्म तो नष्ट हो गया पर उसके बदले समाज में एक ऐसी दिव्य शान्ति का प्रादुर्भाव हुआ कि जिसके कारण समाज को वर्णाश्रमधर्म की कमी मालूम न हुई और उस शान्ति के परिणाम स्वरूप इतिहास में हमें भविष्य की स्वर्णशताब्दियाँ देखने को मिलती हैं।

अब केवल एक प्रश्न बाकी रह जाता है। आजकल कुछ

लोगो का ख्याल है कि, जैनधर्म ने तत्कालीन समाज को अहिंसा का सन्देश देकर उसमें कायरता के भाव फैला दिये। जिससे भारत का वीरत्व एक लम्बे काल के लिए या यों कहिए कि, अब तक के लिये लोप हो गया। इन विद्वानों में प्रधान आसन पंजाब केशरी लाला लाजपतराय जी का है। इस स्थान पर हमें अत्यन्त विनयपूर्ण शब्दो मे कहना ही पड़ता है कि, लालाजी ने जैनधर्म का पूर्ण अध्ययन नहीं किया है। यदि वे जैन अहिंसा का पूर्ण अध्ययन करते, तो हमें विश्वास है कि, वे ऐसा कभी न कहते। इस विषय का विशद विवेचन हम किसी अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ पर हम इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि, जैनधर्म कायरता का सन्देश देने वाला धर्म नहीं है। जैनधर्म वीरधर्म है और उसके नेता महावीर हैं। लेकिन इतना हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि, आजकल के जैनधर्म में ऐसी विकृति हो गई है—उसका स्वरूप ऐसा भ्रष्ट हो गया है कि, वह सचमुच कायर धर्म कहा जा सकता है। आजकल का प्रचलित जैनधर्म वास्तविक जैनधर्म नहीं है। वास्तविक जैनधर्म भारत की हिन्दू जाति से कभी का लोप हो गया है। यह तो उसका एक विकृत ढांचा मात्र है।

आठवाँ अध्याय

भगवान् महावीर काल—निर्णय

जैन शास्त्रों मे भगवान महावीर का निर्णय-काल ईसा के ५२७ वर्ष पूर्व माना गया है। अर्थात् भगवान महावीर का यही समय लोग मनाते चले जा रहे है। उनका सम्वत भी जो वीरसंवत के नाम से प्रसिद्ध है, ईस्वी सन् से ५२७ वर्ष पहिले से प्रारम्भ होता है और इस दृष्टि से महावीर निर्वाण का समय ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व मानने में कोई बाधा भी उपस्थित नहीं होती।

पर कुछ समय पूर्व डाक्टर हर्मन जेकोवी ने इस विषय पर एक नई उपपत्ति निकाली है। उनका कथन है कि, यदि हम महावीर निर्वाण का समय ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व मानते हैं तो सब से बड़ी अड़चन यह उपस्थित होती है कि फिर महावीर और बुद्ध समकालीन नहीं हो सकते। अतएव यदि हम इस समय को स्वीकार करते हैं तो फिर बौद्ध ग्रन्थो का यह कथन मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि, बुद्ध और महावीर समकालीन थे। इस बात पर प्रायः सब विद्वान् एक हैं, कि बुद्ध का निर्वाण

ईसा के ४८० और ४८७ वर्ष पूर्व के बीच किसी समय में हुआ। अब यदि हम महावीर का निर्वाण ईसा से ५२७ वर्ष माने तो इन दोनो महापुरुषों के निर्वाण काल में करीब ४० या ५० वर्ष का अन्तर पड़ जाता है। इधर बुद्ध और जैन दोनो ग्रन्थों मे सूचित होता है कि, महावीर और बुद्ध दोनों बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के समकालीन थे। यदि महावीर का निर्वाण वास्तव मे ५२७ वर्ष ईसा से पूर्व हुआ है, तो फिर वे अजातशत्रु के समकालीन नहीं हो सकते। इस प्रकार कई प्रमाण देते हुए अन्त में जेकोबी महाशय ने हेमचन्द्राचार्य्य का प्रमाण दिया है। उनके परिशिष्ट पर्व मे चन्द्रगुप्त का काल महावीर निर्वाण सवन् १५५ लिखा है। इधर आज कल की खोजो से साबित हो चुका था, कि चन्द्रगुप्त ईसा से ३२२ वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार ३२२ में १५५ मिला कर जेकोबी साहब ने महावीर निर्वाण का काल ईसा से ४७७ वर्ष पूर्व सिद्ध कर दिया है।

इसमे सन्देह नहीं कि, डाक्टर जेकोवी ने निर्वाण काल का निष्कर्ष अच्छे प्रमाणो के साथ निकाला है। पर फिर भी इसमें शङ्का के अनेकस्थल मौजूद हैं। पहिले ही पहल उनका कथन है कि यदि हम महावीर निर्वाण का काल ५२७ वर्ष ईस्वी पूर्व मानते हैं तो फिर बुद्ध और महावीर समकालीन नहीं हो सकते। इसमें सन्देह नहीं कि, इस समय को मानने से अवश्य दोनो के काल में चालीस पचास वर्ष का अन्तर पड़ता है पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वे बिल्कुल समकालीन हो ही नहीं सकते। हम इस स्थान पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि, इतना

अंतर पड़ने पर भी दोनों महापुरुष समकालीन हो सकते हैं। इतना अवश्य है कि उनकी समकालीनता का समय बहुत ही अल्प-सिद्ध होगा। यदि हम महावीर निर्वाण ५२७ मे मानते हैं। तो यह आवश्यक है कि हमें उनका जन्म ५९९ ई० पूर्व में मानना पड़ेगा, इधर बुद्ध का निर्वाण यदि हम ४८७ ईस्वी पूर्व मानते हैं। तो निश्चय है कि, उनका जन्म ५६७ ईसवी पूर्व मे हुआ होगा। बुद्ध ग्रन्थो से यह भी स्पष्ट मालूम होता है कि बुद्ध ने उन्तालीस वर्ष की अवस्था मे उपदेश देना प्रारम्भ किया था। इस हिसाब से यदि हम देखें तो भी भगवान बुद्ध एक वर्ष तक महावीर के समकालीन रहे थे। यदि न भी रहे हों तो भी बुद्ध ग्रन्थों ने दो चार वर्ष के अङ्कर को अन्तर न समझ कर उन्हे समकालीन लिख दिया हो। मतलब यह कि इस उपपत्ति में सन्देह करने को अनेक स्थल है। उसके अतिरिक्त लङ्का के हीनयान बौद्ध मतावलम्बी बुद्ध का निर्वाण ईसासे ५४४ वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि यह ठीक है तब तो उपरोक्त प्रमाण की कोई आवश्यकता नही रह जाती है। जेकोबी साहब का दूसरा तर्क भी सन्देह से खाली नहीं। बौद्ध ग्रन्थो में चाहे जो लिखा हो पर जैन ग्रन्थों मे तो भगवान महावीर को "कुणिक" की अपेक्षा श्रेणिक (बिम्बसार) का ही समकालीन अधिक लिखा है। जिस समय भगवान महावीर को कैवल्य की प्राप्ति हो गई और उनकी समवशरण सभा बैठ गई, उस समय भी उनसे प्रश्न करने वाला श्रेणिक ही था। कुणिक (अजात-शत्रु) नही। सम्भव है इसी बीच महावीर निर्वाण के पूर्व ही श्रेणिक ने कुणिक को राज्य भार दे दिया हो, और पीछे से

पुत्र के त्रास देने पर उसने आत्महत्या भी कर ली हो। पर भगवान महावीर के समवशरण तक मगध के राज़सिंहासन पर श्रेणिक ही अधिष्ठित था यह बात निश्चित है। कुणिक के विषय में जैन-शास्त्रों में इतना ही उल्लेख है कि उसने भगवान महावीर के दर्शन किये थे। पर क्या ताज्जुब वे दर्शन उस समय हुए हो जब भगवान का निर्वाण काल बिल्कुल समीप हो, भगवान महावीर बिम्बसार के समकालीन थे, उन्होंने बिम्बसार को कई स्थानो पर उपदेश भी दिया है। और जब कि, बिम्बसार का काल ५३० ई० पू० में मानते हैं, तो भगवान महावीर का निर्वाण काल ५२७ ई० पू० मानने में कोई अडचन नही पड़ सकती। जेकोबी साहब का अन्तिम तर्क अवश्य बहुत कुछ महत्व रखता है। हेमचन्द्राचार्य्य ने अवश्य चन्द्रगुप्त का काल महावीर निर्वाण सम्वत १५५ लिखा है और आज कल के ऐतिहासिकों ने बहुत खोज के पश्चात् चन्द्रगुप्त का काल ३२२ ई० पूर्व सिद्ध कर दिया। इस हिसाब से जेकोबी साहब का मत पूर्णतया माननीय हो सकता है। पर हाल ही में बंगाल के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता नगेन्द्रनाथ वसु महोदय ने अपने वैश्यकांड नामक ग्रन्थ में कई अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि ई० पू० ३२२ में आज-कल के इतिहासज्ञ जिस चन्द्रगुप्त का होना मानते हैं, वह वास्तव मे चन्द्रगुप्त नहीं, प्रत्युत उसका पौत्र अशोक था *। असली चन्द्र-गुप्त का काल ई० पू० ३७५ मे ठहरता है। इस बात को उन्होंने

* वसु महोदय की इस उपपत्ति और उनके प्रमाणों का विस्तृत विवेचन हमने अपने "भारत के हिन्दू सम्राट" नामक ग्रंथ में किया है। जो बनारस के हिन्दी साहित्य मन्दिर से प्रकाशित हुई है। लेखक

कई यूनानी जैन और बौद्ध ग्रन्थों से साबित कर दिया है। यद्यपि वसु महोदय का यह मत अभी तक सर्वमान्य नहीं हुआ है, तथापि यदि उनका यह अनुसन्धान ठीक निकला तो फिर जेकोबी साहब की ये तीनों उपपत्तियां एकदम निर्मूल हो जायँगी। पर जहां तक चन्द्रगुप्त का काल ई० पू० ३२२ माननीय है, वहाँ तक जेकोबी साहब की यह तीसरी उपपत्ति अवश्य कुछ माद्दा रखती है। पर इसमें भी कई प्रश्न उत्पन्न होते हैं। यदि हम हेमचन्द्राचार्य्य को प्रमाण मानें तो यह निश्चय है कि, उनके समय तक महावीर निर्वाण संवत् बराबर वास्तविक रूप में चला आ रहा होगा। फिर आगे जाकर किस समय मे, किस उद्देश्य से और किसने इस सवत् मे ५० वर्ष और मिला दिये इसका निर्णय करना होगा। ५० वर्ष मिलाने की किसी को क्या आवश्यकता पड़ी। यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है। इसको हल करने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। और जहां तक ऐसा साधन नहीं है वहां तक ऐसा कहना भी व्यर्थ है।

उपरोक्त विवेचन का मतलब इतना ही है कि महावीर का काल बहुत सोचने पर भी हमारे खयाल से वही ठहरता है जो उनका प्रचलित संवत् कहता है। डा० हर्मन जेकोबी की उपपत्तियां बहुत महत्त्व पूर्ण हैं। पर उनमें शंका के ऐसे ऐसे स्थल हैं कि, उन पर एकाएक विश्वास नहीं किया जा सकता।

कुछ वर्षों पूर्व पाटलिपुत्र के सम्पादक और हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित लेखक श्रीयुत् काशीप्रसाद जायसवाल ने भी महावीर निर्वाण सम्वत् पर एक महत्वपूर्ण निबन्ध लिखा था। उस निबन्ध मे उन्होंने महावीर निर्वाण संवत् मे १८ वर्ष की भूल

वतलाने का प्रयत्न किया है, इस स्थान पर हम उसे ज्यों का त्यो उधृत कर देते हैं।

जैनियों के यहां कोई २५०० वर्ष की संवत् गणना का हिसाव हिन्दुओं भर में सव से अच्छा है। उससे विदित होता है कि, ऐतिहासिक परिपाटि की गणना यहां पर थी। और जगह पर यह नष्ट हो गई केवल जैनियो में वच रही। जैनियो की गणना के आधार पर हमने पौराणिक और ऐतिहासिक कई घटनाओं से समय वद्ध किया और देखा कि उनका ठीक मिलान जानी हुई गणना मे मिल जाता है। कई एक ऐतिहासिक वातों का पता जैनियों के ऐतिहासिक लेख और पट्टावलियो ही में मिलता है। जैसे "नहपान" का गुजरात में राज्य करना उसके सिक्को और शिलालेखो से सिद्ध है। इसका जिक्र पुराणो में नहीं है। पर एक पट्टावली की गाथा में जिसमें महावीर स्वामी और विक्रम सम्वत् के वीच का अन्तर दिया हुआ है। "नहपान" का नाम हमने पाया। वह "नहपान" के रूप में है। जैनियो की पुरानी गणना मे जो असम्वद्धता यूरोपीय विद्वानो द्वारा समझी जाती थी, वह हमने देखा कि वस्तुत नहीं है।

"महावीर के निर्वाण और "गर्दभिल्ल" का ४७० वर्ष का अन्तर पुरानी गाथा मे कहा हुआ है। जिसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों दलवाले मानते हैं। यह याद रखने की वात है कि, वुद्ध और महावीर दोनों एक ही समय मे हुए। वौद्धों के ग्रन्थो में "तथा गत" का निग्रन्थ नातपुत्त के पास जाना लिखा है और यह भी लिखा है कि जव वे शाक्यभूमि की ओर जा रहे थे तव देखा कि पावांपुरी मे नातपुत्त का शरीरान्त हो गया है। जैनियो के

के सरस्वती गच्छ की पट्टावली मे विक्रम सम्वत् और विक्रम जन्म मे १८ वर्ष का अन्तर माना है। यथा "वीरात् ४९२ विक्रम जन्मान्तर वर्ष २२ राज्यान्त वर्ष ४" विक्रम विषय की गाथा की भी यही ध्वनि है कि वे १७ वें या १८ वें वर्ष मे सिहासन पर बैठे। इससे सिद्ध है कि ४७० वर्ष जो जैन निर्वाण और गर्दभिल्ल राजा के राज्यान्त तक माने जाते हैं वे विक्रम जन्म तक हुए। (४९२ = २२ + ४७०) अतः विक्रम जन्म (४७० म. नि.) में १८ और जोड़ने से निर्वाण का वर्ष विक्रमीय संवत् की गणना मे निकलेगा। अर्थात् विक्रम सम्वत् से ४८८ वर्ष पूर्व अर्हन्त महावीर का निर्वाण हुआ। अब तक विक्रम संवत के १९७१ वर्ष और अब (१९८१) बीत गये हैं, अत: ४८८ वि० पू० १९७१ = २४५९ वर्ष आज से पहले महावीर निर्वाण का संवत्सर ठहरता है। पर आधुनिक जैन पत्रों में नि० सं० २४४१ देख पड़ता है। इसका समाधान कोई जैन सज्जन करें तो अच्छा हो। १८ वर्ष का अन्तर गर्दभिल्ल और विक्रम सम्वत् के वीर गणना छोड़ देने से उत्पन्न हुआ मालूम होता है। बौद्धलोग, लंङ्का, श्याम आदि स्थानो में बुद्ध निर्वाण के आज २४४८ वर्ष मानते है। हमारी यह गणना उससे भी ठीक मिल जाती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि, महावीर बुद्ध के पूर्व निर्वाण को प्राप्त हुए। नही तो बौद्ध गणना और जैन गणना से अर्हन्त का अन्त बुद्ध निर्वाण से १६ या १७, वर्ष पश्चात् सिद्ध होगा जो पुराने सूत्रो की गवाही के विरुद्ध पड़ेगा।

जायसवाल महोदय के उपरोक्त प्रमाण बहुत अधिक महत्व के हैं। जेकोबी महाशय के निकाले हुए निष्कर्ष मे शङ्का के

अनेक स्थल हैं पर उपरोक्तप्रमाणों में सत्य का वहुत अंश मालूम होता है। इस विषय पर हम विशेष मीमांसा न कर इसके निर्णय का भार जैन विद्वानों पर ही छोड़ देते हैं।

भगवान् महावीर की जन्मभूमि

जैन शास्त्रों के अनुसार भगवान महावीर की जन्मभूमि "कुण्डग्राम" एक वड़ा शहर एवं स्वतंत्र राजधनी था। उसके राजा सिद्धार्थ एक वडे नृपति थे। आजकल गया जिले के अन्तर्गत "लखवाड़" नामक ग्राम जिस जगह पर वसा हुआ है वहां पर यह शहर स्थित था।

पर पश्चात् पुरातत्ववेताओं के मतानुसार "कुण्ड ग्राम" लिच्छवि वश की राजधानी वैशाली नगरी एक "पुरा" मात्र था और सिद्धार्थ वहां के जागीरदार थे। डा० हर्मन जेकोवी ने जैन-सूत्रों पर की प्रस्तावना में इस विषय की चर्चा की है। डाक्टर हार्नल ने भी अपने जैनधर्म सम्वन्धी विचारों मे इसका विवेचन किया है। कई जिज्ञासु पाठक अवश्य उन प्रमाणों को जानने के लिए लालायित होंगे। जिसके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने इस कल्पना को ईजाद की है। अतएव हम नीचे डा० हार्नल की लिखी हुई एक टिप्पणी का सारांश दे देना उचित समझते हैं।

"वाणियग्राम" लिच्छवि वंश की प्रसिद्ध राजधानी "वैशाली" नामक सुप्रसिद्ध शहर का दूसरा नाम है। कल्पसूत्र के १२२ वें पृष्ट में उसे वैशाली के समीपवर्ती एक भिन्न शहर की तरह माना है। लेकिन अनुसन्धान करने से यह मालूम होता

है कि हम जिसको "वैशाली" नगरी कहते हैं वह बहुत ही लम्बी और विस्तृत थी।

चीनी यात्री हुएनसङ्ग के समय में वह करीब १२ मील विस्तार वाली थी। उसके उस समय तीन विभाग थे। १—वैशाली जिसे आजकल "बेसूर" कहते हैं। २—वाणियग्राम—जिसे आज कल वाणिया कहते हैं। और ३—कुण्डग्राम जिसे आज कल वसुकुंड कहते हैं। कुण्डग्राम भी "वैशाली" का ही एक नाम था। वहीं 'महावीर' की जन्मभूमि थी। इसी कारण से सम्भवतः जैन शास्त्रो में कई स्थानो पर महावीर को "वैशालीय" संज्ञा से भी सम्बोधित किया है "बुद्धचरित्र" के ६२ वें पृष्ठ में लिखी हुई एक आख्यायिका से भी वैशाली के तीन भाग होना पाया जाता है। ये तीनो भाग कदाचित् "वैशाली" वाणिय ग्राम और कुण्ड ग्राम के सूचक होंगे। जो कि अनुभव से सारे शहर के आग्नेय, इशान्य और पश्चिमात्य भागों में व्याप्त थे।

ईशान्य कोण मे कुण्डपुर से आगे "कोल्लांगी" नामका एक मुहल्ला था जिसमें सम्भवतः "ज्ञातृ" अथवा "नाय" जाति के क्षत्रिय लोग बसते थे। इसी कुल मे भगवान महावीर का जन्म हुआ प्रतीत होता है। सूत्र ६६ में इस मुहल्ले का न्याय कुल के नाम से उल्लेख किया गया है। यह "कोल्लांग सन्निवेश" के साथ सम्बद्ध था। इसके बाहर "दुईयलास" नामक एक चैत्य था। साधारण चैत्य की तरह इसमें एक मन्दिर और उसके आसपास एक उद्यान था। इसी कारण से "विपाक सूत्र" में उसे "दुइपलास उज्जाण" लिखा है। और "नाय सण्डे

उज्जाए" आदि शब्दों से मालूम होता है कि वह नाय कुल का ही था।

उपरोक्त कथन से जैन शास्त्रों के उस कथन का समर्थन होता है। जिसमें "कुण्ड ग्राम" का "नायर" (नगर) की तरह उल्लेख किया गया है। क्योकि कुण्डग्राम वैशाली का ही दूसरा नाम था। कल्प सूत्र पृष्ट १०० वें में कुण्डपुर के साथ "नयरं-समितर बाहिरियं" इस प्रकार का विशेषण लगा हुआ है। इस वर्णन से साफ मालूम होता है कि, यह वैशाली का ही वर्णन है। जिस सूत्र के आधार पर कुण्डग्राम को सन्निवेश सिद्ध किया जाता है। वह बराबर ठीक नहीं है।

इन सब बातो से यह पता चलता है कि महावीर के पिता "सिद्धार्थ" कुण्डग्राम अथवा वैशाली नामक शहर के "कोल-भाग" नामक पुरे मे बसने वाले नाय जाति के क्षत्रियों के मुख्य सरदार थे। इस बात का प्रमाण हमे जैन ग्रन्थो में भी कई स्थानो पर मिलता है। कल्पसूत्रादि प्राचीन ग्रन्थो मे "सिद्धार्थ" को "कुण्डग्राम" के राजा की तरह से बहुत ही कम स्थानों में वर्णित् किया है अधिक स्थानो पर उसे साधारण क्षत्रिय सरदार की तरह लिखा है। यदि कहीं कहीं एक दो स्थानों पर राजा की तरह से उसका उल्लेख भी पाया जाता है तो वह केवल अपवाद रूप से।

इन प्रमाणों से यह साफ जाहिर होता है कि "महावीर" की जन्मभूमि कौल्लाग ही थी और यही कारण है कि दीक्षा लेते ही वे सब से प्रथम अपनी जन्मभूमि के पास वाले दुईपलास नामक चैत्य में ही जा कर रहे, महावीर के माता पिता और दूसरे

नाय वंश के क्षत्रिय पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। इस कारण ऐसा मालूम होता है कि, उन्होने पार्श्वनाथ के अनुयायी साधुओ की सुभीता के लिये एक चैत्य की स्थापना की थी।

विशेष प्रमाण में यह बात और कही जा सकती है कि सूत्र ७७ और ७८ में वाणिय गाम के विषय में लिखे हुए "उच्चनीय मज्झिम कुलाई" वर्णन के साथ रोखिलकृत बुद्ध चरित्र का वर्णन बहुत मेल खाता है। उसमें लिखा है कि:—

वैशाली के तीन भाग थे। पहले विभाग मे सुवर्ण कलश वाले ७००० घर थे, मध्यम विभाग में रजत कलश वाले १४००० घर थे और अन्तिम विभाग मे ताम्र कलश वाले २१००० घर थे। इन विभागो मे क्रम से उच्च, मध्यम और नीच वर्ग वाले लोग रहते थे।

डा० हार्नल का मत दे दिया गया है। यह कथन अवश्य प्रमाण युक्त है, पर इसमें सत्य का कितना अंश है, इसके विषय में ठीक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

भगवान महावीर के माता पिता।

दिगम्बर ग्रन्थ महावीर पुराण के अन्तर्गत महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ को एक बहुत बड़ा राजा बतलाया है और उसकी प्रधान रानी का नाम त्रिशला बतलाया है। लेकिन कल्पसूत्र के अन्तर्गत सिद्धार्थ को एक मामूली जागीरदार की तरह सम्बोधित किया है, स्थान स्थान पर उसमें "राजा सिद्धार्थ" नहीं प्रत्युत "क्षत्रिय सिद्धार्थ" के नाम से सम्बोधित किया है। उसी प्रकार त्रिशला को भी "रानी त्रिशला" के स्थान पर "क्षत्रि-

याणी "त्रिशला" ही कहा है, इससे तो साफ जाहिर होता है कि भगवान् महावीर के पिता एक मामूली जागीरदार ही थे, या अधिक से अधिक एक छोटे राज्य के स्वामी होंगे। लेकिन इसमें एक बात विचारणीय है वह यह है कि, राजा सिद्धार्थ का सम्बन्ध वैशाली के समान प्रसिद्ध राजवंश से हुआ था इससे यह मालूम होता है कि. सिद्धार्थ चाहे कितने ही साधारण राजा क्यों न हो, पर उनका आदर तत्कालीन राजाओं के अन्दर बहुत अधिक था।

त्रिशला रानी के माता पिता।

त्रिशला रानी के माता पिता के सम्बन्ध मे भी दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थो में बहुत मतभेद पाया जाता है। दिगम्बर ग्रन्थों मे त्रिशला को सिद्धदेश के राजा चेटक की पुत्री लिखा है और कल्पसूत्र तथा अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थों मे त्रिशला रानी को वैशाली के राजा चेतक की बहन लिखा है। यह दोनो चेतक एक ही थे या भिन्न भिन्न यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। बौद्ध ग्रन्थों में भी चेतक का राजा की तरह वर्णन नहीं पाया जाता। बल्कि यह पाया जाता है कि उस राज्य का प्रबन्ध एक मण्डल के द्वारा होता था और राजा उस मण्डल का प्रमुख समझा जाता था, राजा के हाथ में वाइसराय और सेनापति की पूरी शक्तियां रहती थीं। इस मण्डल के अन्तर्गत अठारह विभाग थे। इन सब विभागों पर एक व्यक्ति नियुक्त था और इसके बदले मे इन सब लोगों को छोटे छोटे राज्य का स्वामी बना दिया जाता था। "निर्यावलिसूत्र" नामक बौद्ध ग्रन्थ से पता चलता है कि चम्पानगरी के राजा "कुणिक" ने जब चेतक के उपर चढ़ाई की,

उस समय चेतक ने अठारहों राजाओं को बुलाकर उनसे सलाह ली थी।

भगवान महावीर का निवार्णोत्सव मनाने के लिए जिन अठारहों राजाओ ने दीपावली का उत्सव मनाया था, सम्भवतः वे इसी मंडल के मेम्बर हों। लेकिन इन अठारहों राजाओ के अन्तर्गत चेतक का नाम प्रमुख के ढङ्ग से नहीं आया है। इससे मालूम होता है कि चेतक का दर्जा सम्भवतः उन अठारहो राजाओ के बराबर ही हो। इसके अतिरिक्त सम्भव है कि, उनकी सत्ता भी स्वतंत्र न होगी इन सब कारणों से ही मालूम होता हैं कि बौद्ध लोगो के धर्म प्रचार के निमित्त उसकी विशेष आवश्यकता न पड़ी और इसीलिए उनके ग्रथों में भी उसका विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता है। जैन ग्रन्थो मे तो स्थान स्थान पर उनका नाम आना स्वाभाविक ही है—क्योंकि एक तो वे भगवान महावीर के मामा भी थे और दूसरे जैनधर्म के आधार स्तम्भ भी।

राजा चेतक को एक पुत्री और भी थी। उसका नाम "चेलना" था। यह मगध देश के राजा बिम्बसार को ब्याही गई थी, मालूम होता है कि राजा बिम्बसार बौद्ध और जैन दोनो ही मतों का पोषक था। क्योंकि इसका नाम दोनो ही धर्म्मों के ग्रन्थों मे समान रूप से पाया जाता है, इसके पुत्र "कुणिक" प्रारम्भ में तो जैन मतावलम्बी था, पर पीछे से बुद्ध निर्वाण के करीब आठ वर्ष पहिले वह बौद्धमतावलम्बी हो गया था। बौद्ध ग्रन्थों मे इसे अजातशत्रु के नाम से लिखा है।

त्रिशला रानी को भगवान महावीर के सिवाय एक पुत्र

और एक पुत्री और हुई थी, जिनके नाम क्रमशः नन्दिवर्द्धन और सुदर्शना थे। महावीर स्वामी के काका का नाम सुपार्श्व था। निम्नांकित तालिका से भगवान् महावीर के कुटुम्ब का साफ साफ पता चल जायगा।
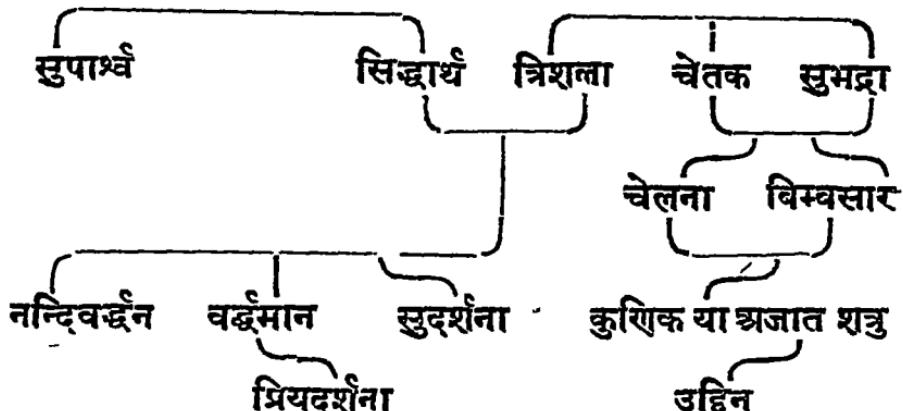
यह तालिका श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार से बनाई गई है। दिगम्बर ग्रन्थों मे भगवान महावीर की पुत्री प्रियदर्शना का उल्लेख नहीं किया गया है। उनके ग्रन्थों में महावीर को बाल-ब्रह्मचारी माना है। भगवान महावीर बालब्रह्मचारी थे या नहीं, इस विषय पर आगे विचार किया जायगा।

भगवान् महावीर का जन्म

कल्पसूत्र के अंतर्गत 'भगवान महाबीर' के गर्भ स्थान बद-लने का वर्णन पाया जाता है। यह घटना दिगम्बर ग्रन्थो मे कहीं भी नहीं पाई जाती। आजकल के विद्वान् भी इस घटना को प्रायः असम्भव सी मानते हैं। लेकिन श्वेताम्बरियों के बहुत प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन पाया जाता है। इसलिये यह बात अवश्य विचारणीय है।

प्राचीन दन्त-कथाओं में हम प्रायः इस प्रकार की घटनाएँ सुना करते हैं। जिनमें गर्भ बदलने की तो नहीं पर कन्या के स्थान पर पुत्र और और पुत्र के स्थान पर कन्या को रख देने की बातें पायी जाती हैं। अथवा यदि किसी के सन्तति न होती हो तो दूसरी सन्तान को लाकर "रानी के गर्भ से पैदा हुई है" इस प्रकार की अफवाह उड़ा दी जाती है। इस प्रकार की घटनाएँ जब प्रकाश में आती हैं तो कुछ दिनो पश्चात् लोग उसको बढ़ा कर राई का पर्वत और तिल का ताड़ कर देते हैं।

लोगों का ख्याल है कि इसी प्रकार की कोई घटना शायद महावीर के जन्म समय भी हुई हो, जिसको बढ़ाते २ यह रूप दे दिया गया हो। कल्पसूत्र के अनुसार भगवान महावीर पहले ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवनन्दा के गर्भ में अवतरित हुए थे। जब यह खबर इन्द्र को मालूम हुई तो वह बड़े असमञ्जस में पड़ गया, क्योंकि ब्राह्मणी के गर्भ मे तीर्थंकर के जीव का जाना असम्भव माना जाता है। अन्त मे उसने महावीर का गर्भ स्थान बदलने के निमित्त "हरिनैगम" नामक देव को बुला कर उस गर्भ को क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला की कुक्षि में बदलने को कहा।

उपरोक्त सब कुछ बाते ऐसे ढङ्ग की हैं जिन पर सिवाय श्रद्धावादी जैनियों के दूसरे विद्वान् विश्वास नही कर सकते। कुछ लोगों ने इस घटना के विरुद्ध कई प्रमाण संग्रह करके यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि, यह घटना बहुत पीछे से मिलाई गई है। उन प्रमाणों को संक्षिप्त में नीचे देते हैं।

(१) कल्पसूत्र के रचियता लिखते हैं कि, तीर्थंकर-

नामक कर्म के बंधे हुए जीव अन्त्यकुल, भिक्षाकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, प्रान्तकुल और ब्राह्मणकुल में जन्म नहीं लेते प्रत्युत क्षत्रियकुल, हरिवंशकुल, आदि इसी प्रकार के विशुद्ध कुलों मे जन्म लेते हैं। यहाँ पर हमें यह नहीं मालूम होता कि कल्प सूत्र के रचयिता "विशुद्ध कुल" का क्या अर्थ लगाते हैं। क्या ब्राह्मण लोग विशुद्ध कुल के नहीं थे, इस स्थान पर मालूम होता है कि जैनियों ने ब्राह्मणों को बदनाम करने ही के लिए इस उपपत्ति की रचना की है।

(२) उस समय ब्राह्मणों, जैनियों और बौद्धो के बीच मे भयङ्कर संघर्ष चल रहा था। तत्कालीन ग्रन्थों में इस विद्वेष का प्रतिबिम्ब साफ़ साफ़ दिखलाई पड़ रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे जैनियो और बौद्धों को एव जैन और बौद्ध ग्रन्थों में ब्राह्मणों को बहुत ही नीचा दिखलाने का प्रयत्न किया है। सम्भवत' महावीर-स्वामी के गर्भ परिवर्तन की कल्पना भी इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये की गई हो। क्योंकि इसके पश्चात् ही हम यह भी देखते हैं कि भगवान् महावीर की समवशरण सभा के ग्यारह गणधर भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न ही थे। यदि वे अशुद्ध समझे जाते तो कदाचित उनके गणधर भी न होने पाते।

३—मालूम होता है कि भद्रबाहु स्वामी ने बहुत पीछे ब्राह्मण कुल को इन सात कुलों के साथ रख दिया है। क्योंकि ब्राह्मण कुल के पहले जितने भी नाम आये हैं जैसे अन्तकुल भिक्षाकुल, तुच्छकुल आदि के; सब गुण के सूचक हैं। फिर केवल अकेला ब्राह्मण कुल ही क्यों "जाति दर्शक" रक्खा गया। इससे मालूम होता है कि भद्रबाहु के समय में ब्राह्मणों और जैनियों का संघर्ष

पराकाष्टा पर पहुंच गया था और इसी कारण शायद उन्होंने इस नवीन उपपत्ति को रचना की थी।

इस विषय में डाक्टर हर्मन जेकोबी का मत कुछ दूसरा ही है। उनका कथन है कि, सिद्धार्थ राजा के दो रानियां थीं, पहली पटरानी का नाम त्रिशला था, यह क्षत्रिय कुलोत्पन्न थी और दूसरी का नाम "देवानन्दा" था यह ब्राह्मणी थी। भगवान महावीर का जन्म देवानन्दा के गर्भ से हुआ था। पर चूंकि त्रिशला वैशाली के राजा "चेटक" की बहन थी, और सिद्धार्थ की पटरानी भी थी, इसलिए महावीर का जन्म उसकी कुक्षि से हुआ यह प्रकाशित कर देने से एक साथ दो लाभ होते थे। पहला तो यह कि, वैशाली के समान विस्तृत राज्य से उनका सम्बन्ध और भी दृढ़ हो जाता और दूसरा यह कि "महावीर" युवराज भी बनाये जा सकते थे। सम्भवतः इसी बात को सोच कर उन्होंने यह बात प्रकट कर दी हो तो क्या आश्चर्य? इस बात की और भी पुष्टि करने के लिये वे निम्नांकित प्रमाण पेश करते हैं:—

वे कहते हैं कि "ऋषभदत्त" को देवानन्दा का पति कहने की बात बिल्कुल असत्य है, क्योंकि प्राकृति भाषा में किसी व्यक्ति वाचक शब्द के आगे "दत्त" शब्द का प्रयोग अवश्य होता है पर वह भी ब्राह्मणों के नाम के आगे नहीं हो सकता। अतएव "देवानन्दा" का पति "ऋषभदत्त" था यह कल्पना बहुत पीछे से मिलाई गई है।

जेकोबी साहब की पहली कल्पना तो विशेष महत्व नहीं रखती, उनका यह कहना कि क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ की एक रानी देवानन्दा ब्राह्मणी भी थी यह बिल्कुल भूल से भरी हुई बात है। क्योंकि उस

काल में ब्राह्मण कन्या का क्षत्रिय के साथ विवाह नहीं होता था। यह प्रथा सम्भवतः महावीर और बुद्ध के कई वर्षों पश्चात् चली थी। इसके अतिरिक्त दिगम्बरी ग्रन्थ महावीर पुराण मे साफ लिखा है कि महावीर त्रिशला से ही उत्पन्न थे। हां उनकी दूसरी कल्पना अवश्य महत्व पूर्ण और विचारणीय है।

इसमें सन्देह नहीं कि, उपरोक्त प्रमाणो मे से बहुत से प्रमाण बहुत ही महत्व पूर्ण हैं। इनसे तो प्रायः यही जाहिर होता है कि "गर्भ हरण" की घटना कवि की कल्पना ही है, पर हम एक दम ऐसा करके प्राचीनग्रन्थो की अवहेलना नही कर देना चाहते। हमारा तो यही कथन है कि, इस विषय पर और ऊपाहोह हो। सब जैन विद्वान् इस विषय को सोचें और दृढ़ प्रमाणों के साथ जो निष्कर्ष निकलें उसी को स्वीकार करें। केवल प्राचीन लकीर के फकीर या अन्धश्रद्धा के वशीभूत होकर प्राचीनता का पक्ष कर लेना भी ठीक नहीं। हर एक बात को बुद्धि की कसौटी पर अवश्य जांच लेना चाहिए। अस्तु।

ईस्वी सन् से ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रानी त्रिशला के गर्भ से भगवान महावीर का जन्म हुआ, जन्म के उपलक्ष्य में बहुत बड़ा उत्सव मनाया गया।

भगवान महावीर का बाल्यजीवन और यौवनकाल किस प्रकार व्यतीत हुआ इसके बतलाने मे इतिहास प्रायः चुप है। पुराणो मे भी बाल्यकाल और यौवनजीवन की बहुत ही कम घटनाओं का वर्णन है। अतएव अनुमान प्रमाण से इन दो अवस्थाओं का जो कुछ भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है वह आगे के "मनो वैज्ञानिक" खण्ड मे निकाला जायगा।

यहां पर एक बात बतला देना आवश्यक समझते हैं, वह यह कि श्वेताम्बरी धर्मशास्त्र भगवान महावीर का विवाह "यशोदा" नामक राजकुमारी के साथ होना मानते हैं। उनके मतानुसार भगवान महावीर को प्रियदर्शना नामक एक पुत्री थी। जिसका विवाह राजकुमार "जामालि" के साथ किया गया था। पर दिगम्बरी धर्म शास्त्रों के मत से महावीर बालब्रह्मचारी थे। इन दोनो में से कौनसा मत सच्चा है इसका निर्णय करने के लिए इतिहासज्ञो के पास कोई प्रमाणभूत सामग्री नहीं है। हां अनुमान के बल पर कई मनो वैज्ञानिको ने इसका निर्णय किया है जिसका विवेचन आगामी खण्ड मे किया जायगा।

बाल्यकाल और यौवनजीवन को लांघ कर इतिहास एकदम उस स्थान पर पहुंचता है जहां पर महावीर का दीक्षा संस्कार होता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् तीस वर्ष की अवस्था में महावीर ने दीक्षा ग्रहण की। डा० हार्नल का मत है कि, यदि जीवन के आरम्भ काल ही में महावीर दुईपलास नामक चैत्य मे पार्श्वनाथ की सम्प्रदाय में सम्मलित होकर रहने लगे। पर उनके त्याग विषयक नियमो से इनका कुछ मत भेद हो गया यह मत भेद खास कर "दिगम्बरत्व" के वियष में था। पार्श्वनाथ के अनुयायी वस्त्र धारण करते थे और महावीर बिल्कुल नग्न रहना पसन्द करते थे। इस मत भेद के कारण कुछ समय पश्चात् वे उनसे अलग होकर विहार करने लगे। दिगम्बर होकर उन्होने बिहार के दक्षिण तथा उत्तर प्रान्त में आधुनिक राजमहल तक १२ वर्ष तक खूब भ्रमण किया। इसके पश्चात् इनका उपनाम महावीर हुआ। इसके पूर्व में ये वर्द्धमान के नाम से प्रसिद्ध थे।

इस समय इन्हे कैवल्य की भी प्रप्ति हुई। कैवल्य प्राप्ति के पश्चात्‌इन्होंने ३० वर्ष तक जनता को धार्मिक उपदेश दिया।

भगवान् महावीर का उपदेश कितना दिव्य और उज्वल था, इसका विवेचन करते हुए साहित्य सम्राट रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं:—

Mahabir proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention, that salvation comes from taking refuge in that true religion and not for observing the external ceremonies of the community, that religion can not regard any barrier between man and man as an eternal verity Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conqured the whole country for a long period now the influence of kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power

"महावीर ने भारतवर्ष को ऊँचे स्वर से मोक्ष का सदेशा दिया। उन्होंने कहा कि धर्म केवल सामाजिक रूढ़ि नही है, बल्कि वास्तविक सत्य है। मोक्ष केवल साम्प्रादिक वाह्य क्रियाकाण्ड से नहीं मिल सकता प्रत्युत सत्य धर्म के स्वरूप का आश्रय लेने से प्राप्त होता है, धर्म के अन्तर्गत मनुष्य और मनुष्य के वीच रहने वाला भेद भाव कभी स्थायी नही रह सकता। कहते हुए आश्चर्य होता है कि, महावीर की इस शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ जमा कर पूर्व संस्कारो से वैठी हुई भावनाओ को बहुत शीघ्र नेस्तनावूद कर और सारे देश को वशीभूत कर लिया। महावीर के पश्चात् भी वहुत काल तक क्षत्रिय लोगों के उपदेशा के प्रभाव से ब्राह्मणों की सत्ता अभिभूत रही।

जैन और बौद्धधर्म पर तुलनात्मक दृष्टि

बाह्य दृष्टि से जब हम जैन और बौद्ध इन दोनों धर्मों पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हैं, तो हमारे सन्मुख सहजही दो प्रश्न उपस्थित होते हैं।

१—वह कौनसा कारण है जिससे एक ही कारण से-एक एक ही समय में पैदा हुए दो धर्मों मे से एक धर्म तो बहुत ही कम समय मे सर्वव्यापी हो गया और दूसरा न हो सका।

२—वह कौन सा कारण है जिससे एक ही कारण से, एक ही समय में पैदा हुए दो धर्मों में से एक-सर्वव्यापी होने वाला धर्म तो समय प्रवाह में भारतवर्ष से वह गया और दूसरा अब तक स्थायी रूप से चल रहा है।

ये दोनो ही प्रश्न बड़े महत्वपूर्ण हैं इन्हीं प्रश्नो में इन धर्मों का बहुत सा रहस्य छिपा हुआ है इस स्थान पर संक्षिप्त रूप से इन दोनों प्रश्नों पर अलग अलग विचार करने का प्रयत्न करते हैं।

बौद्ध और जैनधर्म की अनेक साम्यताओं में से दो साम्यताएँ निम्न लिखित भी हैं।

१—दोनों ही धर्म वाले "त्रिरत्न" शब्द को मानते हैं, बौद्ध-धर्म वाले बुद्ध, धर्म और संघ को "त्रिरत्न" कहते हैं और जैन-धर्म वाले सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक्चरित्र को त्रिरत्न मानते हैं।

२—दोनों ही धर्म वाले "संघ" शब्द को मानते हैं, जैनियों मे संघ के मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका ऐसे चार भेद

किये हैं पर बौद्धों में केवल भिक्षुक और भिक्षुकी यही दो भेद किये हैं।

दोनों ही धर्मों के त्रिरान वाले मुद्रालेख खास विचार के सूचक हैं। बौद्ध लोगों का यह मुद्रालेख आधि-भौतिक अर्थ से सम्बन्ध रखता है, और जैनियों का आध्यात्मिकता से। पहले तीन रत्नों (बुद्ध, धर्म और सघ) से मालूम होता है कि ये भेद व्यवहारिकता को पूर्ण रूप से सन्मुख रख कर बनाये गये हैं। इनके द्वारा लोगों के अन्तर्गत बहुत शीघ्रता से उत्साह भरा जा सकता है। और दूसरे तीन रत्नों (सम्यक्दर्शन, सम्यकज्ञान, और सम्यकचरित्र) से मालूम होता है कि ये तीनों आदर्श और व्यवहार इन दोनों दृष्टियों को समान पलड़े पर रखकर बनाये गये हैं। इनके द्वारा मनुष्यों में बाह्य ज्वलन्त साहस का उदय तो नहीं होता पर शान्त और स्थिर मनों-भावनाओं की उत्पति होती है। पहले "त्रिरत्न" से मनुष्य क्षणिक आवेश में आता है पर दूसरे "त्रिरत्न" से स्थायी आवेश का उद्गम होता है। पहले "त्रिरत्न" में समय को देख कर उत्तेजित होने वाले असंख्य लोग सम्मिलित हो जाते हैं पर दूसरे "त्रिरत्न" में स्थायी भावनाओं वाले बहुत ही कम लोग सम्मिलित होते हैं। इस अनुमान का इतिहास भी अनुमोदन करता है, अपने चपल और प्रवर्तक उत्साह की उमंग से बौद्धधर्म हिन्दुस्थान के बाहर भी प्रसारित हो गया। पर जैनधर्म केवल भारतवर्ष में ही शान्त और मन्थर गति से चलता रहा।

"त्रिरत्न" की ही तरह "संघ" शब्द के भेद भी बड़े ही महत्व पूर्ण हैं। बौद्ध लोगों के संघ में केवल भिक्षुक और भिक्षुकी

का ही समावेश किया गया है। इस पंथ मे साधारण गृहस्थ-लोग किसी खास नाम से प्रविष्ट नही किये गये हैं। यह स्पष्ट है कि साधारण जन समाज से किसी प्रकार का व्यवस्थित सम्बन्ध रखे बिना कोई भी भिक्षु-संघ स्थायी रूप मे नहीं चल सकता। क्योकि, अपने सम्प्रदाय का अस्तित्व कायम रखने के लिये अपने अनुयायी गृहस्थजन-समुदाय से द्रव्य वगैरह की सहायता लेना आवश्यक होता है। पर अपनी अत्यन्त उदारता के कारण मनुष्य प्रकृति की कमजोरी की कुछ परवाह न करते हुए बौद्धों ने इस बात की कोई दृढ़ व्यवस्था न की। गृहस्थों को अपने संघ में विधिपूर्वक प्रविष्ट करने के लिये उन्होने कोई उपाय नहीं किया। उनके धर्म मे हर कोई प्रविष्ट हो सकता था, उसे किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा लेने की कोई आवश्यकता न होती थी। धर्मानुयायी गृहस्थों के लिए विधि-निषेध का कोई खास ग्रन्थ भी न था। उनके लिए किसी विशिष्ट प्रकार की धर्म क्रिया की व्यवस्था भी न थी। अच्छे और बुरे, सदाचारी और दुराचारी, सभी लोग बौद्धधर्म में आसानी से प्रविष्ट हो सकते थे। संक्षिप्त मे यो कह सकते है कि एक मनुष्य उनका अनुयायी होने के साथ साथ दूसरे धर्म का अनुयायी भी हो सकता था। क्योंकि उसके लिए किसी प्रकार के कोई खास नियम लागू न थे। "मैं बुद्ध के महासंघ में से एक हूँ। और उसकी धार्मिक क्रियाओं का यथेष्ट रीति से पालन करता हूँ।" इस प्रकार का धर्माभिमान रखने का अधिकार किसी बौद्धधर्म अनुयायी को न था। बौद्धधर्म की इसी उदारता के कारण उस समय अच्छे बुरे, बड़े छोटे उचे और नीचे सभी

लोग इस झगड़े के नीचे आ गये। बड़े बड़े राजा भी आये और छोटे छोटे रंक भी, अमीर भी आये और गरीब भी, सज्जन भी आये और दुष्ट भी। मतलब यह कि बौद्धधर्म सर्व व्यापी हो गया।

पर जैन श्रावकों की स्थिति इनसे बिल्कुल भिन्न थी। बौद्धानुयायियों से बिल्कुल विपरीत वे अपने संघ के एक खास अङ्ग में गिने जाते थे और अपने मुनिआर्जिकाओं के साथ वे अपना गाढ़ा सम्बन्ध समझते थे।

डाक्टर हार्नल इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि—

"इस विषय में बौद्ध लोगोंने हिमालय पहाड़ के समान भारी भूल की है। इसी भयङ्कर भूल के कारण यह विशाल धर्म अपनी जन्मभूमि पर से ही जड़ मूल से नष्ट हो गया है। ईसा की सातवीं शताब्दी में लोगों के धार्मिकवलन में फेर फार होने से हुएनसङ्ग के समय में बौद्ध-धर्म का पतन आरम्भ हुआ। इसके पश्चात् नौवीं शताब्दी में शंकराचार्य्य की भयङ्कर चोट से पछाड़ खाकर वह और भी धराशायी हो गया। आखिर जब बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में भारतवर्ष पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। तब तारानाथ और मिन्हाजुद्दीन के इतिहास में लिखे अनुसार थोड़े बहुत शेष रहे हुए बौद्ध-विहारों और चैत्यों को और भी सख्त आघात पहुँचा। जिससे बौद्ध-धर्म और भी छिन्न भिन्न होते होते अन्त में नष्ट हो गया। प्रारम्भ से ही उसने अपने उपासकों का भिक्षु-संघ के साथ में कोई गाढ़ा सम्बन्ध न रक्खा था। और पीछे से भी उसके आचार्य्यों को यह करने की न सूझी। इस भूल के कारण

उसके सब साधारण उपासक पीछे ब्राह्मण-धर्म मे सम्मिलित हो गये।

बौद्ध-धर्म के इस विनाश के समय में भी जैन-धर्म अपनी शान्त और मन्थर गति से भारत की भूमि पर चलता रहा। शङ्कराचार्य्य के भयङ्कर हमले का भी उसकी नींव पर कोई असर न हुआ। उसके पश्चात मुसलमानो के भयङ्कर आक्रमणों और समय प्रवाह के अन्य अन्य भीषण तूफानों के बीच में भी वह अटल बना रहा। इतना अवश्य हुआ कि, समय की भयङ्कर चोटों से उसकी असलियत में बहुत कुछ विकृति आ गई। वह अपने असली स्वरूप को बहुत कुछ भूल गया जैसा कि आज हम देख रहे हैं। पर इतने पर भी उसकी जड़ कालचक्र के सिद्धान्तों को उलाहना देती हुई आज भी मौजूद है।

बौद्ध-धर्म के विनाश का एक कारण और हमे प्रत्यक्ष मालूम होता है। वह यह है कि सञ्जय के अज्ञेयवाद के विरुद्ध जैनाचार्य्यों ने जिस प्रकार "स्याद्वाद" दर्शन की व्युत्पति की, उस प्रकार बौद्धाचार्य्यों ने कुछ भी न किया। उलटे सञ्जय के कई सिद्धान्तों को उन्होंने स्वयं स्वीकार कर लिया। बुद्ध ने अपने "निर्वाण" विषयक सिद्धान्तों में "अज्ञेयवाद" का पूरा पूरा अनुकरण किया। मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व रहता है या नहीं, इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने में बुद्ध बिल्कुल इन्कार करते थे। निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में किया हुआ बुद्ध का मौन, सम्भव है उस काल में बुद्धिमानी पूर्ण गिनाता होगा पर यह तो निश्चय है कि इस

बात ने बौद्धों के विकास में बहुत बड़ी बाधा दी। क्योंकि इस विषय में बौद्धमत के अनुयायी ब्राह्मण दार्शनिकों के सन्मुख पंजे टेक देते थे। अन्त में अपने धर्म का अस्तित्व रखने के निमित्त इस महान प्रश्न का जिसके विषय में कि स्वयं बुद्ध ने कोई निश्चयात्मक बात न कही थी निपटारा करने के लिए बौद्धों की सभा हुई। जिसमें बौद्ध-धर्म महायान, हीनयान आदि आदि कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। आज भी लङ्का, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में जहाँ कि ब्राह्मण दार्शनिकों की पहुँच न थी, बुद्ध का निर्वाण विषयक सिद्धान्त अपने असली रूप में प्रचलित है।

इसके अतिरिक्त कई ऐसे कारण हैं जिनसे बौद्ध-धर्म उस समय में सर्वव्यापी हो गया, और जैन-धर्म अपनी मर्यादित स्थिति में ही रहा। सिवाय इसके जैन-धर्म की मजबूती के और बुद्धधर्म की अस्थिरता के भी कई कारण हैं। जिनका विवेचन इस लघुकाय ग्रन्थ में असम्भव है।"

ऐतिहासिक खंड समाप्त।

हिन्दी की हर प्रकार की पुस्तकें

मिलने के पते—

(१) गांधी हिन्दी मंदिर

अजमेर और भानपुरा (हो० रा०)

(२) हिन्दी साहित्य-मंदिर

बनारस

(३) साहित्य-कुञ्ज-कार्यालय

भानपुरा (हो० रा०)

मनोवैज्ञानिक खण्ड

मनोवैज्ञानिक खण्ड

पहला अध्याय

ऐसा मालूम होता है कि ईसामसीह से लगभग छः सौ वर्ष पूर्व सारे भूमण्डल के अन्तर्गत एक विलक्षण प्रकार की मानसिक क्रान्ति का उद्गम हुआ था। सारी मनुष्यजाति के मनोविकारों में एक विलक्षण प्रचार की स्वतंत्रत्य भावना का एक विलक्षण प्रकार के बन्धुत्व का पादुर्भाव हो रहा था। सारे संसार के अंतर्गत एक नवीन परिपाटी का जन्म हो रहा था।

इसी काल में यूरोप के अन्तर्गत प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी "पैथेगोरस" का पादुर्भाव हुआ। इसका जन्म सभ्य यूनान की सुंदर भूमि पर हुआ था। इसने सारे संसार को एकता का दिव्य सन्देश दिया। शायद उसके पूर्व यूरोप अथवा यूनान के अन्तर्गत अनेकत्व की भावनाओं का प्रचार हो रहा होगा, भारतवर्ष की ही तरह वहां पर भी सामाजिक अशान्ति का दौरादौर होगा और सम्भवत. इसी कारण इस तत्त्वज्ञानी ने अपने दिव्य सन्देश के द्वारा लोगों की उन संकीर्ण भावनाओं को नाश करने का प्रयत्न किया होगा।

इसी काल में एशिया के अन्तर्गत एक साथ चार तत्त्वज्ञानी अवतीर्ण हुए। चीन में प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी "कनफ्यूशस" का आविर्भाव हुआ। इसने अपनी उन शिक्षाओं के द्वारा जिन्हें गोल्डन रूल (Golden rule) कहते हैं चीन के अन्तर्गत सामाजिक शान्ति की स्थापना की। करीब इसी के साथ साथ ईरान की भूमि पर प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी "जोरोस्टर" अवतीर्ण हुआ, जिसने अपने उन दो सिद्धान्तों के द्वारा जिन्हें "आरमुजड" (Armugd) और अहिंरिमन कहते हैं। (Ahiriman) जो कि प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों के विसम्वाद के सम्बन्ध में है—के द्वारा यह कार्य किया।

भारतवर्ष के अन्तर्गत "वर्द्धमान"—जिन्हें महावीर भी कहते हैं—ने प्रकट हो कर अपने उत्कट आत्मसंयम के सिद्धान्त को प्रकट किया। उन्होंने अपनी उत्कट प्रतिभा के बल से "स्याद्वाद" नामक प्रसिद्ध तत्त्वज्ञान का आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी अलौकिक सहनशीलता, दिव्य आत्म-संयम और अद्भुत त्याग के द्वारा लोगों के सन्मुख एक उज्वल आदर्श खड़ा कर दिया। सामाजिक अशान्ति को नष्ट करने और स्थायी शान्ति की जड़ जमाने के लिये उन्होंने यहां की बिगड़ी हुई जाति-प्रथा को सुधारने का—अथवा यदि न सुधरे तो नष्ट करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पूर्व प्रचलित जैन-धर्म को हाथ में लेकर उसका संशोधन किया और उसे समाज के निमित्त उपयोगी बना दिया।

महावीर के ही साथ साथ इस देश में "बुद्ध" का भी अवतार हुआ। मालूम होता है भारतवर्ष की भयङ्कर अशान्ति

का नाश करने के लिए प्रकृति ने केवल एक ही व्यक्ति को पर्याप्त न समझा। और इसीलिए उसने महावीर के पश्चात् तत्काल ही बुद्ध को भी पैदा कर दिया। बुद्ध ने और भी बुलन्द आवाज़ के साथ प्राचीन सामाजिक नियमों का विरोध किया। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति के साथ प्राचीन सामाजिक प्रथा के साथ युद्ध करके उसे बिल्कुल ही नष्ट कर दिया। महावीर ने जैन-धर्म का मार्ग जितना विस्तीर्ण रक्खा था बुद्ध ने अपने धर्म का उससे भी अधिक विस्तीर्ण मार्ग रक्खा। जैन-धर्म के अन्तर्गत उस समय वे-ही लोग प्रविष्ट होने पाते थे जो परले सिरे के आत्मसंयमी और चरित्र के पक्के होते थे, पर बुद्ध धर्म मे ऐसी कोई बाधा न थी और इसी कारण से उसने बहुत ही कम समय में समाज के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया। सारे हिन्दुस्तान में अधिकांश बौद्ध और उनसे कम जैनी नज़र आने लगे। ब्राह्मण-धर्म एक बारगी ही लुप्त सा हो गया।

संसार की इन सब क्रान्तियों का जब हम गम्भीरता के साथ अध्ययन करते हैं तो मालूम होता है कि, जब समाज का एक बलवान और सत्ताधारी अङ्ग अपने स्थूल स्वार्थ की रक्षा के निमित्त असत्य और अधर्म का पक्ष लेकर अपने से दुर्बल अङ्ग को सत्य से वंचित रखने का प्रयत्न करता है तब उस पराजित सत्य की भस्म में से एक ऐसी दिव्य चिनगारी पैदा होती है कि, जिसकी प्रचण्ड ज्वाला में उस अधर्म और अनीति की आहुति लग जाती है। उस दिव्य प्रकाश के उस दिव्यविभूति के प्रादुर्भाव मे नीति की अपेक्षा अनीति और धर्म की अपेक्षा अधर्म का ही अधिक हाथ रहता है। पराजित और प्रताड़ित सत्य को पुनः

उसके गौरव युक्त आसन पर प्रतिष्ठित करने के निमित्त ही महापुरुषों का अवतार होता है। दैवी और आसुरी सम्पद के घात प्रतिघात में जब आसुरी तत्त्व अपने स्थूल बल के प्रभाव से दैवी तत्त्व को दबा देता है, और अपने अधर्म-युक्त शासन का प्रभाव समाज पर डाल देता है, तब प्रति शासक की तरह दैवीतत्त्व का पक्ष लेकर असत्य का निकन्दन करने के निमित्त प्रकृति के गर्भागार में से एक अमोघ वीर्यवान आत्मा अवतीर्ण होती है। इस अमोघ-शक्ति को लोग "अवतार" की संज्ञा देते हैं। इन पुरुषो के अवतरण का मुख्य हेतु जगत की सार्वदेशिक प्रगति के विरुद्ध जो विघ्न आते रहते हैं उनको दूर करने का होता है। "महत्ता" केवल सामर्थ्य पर ही अवलम्बित नहीं है। प्रत्युत विघ्नों के दूर करने में सामर्थ्य का जो उपयोग होता है उसी पर अवलम्बित है। जितने ही भयकंर विघ्नों और प्रति बन्धों के विरुद्ध उसका उपयोग होता है उतनी ही अधिक उसकी महत्ता होती है। संसार के इतिहास में जितने भी महापुरुषों ने पूज्यनीय स्थान प्राप्त किया है, वह केवल सामर्थ्य के प्रभाव से ही नहीं प्रत्युत उस सामर्थ्य के द्वारा अधर्म के विरुद्ध क्रान्ति उठा कर ही किया है। क्रियाहीन सामर्थ्य का उल्लेख इतिहास के पन्नों में नहीं रहता। वस्तुतः देखा जाय तो इन महात्माओं को आकर्षण करने की शक्ति अधर्म में नहीं होती पर जब अधर्म का प्राबल्य धर्म को दबोच देता है—उसे तत्त्वहीन बना, देता है तब प्रताड़ित सत्य की दुख भरी पुकार ही उन्हें उत्पन्न होने को वाध्य करती है।

इस पुस्तक के ऐतिहासिक खण्ड को पढ़ने से पाठक अवश्य

समझ गये होंगे कि उस समय भारतीय समाज की ठीक यही स्थिति हो रही थी, ब्राह्मणों का बलवान अङ्ग शूद्रों के निर्बल अङ्ग के तमाम अधिकारों को छीन चुका था और पुरुषों का सबल अङ्ग स्त्रियों के निर्बल अंग को तत्त्व हीन कर चुका था। पशुओं के प्राणों का कुछ भी मुल्य नहीं समझा जाता था। हज़ारों, लाखों प्राणी दिन दहाड़े यज्ञ की पवित्र वेदी पर तलवार के घाट उतार दिये जाते थे। उनके अन्तःजगत में अशान्ति की भीषण ज्वाला धधक रही थी। वे लोग बड़ी ही उत्कण्ठा के साथ ऐसे पुरुष की राह देख रहे थे जो उस ज्वाला का—उन मनोविकारों का स्फोट कर दे। महावीर और बुद्ध ने प्रकट हो कर यही कार्य किया उन्होंने अपने असीम साहस और उत्कट प्रतिभा के बल से लोगों के इन अंतर्भावों को वाह्य क्रान्ति का रूप दे दिया।

हमारा विश्वास है कि यदि ये दोनों महात्मा लोगों की मनोवृतियों के अनुकूल न रहते हुए उनकी भावनाओं के प्रतिकूल कोई क्रान्ति उपस्थित करते तो कभी उन्हें इतनी सफलता न मिलती, पर वे तो मनोविज्ञान के पूरे पण्डित थे, समाज के इसी मर्ज को और धर्म के असली तत्त्व की खोज में ही उन्होंने अपनी ज़िन्दगी के बारह वर्ष व्यतीत कर दिये थे। उनसे ऐसी बड़ी भूल कैसे हो सकती थी। उन्होंने बहुत ही सूक्ष्मता से लोगों की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर अपने अपने धर्म का मुख्य सिद्धान्त "अहिंसा" और "साम्यवाद" रक्खा। उन्होंने अपनी अतुल-प्रतिभा के द्वारा लोगों की मनोवृत्तियों का नेतृत्व Lead करना शुरू किया। और मालूम होता है इसी कारण तत्कालीन समाज ने उन्हें तुरत ही अपना नेता स्वीकार कर लिया।

जैन और बौद्ध इन दोनों धर्मों का जब हम अध्ययन करते हैं तो मालूम होता है कि इन दोनों धर्मों के मोटे मोटे सिद्धान्त प्रायः समान ही हैं। कई सिद्धान्तों में तो आश्चर्य्यजनक समानता पाई जाती है, मत भेद उन्हीं स्थानों पर जाकर पड़ता है जहां पर कि साधारण जनता की पहुँच नहीं है। जहां तक हम सोचते हैं इस समानता का प्रधान कारण हमें तत्कालीन समाज की रुचि ही मालूम होती है। दोनो ही महापुरुषो ने लोक रुचि के विरुद्ध पैर रखना उचित न समझा और इसी कारण उनमें आश्चर्य्य जनक समानता पाई जाती है, दोनों ही धर्मों का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा है। यदि हम यह भी कह दें कि, इसो उज्वल तत्त्व पर दोनों धर्मों की नींव रक्खी हुई है तो भी अनुचित न होगा। अब हम यदि इस विषय पर विचार करें कि इनका प्रधान तत्त्व "अहिंसा" और "साम्यवाद" ही क्यो हुआ तो इसका समाधान करने के लिए इतिहास तत्काल ही हमारे सम्मुख उस समय के "हिंसाकाण्ड" का और 'असम्यता' का चित्र खींच देता है, बस, तत्काल ही हमारा सन्तोष कारक समाधान हो जाता है।

यहां तक तो हमने उस समय की स्थिति और उसके साथ प्रकृति के लगाव का वर्णन किया अब हम अपने ग्रन्थ-नायक भगवान महावीर की जीवनी पर मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से कुछ विचार करना चाहते हैं। क्योंकि जब तक हमे यह मालूम नहीं हो जाता कि महावीर किस प्रकार-महावीर हुए, किस प्रकार उनके जीवन का क्रम विकास हुआ, किन किन परिस्थितियो के कारणवे संसार की बड़ी हस्तियों में गिनाने के लायक हुए-तब तक

उनके जीवनी का आधे से अधिक भाग कोरा रह जाता है। महावीर एक महापुरुष हो गये हैं—जो जैनियों के अन्तिम तीर्थंकर थे। केवल इतना ही कहने से लोगों को सन्तोष नहीं हो सकता, न उनमें कुछ लाभ ही हो सकता है। जिन घटनाओं के अंतर्गत महावीर के जीवन का रहस्य छिपा हुआ है, जिन तत्वों से मनुष्य जीवन का मुश्किल-आसान हो जाता है, उन घटनाओं और तत्वों को जब तक हम पूर्णतया न जानलें तब तक जीवन-चरित्र का सारा कार्य्य अधूरा ही रह जाता है।

हमारे दुर्भाग्य से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री बहुत ही कम प्राप्त है। अत्यन्त दौड़ धूप के पश्चात किसी प्रकार चन्द्रगुप्त तक तो लोग पहुँचे हैं पर उसके बाद तो प्रायः अन्धकार ही है। पाश्चात्य विद्वान पुराणों और दन्त-कथाओं के आधार पर कुछ अनुमान निकालते अवश्य हैं पर कुछ समय के पश्चात यह अनुमान उन्हें ही गलत मालूम होने लगता है। भगवान महावीर के सम्बन्ध में भी यदि यही बात कही जाय तो अनुचित न होगा, बौद्ध और जैन-ग्रन्थों के आधार से यद्यपि कुछ विद्वानों ने कुछ बातों का निपटारा कर लिया है। पर उसमें भी बहुत मतभेद है। विद्वान भी बेचारे क्या करें, कहाँ तक तर्क लगावें आखिर उनके आधार स्तम्भ तो प्राचीन ग्रन्थ ही रहते हैं। उन प्राचीन ग्रन्थों में आपस में ही मत भेद पाया जाता है। श्वेताम्बरी कहते हैं कि महावीर स्वामी का गर्भ हरण हुआ था। दिगम्बरी कहते हैं कि, नहीं हुआ। इधर दिगम्बरी कहते हैं कि महावीर बाल ब्रह्मचारी थे तो श्वेताम्बरी कहते हैं कि नहीं

उनका विवाह हुआ था, और उस विवाह से उनको एक कन्या भी हुई थी। महावीर की पत्नी का नाम यशोदा और कन्या का नाम प्रियदर्शना था। ऐसी हालत में विद्वान् क्या करें "किसको झूठा माने और किसको सच्चा" उनके पास कोई ऐसा प्राचीन शिलालेख या ताम्रपत्र तो है ही नहीं जिसके बल पर वे निर्द्वन्दता-पूर्वक एक को झूठा और दूसरे को सच्चा कह दें। ऐसी हालत में सिवाय अनुमान-प्रमाण के और कोई आधार शेष नहीं रह जाता।

इस स्थान पर हम कल्पसूत्र आदि प्राचीन ग्रन्थों और अनुमान के आधार पर महावीर के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातों का विवेचन करेंगे। इस भाग में उनके जीवन का वही भाग सम्मिलित रहेगा जो मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। शेष बातें पौराणिक खण्ड में लिखी जायंगी।

यह बात प्रायः निर्विवाद है कि भगवान महावीर संसार के बड़े से बड़े पुरुषों में से एक हैं। इतिहास में बहुत ही कम महापुरुष उनकी श्रेणी में रखने योग्य मिलते हैं। लेकिन भारत के दुर्भाग्य से या यों कहिये कि हमारी अन्धश्रद्धा के कारण हम लोग उन्हें मानवीयता की सीमा से परे रखते हैं। हम लोग उन्हें अलौकिक, मर्त्य लोक की सृष्टि से बाहर और दुनियाँ के स्पर्श से एकदम मुक्त मानते हैं। और इसी कारण हम लोग महावीर की उतनी कद्र नहीं कर सके जितनी हमें करना चाहिये। महावीर के जीवन का महत्व इसमें नहीं है कि वे अलौकिक महापुरुष की तरह पैदा हुए और उसी

हालत में मोक्ष गये। बल्कि महावीर के जीवन का महत्व इसी में है कि, मनुष्य जाति के अन्दर पैदा होकर भी, उस वायुमण्डल में जन्म लेकर भी उन्होंने परम पद को प्राप्त किया। महावीरस्वामी यदि प्रारम्भ से ही अलौकिक थे, और यदि उन्होंने अलौकिकता में से ही अलौकिक पद प्राप्त किया, तो इसमें उनका कोई वीरत्व प्रदर्शित नहीं होता और न उनका जीवन ही हम लोगों के लिये आदर्श हो सकता है। क्योंकि हम लोग तो लौकिक हैं। हमें तो लौकिकता में से अलौकिकता प्राप्त करना है। हमें तो नर से नारायण होना है। इसलिए हमारे लिये उसी मनुष्य का जीवन आदर्श हो सकता है जो हमारी तरह मनुष्य रहा हो और उसी मनुष्यत्व में से जिसने देवत्व प्राप्त किया हो। सारी मनुष्य जाति को इसी प्रकार के आदर्श की आवश्यकता है।

मनुष्य प्रकृति के अन्दर निर्बलता की जो बिन्दुएँ हैं, मनुष्य के मनोविकारों में कमजोरी की जो भावनाएँ हैं और भावनाओं को नष्ट करने के निमित्त जिस पुरुषार्थ की आवश्यकता है वह पुरुषार्थ यदि भगवान महावीर में न था, यदि वे किसी अलौकिक शक्ति के प्राप्त से इतने ऊँचे पद को प्राप्त हुए तो इसमें उनकी क्या विशेषता? वह तो प्रकृति का ही काम था, इस प्रकार के महावीर तो संसार के आदर्श नहीं हो सकते।

लेकिन वास्तविक बात इस प्रकार की नहीं है, महावीर के विषय में इस प्रकार की धारणा करना हमारी भूल है, उसमें हमारा ही दोष है। यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से महावीर के जीवन का अध्ययन करें तो हमें मालूम होगा कि, महावीर का जीवन

मनुष्य की उन्हीं प्रवृत्तियो का क्रमविकास है जो साधारण मनुष्यों मे भी पाई जाती हैं। मनोविज्ञान के उन सब सूक्ष्म तत्वों का महावीर के जीवन में समावेश था। जो हम लोगों के अन्दर भी पाये जाते हैं। अन्तर केवल इतना ही था कि हम लोग अपनी कमजोरी के कारण या यों कहिये कि नैतिकवल की हीनता के कारण उन तत्वों का विकास करने मे असमर्थ रहते हैं। हम प्रकृति की दी हुई अपार शक्तियो को अपनी दुर्बलता के कारण नही पहचान पाते हैं और महावीर ने अपने असीम पुरुषार्थ के तेज से, अपने अपार नैतिक वल के साहस से अपनी सब शक्तियो को पहचान लिया था। उन्होंने वहुत ही वहादुरी के साथ उन सब मोह के आवरणो को फाड़कर फेंक दिया था जो मनुष्य की दिव्य शक्तियों पर पड़े रहते हैं।

"महावीर," "महावीर" थे, उनमें इच्छाओं को दमन करने की असीम शक्ति थी। उनमे मनोविकारो पर विजय पाने का अद्भुत पुरुषार्थ था। वे हमारे समान साधारण मनुष्यों की तरह कमजोर न थे—इच्छाओ के गुलाम न थे। उनमें चरित्र का तेज था, ज्ञान का बल था वे मानव जीवन की वास्तविकता को समझते थे। हां वे उन तत्त्वों के अनुगामी थे जिनके द्वारा मनुष्य परम-पद को, अपने वास्तविक रूप को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण भगवान् महावीर हमारे आदर्श हैं। इसी कारण वे संसार के पूजनीय हैं।

भगवान् महावीर में इतर लोगो से क्या विशेषता थी। वे एक साधारण राजघराने मे पैदा हुए थे। हमारे इतने सुयोग्य भी उनको प्राप्त न थे। यह बात हर कोई जानता है कि, एक

साधारण मनुष्य को अध्यात्म विषय का अध्ययन करने में जितनी सुगमता हो सकती है उतनी एक राजकुमार को नही मिल सकती। ऊँचे ऊँचे विलास मन्दिरों मे अनेक विलास-सामग्रियों के बीच विरले ही महापुरुषों को वैराग्य का ध्यान आता है, ऐसी प्रतिकूल स्थिति के अन्तर्गत रहते हुए भी उनके अन्दर वैराग्य की चिनगारी किस प्रकार प्रवेश कर गई इसी एक बात में महावीर के जीवन का रहस्य छिपा हुआ है, अखण्ड राज्य वैभव के मार्ग मे ऐसा कौनसा सत्य, ऐसा कौनसा सुख, ऐसी कौनसी शान्ति दृष्टि गोचर हुई कि जिसके प्रलोभन में आकर उन्होंने अपार राज लक्ष्मी को, आदर्श मातृप्रेम को, और उस पत्नी-प्रेम को, जहा मे शक्ति की सुन्दर तरगिणी का उद्गम होता है, लात मार कर जगल का रास्ता लिया। एक गरीब मनुष्य जो संसार का भार सहन करने में असमर्थ है, जो दोनों समय पूरा भोजन भी नहीं पा सकता, जो ससार के तमाम सुखों से वञ्चित है, दरिद्रता का पाश जिसके गले में पड़ा हुआ है, अत्यन्त दुखों से तग आकर यदि वैराग्य को ग्रहण कर ले तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर भगवान् महावीर की ऐसी स्थिति न थी। उनके प्राण से भी अधिक प्रिय माता थी। सुंदर, सुशील, और सद्गुण-शालिनी पत्नी थी, उदार पिता थे। राज्य था। राज्य-भक्त प्रजा थी और उसके साथ ही साथ अत्यन्त वैभव था। इन सब बातों का त्याग करके मुट्ठी भर धूल की तरह इन सब सामग्रियों को छोड़कर उन्होंने मुनिवृत्ति ग्रहण की इसी आश्चर्य जनक बात में महावीर के जीवन की वास्तविकता छिपी हुई है।

हमारे दुर्भाग्य से हमें भगवान् महावीर के बाल्यकाल, शिक्षा

काल, यौवन काल, और दीक्षाकाल का कोई भी प्रामाणिक इतिहास देखने को नहीं मिलता। देखने को केवल ऐसी ऐसी बातें मिलती हैं कि जिन पर आज कल का बुद्धिवादी जमाना बिल्कुल विश्वास नहीं कर सकता। और जिस बात पर विश्वास नहीं किया जा सकता उसके आदर्श रूप मे किस प्रकार परिणित किया जा सकता है।

भगवान महावीर का बाल्यकाल।

भगवान महावीर का बाल्यकाल किस प्रकार व्यतीत हुआ। यह जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है, हम इस बात को नहीं जानते कि, बालकपन में उनका क्रम विकास किस ढङ्ग से हुआ। उनकी बालकपन की चेष्टाएं किस प्रकार की थीं। असल मे देखा जाय तो मनुष्य के भविष्य का प्रतिबिम्ब उसके बाल्य-जीवन पर पड़ता रहता है। मनुष्य संस्कारों का संग्रह बालकपन मे ही करता है। भविष्य में उनका विकास मात्र होता है, इस लिये किसी भी व्यक्ति का जीवन चरित्र लिखने के पूर्व उसके बाल्यकाल को अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। पर भगवान महावीर के बाल्यकाल के विषय मे हमारे ग्रन्थ कुछ भी प्रमाण भूत तत्त्व नही देते। वे केवल इतना ही कह कर चुप हैं कि, भगवान, मति, श्रुति, अवधि नामक तीन ज्ञानो को साथ ले कर उत्पन्न हुए थे। वे हमारे सामने केवल एक गढ़ी गढ़ाई प्रतिमा की तरह दिखलाई पड़ने लगते हैं। इसमें हमें यथार्थ सन्तोष नहीं होता। हम मनुष्य हैं, हम हमारे पूज्य नेता को मनुष्य रूप में देखना चाहते हैं। मानवीयता का जो महत्व है,

मनुष्यत्व का जो सौन्दर्य्य है उसी को हम भगवान महावीर में देखना चाहते हैं। हम उन्हें मनुष्य जाति के सन्मुख आदर्श रूप में रखना चाहते हैं। हम उनके जीवन से मनुष्य जाति को एक सन्देशा देना चाहते हैं। और इसीलिये हमे उनके बाल्य-जीवन को पूर्ण रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता है। हमें यह जानने की अनिवार्य्य आवश्यकता है कि, भगवान महावीर की दिनचर्य्या किस प्रकार थी। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किस प्रकार था, आदि आदि पर हमारे शास्त्रों में इस प्रकार कोई विशद विवेचन नहीं दिया गया है।

फिर भी कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में महावीर के पिता सिद्धार्थ की जो दिनचर्य्या दी हुई है, उससे महावीर की दिनचर्य्या का कुछ कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कल्पसूत्र में सिद्धार्थ की चर्य्या का जो वर्णन किया है उसका संस्कृत रूप हम नीचे देते हैं।

"बालात वकुङ्कु में खीचते जीव लोके, शयनीय्युतिष्ठति पाद-पीठा प्रत्पवरति प्रत्युवतार्य्य यत्रेवाहन शालातत्रेवोया गच्छति उपगन्याह्नशाला मनु प्रविशनि" अनुप्रविश्या, नेकव्यायाम, योग्य वालान व्यामर्दन मल्लयुद्ध करेण' श्रान्त परिश्रान्त, शतपाक सहस्रे सुगंधवर तैलादि भीः प्रीणनीचे दीपनीवै. दर्पनीचे, मर्द-नीचैः वृहणीयेः सर्वेन्द्रियगात्र-प्रल्हाल नीचैः अभ्यङ्गितः सन प्रति पूर्ण पाणि पाहु, सुकुमाल कमल तलैः इत्यादि विशेषण युक्तैं' पुरुषैः सवाधनया संवाहिताः अपगत परिश्रमः अपून शालायः प्रतिनिष्कामति"

सूर्य्योदय के अनन्तर सिद्धार्थ राजा अट्टनशाला अर्थात्

व्यायाम शाला में आते थे। वहाँ वे कई प्रकार के दण्ड बैठक, मुग्दर उठाना आदि व्यायाम करते थे। उसके अनन्तर वे मल्ल-युद्ध करते थे इसमें उनको बहुत परिश्रम हो जाता था। इसके पश्चात शतपक तैल-जो सौ प्रकार के द्रव्यों से निकाला जाता था, और सहस्त्रपक तैल जो एक हजार द्रव्यों से निकाला जाता था—से मालिश करवाते थे, यह मालिश रस रुधिर धातुओं को प्रीति करनेवाला—दीपन करनेवाला, बल की वृद्धि करनेवाला और सब इन्द्रियों को आल्हाद देने वाला होता था।

व्यायाम के पश्चात् सिद्धार्थ स्नान करते थे। इस स्नान का वर्णन भी कल्पसूत्र में बड़े ही मनोहर ढङ्ग से किया गया है, इस प्रकार यदि हम सिद्धार्थ की दिनचर्य्या का अध्ययन करते हैं तो वह बहुत ही भव्य मालूम होती है। पिता के इन संस्कारों का प्रभाव महावीर के जीवन पर अवश्य पड़ा होगा, इन सब बातों से यह भी मालूम होता है कि, उस समय उनके आसपास का वायुमण्डल बहुत ही शुद्ध और पवित्र था। शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक उन्नति के सब साधन उनको प्राप्त थे। ऐसा मालूम होता है कि, भगवान महावीर की शारीरिक सम्पति तो बहुत ही अतुल होगी। कदाचित इसी कारण उनका नाम "वर्धमान" से महावीर पड़ गया हो।

महावीर स्वामी की शिक्षा प्रबन्ध वगैरह के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हमारे शास्त्रों में उन्हें जन्म से ही, मति, श्रुति, अवधि ज्ञान के धारक माने हैं। इस-

लिए इस विषय पर शङ्का उठाना ही निर्मूल है। हाँ यदि काल ने पलटा खाया और बुद्धिवाद का और भी अधिक विकास हुआ तो सम्भव है कि, उस समय इस विषय पर अधिक विचार होगा।

कल्पसूत्र के अन्दर लिखा है कि माता पिता ने मोह में पागल होकर तीन ज्ञान के धारी भगवान् को एक अल्प बुद्धि शिक्षक के पास पढ़ने को रक्खा। भगवान ने उस शिक्षक को पहले ही दिन पराजित कर दिया। आदि।

इन बातों से सहज ही यह निस्कर्ष निकाला जा सकता है कि भगवान महावीर बाल्य-काल से ही अद्भुत बुद्धिशाली, अपूर्व प्रतिभावान और तेजस्वी थे।

इसमें सन्देह नहीं कि भगवान महावीर के जीवन का एक एक भाग अध्ययन करने योग्य है। उनका जीवन बहुत ही आदर्श था। पर यह सारा चमत्कार वहीं तक रहता है, जब तक हम उनको एक आदर्श मनुष्य रूप में देखते हैं। प्रारम्भ से ही यदि हम उन्हे अलौकिक प्रतिभाशाली (Supper human) मान लें तो यह सारा चमत्कार नष्ट हो जाता है।

एक अंग्रेज लेखक ने महावीर के जीवन पर प्रकाश डालते हुए क्या ही अच्छा कहा है।:—

But I want to interprete Mahabira's life as rising from "Manhood to Godhood" and not as from "Godhood to super Godhood". If that were so I would not even touch Mahabira's Life as we are not Gods but men Men is the greatest subject for man's study. There is a sufficient education for humanity, and so humanity will leave

Gods to themselves. This spirit of leaving Gods to Gods themselves, has entered into us long since. We are trying our atmost to turn our Gods into men and the community which best succeeds in doing is the most reasonable and acceptable for humanity. "Wonder is going out of world" says bearlyle and that being the sign of the time we must raise ourself to that sign, otherwise we are behind the times. Not to be with the current of times means, we have reached a pinnacle of progress which the common sense of humanity has not obtained or we are rolling into depth of degradation that we are not able to overun progress We feel that we are backward people and that individual feeling I take to be the best proof of our degradation

लेखक के कथन का भावार्थ यह है कि महावीर के जीवन का अर्थ मेरे मतानुसार यह है कि वे मनुष्यत्व से ईश्वरत्त्व की ओर बढ़े हैं, न कि ईश्वरत्त्व से परमेश्वरत्व की ओर। अगर वे ईश्वरत्व से परमेश्वरत्व की ओर बढ़ते तो मैं उनके जीवन को स्पर्श तक न करता। इसका कारण यह है कि हम मनुष्य हैं देवता नहीं, मनुष्य ही मनुष्य के लिये सबसे अधिक अध्ययन करने की वस्तु है। मनुष्य जाति के लिये शिक्षाग्रहण करने योग्य बहुत ही वस्तुएँ हैं इसलिए वह ईश्वर को एक तरफ छोड़कर अपने आप ही के अध्ययन को स्वभावतः अधिक पसन्द करेगी। ईश्वर को ईश्वर ही के लिये छोड़ दिया जाय यह भावना एक दीर्घकालीन समय से मानवीय मन में स्थापन किये हुए हैं। हम ईश्वर को मनुष्यो मे परिणित करने का प्रयत्न कर रहे है एवं जो समाज इस कार्य में अधिक प्रयत्नशील है वह मनुष्य जाति के लिए

सब से अधिक ग्राह्य है। "चमत्कार संसार से बाहर निकाला जा रहा है। कालाईल की इस युक्ति में समय का चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहा है और इस समय-चिन्ह के अनुसार ही हमें सुधार करने की आवश्यकता है अगर हम ऐसा नहीं करेंगे। तो बहुत पीछे पड़ जावेंगे, समय के साथ गति न करना मानो इस बात को प्रकट करना है कि, हम अपने पतन के लिए गहरा गड्ढा खोद रहे हैं। हम यह बात महसूस करते हैं कि हमारी जाति एक पिछड़ी हुई जाति है, हमारा ऐसा खयाल करना ही हमारे पतन का सब से अच्छा और सब से शानदार सबूत है।"

चाहे हम लोग इसके विरोध मे कितनी ही शक्तियां लगावें, पर तब तक हम कभी आगे नहीं आ सकते जब तक हम अपने आदर्श को मानवीय रूप मे अपने सम्मुख न रक्खें और उसीके समान अपनी जीवन यात्रा को संयमित न कर लें।

यौवन-काल

बाल्यावस्था समाप्त किये बाद भगवान महावीर का विवाह हुआ या नहीं इस विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थकारों मे बड़ा मतभेद है। दिगम्बर ग्रन्थकारों का कथन है कि भगवान् ने आजन्म पर्य्यन्त विवाह नहीं किया, वे बाल ब्रह्मचारी थे। श्वेताम्बर ग्रन्थ इसके बिलकुल विरोध मे है। उनके अनुसार भगवान् महावीर ने "यशोदा" के साथ विवाह किया था और उससे उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी।

इन दोनों मतभेदों में से सत्य निष्कर्ष का निकलना बहुत ही कठिन है। क्योंकि हमारे पास ऐसे तो कोई सबल प्रमाण है ही

नहीं, जिनके आधार पर हम दोनों में से एक बात को दावे के साथ कह सके। केवल अनुमान बल पर हम इस पर कुछ विचार कर सकते हैं—यदि हम भगवान् महावीर के जीवन को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करें और सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो हमे कहना पड़ेगा कि भगवान् का विवाह होना ही अधिक सम्भव है। इस स्थान पर हम स्वयं अपनी ओर से कुछ न कह कर केवल एक दिगम्बरी विद्वान की सम्मति ही दे देना अधिक पसन्द करते है। उन महाशय ने बहुत अध्ययन के पश्चात् अपना निम्नांकित मत स्थिर किया है।

"दिगम्बर धर्मशास्त्र इस बात को स्वीकार नहीं करते कि, भगवान् महावीर ने विवाह किया था। वे उनको बाल ब्रह्मचारी मानते हैं। पर इस बात की पुष्टि के लिये उनके पास कोई आगम-सिद्ध प्रमाण नहीं। हमारे चौबीस तीर्थंकरों मे चाहे जिस तीर्थंकर को देखिये (एक दो को छोड़ कर) आप गृहस्थ ही पायंगे। ऋषभनाथ स्वामी के तो कई पुत्र थे। इसके अतिरिक्त हमारे पास इस बात का कोई सबल प्रमाण भी नही कि जिसके द्वारा हम महावीर को ब्रह्मचारी सिद्ध कर सकें। भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी ग्रन्थों मे कल्पसूत्र अपेक्षाकृत अधिक पुराना है, अतः उसके कथन का प्रमाणभूत होना अधिक सम्भव है इसके सिवाय और एक ऐसा कारण है जिससे उनके विवाह का होना सम्भवनीय हो सकता है।"

"यह बात निर्विवाद है कि भगवान महावीर अपने माता-पिता के बहुत ही प्रिय पुत्र थे। वे स्वयं भी माता-पिता और भाई पर अगाध श्रद्धा रखते थे। यहां तक कि उन्होंने अपने भाई

के कथन से दीक्षा सम्बन्धी उच्च भावनाओं को दो वर्ष के लिए मुल्तवी कर दीं। ऐसी हालत में क्या माता पिता की इच्छा उनका विवाह कर देने की न हुई होगी? क्या तीस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने अपने प्राणप्रिय कुमार को विना सह-धर्मिणी के रहने दिया होगा। जिस काल में विना वहू का मुंह देखे सास की सद्गति ही नहीं वतलाई गई है। उस काल की सासुएँ और जिसमें भी महावीर के समान प्रतिभाशाली पुत्र की माता का विना वहु के रहना कम से कम हमारी दृष्टि में तो विलकुल अस्वाभाविक है, इसके अतिरिक्त यह भी प्राय. असम्भव ही मालूम होता है कि महावीर ने इस वात के लिए अपने माता पिता को दुखित किया हो, ? ये सब ऐसी शङ्कायें हैं जिनका समाधान कठिन है। ऐसी हालत मे यदि हम यह मान लें कि भगवान महावीर ने विवाह किया था तो कोई अनुचित न होगा।"

उपरोक्त दिगम्बरी विद्वान का यह कथन कई अंशों में उचित मालूम होता है।

यदि भगवान महावीर को मनुष्य की तरह मान कर इस वात को हम मनोविज्ञान की कसोटी पर भी जाचें तो भी उपरोक्त वात ठीक जँचती है। एक वलवान, धैर्य्यवान, और वुद्धिवान युवक का तीस वर्ष तक कुमारावस्था में रहना साधारणत प्रकृति के विरुद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि महावीर साधारण मनुष्य प्रकृति से वहुत ऊपर (Supper human) थे। पर इससे क्या वे मनुष्यत्व से विल्कुल ही परे तो नहीं थे, इसके सिवाय विवाह करना कोई पाप थोड़े ही है। यह

तो गृहस्थ का धर्म है, उनके पूर्व कालीन प्रायः सभी तीर्थंकरोंने [एक दो छोड़ कर] विवाह किये थे। इसके सिवाय उनकी परिस्थिति भी विवाह के सर्वथा अनुकूल थी। ऐसी हालत में मनोविज्ञान की दृष्टि के अनुसार भी उनका विवाह करना ही अधिक सम्भवः माना जा सकता है अब आदर्श की दृष्टि से लीजिए। यदि हम महावीर को गृहस्थ धर्म की राह मे विकास करते देखते हैं तो हमें प्रसन्नता होती है। हमारे हृदय के अन्दर इस भावना का संसार होने लगता है किमहावीर की ही तरह हम भी गृहस्थाश्रम के मार्ग से होते हुए ईश्वरत्व की ओर जा सकते हैं।

आदर्श जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य की साधारणतया दो अवस्थाएँ होती हैं। इन दोनों अवस्थाओ को अंग्रेजी में क्रमशः ? Self Aasertion और Self Realization कहते हैं। इन दोनों को हम प्रवृति मार्ग और निवृति मार्ग के नाम से कहे तो अनुचित न होगा। इन दोनो मार्गों में परस्पर कारण और कार्य्य का सम्बन्ध है। पहली अवस्था में मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम को सम्पन्न करने की आवश्यकता होती है। यह प्रवृति शरीर और मन दोनों से सम्बन्ध रखती है। पैसा कमाना, विवाह करना, व्यवसाय करना, अत्याचार का सामना करना, आदि गृहस्थाश्रम में पालनीय वस्तुएँ इस अवस्था का बाह्य उपदेश रहता है। पर वास्तविक उद्देश्य उसका कुछ दूसरा ही रहता है। वास्तविक रूप से देखा जाय तो बाह्य जगत को यह सब क्रियाएँ जीवन की वास्तविक स्थिति को प्राप्त करने की पूर्व तैयारियाँ हैं। बिना

इन क्रियाओं के मनुष्य जीवन के वास्तविक उद्देश्य पर सफलता पूर्वक नहीं पहुँचा जा सकता।

हमारे प्राचीन शास्त्रकार दूरदर्शी थे। मनुष्य स्वभाव के अगाध पण्डित थे। वे जानते थे कि, विना गृहस्थाश्रम का पालन किये सन्यस्ताश्रम का पालन करना महा कठिन है।

प्रवृति और निवृति जीवन उत्थान के ये दो मार्ग हैं। प्रवृति से यद्यपि जीवन का विकास नहीं हो सकता तथापि जीवन के विकास के लिए उसकी आवश्यकता अनिवार्य्य है, विना प्रवृति मार्ग के ज्ञान और अनुभव मे निवृति मार्ग मे पहुँचना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य की गृहस्थाश्रम अवस्था इसी प्रवृति मार्ग का द्वार है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके मनुष्य उन सब मोहनीय पदार्थों को पाता है, वह उसका अनुभव करता है, उनमें आनन्द की खोज करता है, करते करते जब वह थक जाता है, तृप्ति की खोज करते करते थक जाने पर भी जब उसे तृप्ति नहीं मिलती तब उसे प्रवृति मार्ग की अपूर्णता का ज्ञान होता है। वह उससे ऊपर उटता है, पूर्णता प्राप्त करने के लिए अन्त मे उसे निवृति मार्ग में प्रवेश करना पड़ता है, और तभी वह अपने उद्देश्य मे सफल भी होता है।

मनुष्य की यह एक स्वाभाविक प्रवृति है कि जब तक वह किसी चीज़ का स्वय अनुभव नहीं कर लेता, जब तक वह उसकी मिथ्यावादिता का स्वय स्पर्श नहीं कर लेता तब तक उस वस्तु मे उसका स्वाभाविकतया ही एक प्रकार का मोह रहता है। जो लोग प्रवृति मार्ग का विना तर्जुबा किये ही निवृति मार्ग में प्रवेश कर जाते हैं। उन लोगो की भी प्रायः यही अवस्था होती है—

उन्हें इस बात का कुछ न कुछ अणुमात्र सन्देह रह ही जाता है कि प्रवृति मार्ग में भी सुख हो सकता है। क्योंकि उस मार्ग का उन्हें कच्चा चिट्ठा तो मालूम रहता ही नहीं। वे उस मार्ग की त्रुटियों को तो जानते ही नहीं सारे संसार को सुख की खोज में उधर ही गति करते हुए देख कर यदि उनके हृदय में रंचमात्र इस भावना का उदय भी हो जाय तो क्या आश्चर्य्य !

इसलिए प्राय. सभी धर्मों के अन्तर्गत प्रवृति-मार्ग या गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दी है। जैन धर्म्मशास्त्रों से भी इस प्रवृति मार्ग का खूब ही विस्तृत वर्णन किया है. हमारे तीर्थङ्करों, चक्रवर्तियों, नारायणों आदि शलाका के महापुरुषों के वैभव का. उनके विलास का वर्णन करने में उन्होंने कमाल कर दिया है। और इन सुखों की प्राप्ति का कारण पूर्वजन्म कृत पुण्यों को बतलाया है। इसी से पता चलता है कि हमारे धर्म्मशास्त्रों में प्रवृति मार्ग को कितना अधिक महत्व दिया है। प्रवृति मार्ग में पूर्णता प्राप्त होना भी पूर्व जन्म के पुण्य का सुचक माना गया है। क्योंकि जब तक मनुष्य सांसारिक सुख भोग में अपूर्ण रह जाता है तब तक उन भोगों से उसकी विरक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जो भोग उसे प्राप्य हैं उन्हीं मे उसे सुख की पूर्णता दिखलाई देती है, और उन्हीं के मोह में वह भटका करता है। उनके कारण वह दुनियां से निवृत नहीं हो सकता। पर जब उसे संसारसंभव सब विलासों और सुखों की प्राप्ति हो जाती है और फिर भी उसकी तृप्ति नहीं होती, तभी उसे ससार की ओर से निवृति हो जाती है और इसीलिये प्रवृतिमार्ग में पूर्णता का होना पूर्वजन्म के अनेक पुण्यों का फल माना गया है।

दिगम्बर शास्त्रों में वर्णित भगवान् महावीर के जीवन को हम देखते हैं तो हमें मालूम होता है कि उनके गार्हस्थ्य जीवन में सांसारिक भोगों की (प्रवृत्ति मार्ग में) अन्य पूर्णताओं के होते हुए भी विवाह सम्बन्धी अपूर्णता रह गई थी। भगवान् महावीर के गार्हस्थ्य जीवन की यह अपूर्णता क्या ऐतिहासिक दृष्टि से, क्या व्यवहारिक दृष्टि से, क्या आदर्श की दृष्टि से और क्या दार्शनिक दृष्टि से, किसी भी प्रकार की बुद्धि को मान्य नहीं हो सकती। इस बारे में श्वेताम्बर-ग्रन्थों का कथन ही हमें अधिक मान्य मालूम पड़ता है।

बुद्ध का जीवनचरित्र इन सब बातों में आदर्श रूप है। उनके जीवन में प्रवृत्ति मार्ग की पूर्णता, उसकी वास्तविकता, उससे विरक्ति और अन्त में निवृत्ति मार्ग में प्रवेश बतलाया गया है। उनका जीवन चरित्र मनुष्य-प्रकृति के अध्ययन के साथ लिखा गया है। श्वेताम्बरी-ग्रन्थों में भी इसी पद्धति से भगवान् महावीर का जीवनचरित्र लिखा गया है।

मेरे खयाल में भगवान् महावीर बाल ब्रह्मचारी नहीं थे। वे गृहस्थ थे। गृहस्थ भी सामान्य नहीं, उत्कृष्ट श्रेणी के थे। उन्होंने गृहस्थाश्रम के प्रमोद-कानन में हजारों रसिकता की क्रियाएं की होंगी। यौवन के लीला-निकेतन में बुद्ध की तरह वे भी अपनी प्रेमिका के साथ रसमयी तरङ्गिणी के प्रवाह में प्रवाहित हुए होंगे। पर प्रवृत्ति की इस पूर्णता के वे कभी आधीन नहीं हुए। हमेशा प्रवृत्ति पर वे शासन करते रहे, और अन्त में एक दिन इन प्रवृत्ति की लीलाओं से विरुद्ध हो अवसर पाकर सब भोग-विलासों पर लात मार कर वे सन्यासी हो

गये। ऐसे ही महावीर संसार के आदर्श हो सकते हैं; संसार ऐसे ही महावीर को अपना उद्धारक मान सकता है।

जो लोग महावीर स्वामी का विकास-क्रम नहीं मानते, जो जन्म से ही उन्हें देवता की तरह मानते हैं उनको उपरोक्त विवेचन ने अवश्य क्रोध एवं हास्य उत्पन्न होगा। पर जो लोग भगवान महावीर को प्रारम्भ से ही मनुष्य की तरह मानकर क्रम विकास के अनुसार. अन्त में ईश्वर की तरह मानते हैं उनको अवश्य इस कथन में कुछ न कुछ रहस्य मालूम होगा।

दीक्षा-संस्कार

भगवान् महावीर ने अपने उत्तम जीवन का अधिकांश भाग गृहस्थाश्रम के अंतर्गत सत्य और जीवन-रहस्य के तत्त्वों की शोध में व्यतीत कर दिया। जीवन के आदर्श पर लिखते हुए एक जैन लेखक लिखते हैं कि:—

"All straining and striving. which is going on in the world, is the outcome of a thirst for happiness, it is on account of this insatiable thirst that ideal after ideal is conceived adhered for a time and then ultimately, when to be in sufficient, discarded and replaceb by a seemingly discovered better one.s-ome People spend their whole lives in thus trying object after object for the satisfaction of this inlination for happiness

जीवन के तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में व्यतीत करने पर भगवान महावीर को यही अनुभव हुआ कि गृहस्थाश्रम "सत्य" है पर जीवन के लिए सन्यास उससे भी बड़ा सत्य है। और इसी कारण अब मुझे उस बड़े सत्य को प्राप्त करने की आवश्यकता है। मेरा

खयाल है भगवान् बुद्ध की ही तरह उन्हे भी संसार के इन दुख-मय दृश्यों से बड़ी घृणा हुई होगी। उस समय की सामाजिक अवस्था को देखकर अवश्य उनके कोमल हृदय में दया का संचार हुआ होगा और इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर सत्य ज्ञान पाने के लिये उन्होंने दीक्षा ग्रहण की होगी।

प्रत्येक ऊँचे दर्जे के मनुष्य के जीवन में एक ऐसी स्थिति आती है, जब उसका हृदय तमाम विलास-सामग्रियों की ओर से विरक्त होकर "वास्तविक उच्च सत्य को प्राप्त करने के लिये व्यग्र हो उठता है। विलास से विरक्त होकर वह आत्म-सयम की ऊँची भावनाओं को प्राप्त करना चाहता है।

आत्म-संयम का ऊँची भावनाओ का आश्रय लेकर वह भोगों को भोग दे डालता है।

To live for pure life's sake and to utilise wealth body etc. for living in that manner was Lord Mahabir's Principle so he utilised his body full for self-denial or for life.

जोवन की शुद्ध स्थिति के निमित्त जीना यही जीवन का प्रधान उद्देश्य है। पैसा, राज्य, विलास आदि वस्तुएँ तो शरीर के बाह्य साधन हैं। भगवान् महावीर ने पहले शरीर के इन बाहरी साधनों का सदुपयोग किया। उसके पश्चात वे सुखको प्राप्त करने के निमित्त सचेष्ट हुए। एक अंग्रेज लेखक लिखते हैं।

Money connot make us happy, friends cannot make us happy, success cannot make us happy, health strength cannot make us happy, All these make for happiness but none of them can secure it. Nature may do all she can, she may give us fame, health, money

long life, but she connot make us nappy, every one of us must do that for hismelf. Our language expresses this admirably. What do we say if we had a happy day ? We say we have enjcyed "ourselves" This expression of our mother tongue seems very suggestive Our happiness depends on ourselves'

"पैसा हमको सुखी नहीं वना सकता। सफलता हमको सुखी नहीं बना सकती। मित्रगण हमे सुखी नहीं कर सकते। स्वास्थ्य और शक्ति भी हमको सुखी नहीं वना सकती। यद्यपि ये सब वस्तुएँ सुखके लिए निर्माण की गई हैं, पर वास्तविक सुख को देने मे ये सब असमर्थ हैं। प्रकृति सव कुछ कर सक्ती है। वह हमको स्वस्थता, पैसा, दीर्घ जीवन आदि सव वस्तुएँ प्रदान कर सकती है। पर वह भी सच्चा सुख नहीं दे सकती। प्रत्येक व्यक्ति को सुखी होने के लिये अपने आप स्वावलम्बन पर खड़े होना चाहिये। इस वात को हमारी भाषा भलिभाँति सिद्ध करती है। जव हमे सुख मिलता है, उस दिन हम उसे किस प्रकार प्रकाशित करते हैं! हम कहते हैं कि हमने अपने आप का मनोरंजन किया। हमारी मातृभाषा का यह शब्द Our selves बहुत प्रमाण युक्त मालूम होता है। हमारा सुख हमारे स्वावलम्बन पर निर्भर है।

इस ऊचे सत्य का भगवान् महावीर ने मनन और अनुभव किया था। और इसके अनुसार उन्होंने अपने जीवन प्रवाह को बदला था। अट्ठाईस वर्ष की अवस्था मे ही उनके अन्तर्जगत् मे इन भावो ने खलवली डाल दी थी और उसी समय वे दीक्षा लेने को प्रस्तुत हो गये थे पर कुटुम्बियों के आग्रह से गृहस्थाश्रम

में दो वर्ष और अधिक रहना उन्होंने स्वीकार किया। अन्त मे तीस वर्ष की अवस्था होने पर एक दिन दर्शकों की हर्ष-ध्वनि के बीच सांसारिक सुखों को लात मार कर परम सत्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली।

राजकुमार महावीर सन्यासी हो गये। सब राज भोगों को, ऊंचे ऊंचे विलास मन्दिरों को, सुन्दरी यशोदा को और सारी प्रजा के मोह को छोड़ कर उन्होंने जंगल की राह ले ली। वह कौन-सा बड़ा सुख था—जिसको प्राप्त करने के लिए महावीर ने सन्यास की इस कठिन तपस्या को स्वीकार किया। वह सुख सत्य का वास्तविक सौन्दर्य्य था। जिसको प्राप्त करने के लिए महावीर ने इतनी बड़ी बड़ी विभूतियों को कुछ भी न समझा।

दीक्षा के समय से लेकर कैवल्य प्राप्त तक अर्थात् लगभग बारह वर्ष तक भगवान् महावीर ने मौन स्वीकार किया था। उनके चरित्र का यह अंश अत्यन्त बोधक और अमूल्य शिक्षाओं से युक्त है। बारह वर्ष तक उन्होंने किसी को किसी खास प्रकार का उपदेश न दिया। महावीर के पास उस समय कैवल्य को छोड़ कर शेष चार ज्ञान विद्यमान थे। इन्हीं ज्ञानों के सहारे यदि वे चाहते तो लाखों भटकते हुए प्राणियों को मार्ग पर लगा सकते थे। पर ऐसा न करते हुए सर्व प्रथम उन्होंने अपना निजी हितसाधन के निमित्त मौन धारण करना ही उचित समझा। महावीर स्वामी को स्वीकार की हुई इस बात के अन्तर्गत बड़ा रहस्य छिपा हुआ मालूम होता है।

आत्मा जितने ही अंशों में पूर्णता को प्राप्त कर लेती है जितने ही अंशों में वह परमपद के समीप पहुँच जाती है उतने

ही अंशो तक मनुष्य जाति का हित करने में समर्थ हो सकती है। जिसके जीवन की सैकड़ो बाजुएं दोषयुक्त होती हैं वह यदि दूसरों के सुधारने का बीड़ा लेकर मैदान में उतरता है तो उससे सिवाय हानि के किसी प्रकार का लाभ सम्पन्न नहीं हो सकता।

अपने अन्तःकरण की कालिमा को दूर किये बिना ही दूसरे के अन्तःकरण को शुद्ध करने का प्रयत्न करना एक कोयले से दूसरे कोयले को उज्वल करने की चेष्टा से अधिक महत्व का नहीं हो सकता। अपनी आत्मा को पूर्ण शुद्ध किये के पश्चात् अपने ज्वलन्त उदाहरण के द्वारा दूसरो का हितसाधन करने मे जितनी सफलता मिलती है, उतनी अपूर्णावस्था में अत्यन्त उत्साह और आवेग से कार्य्य करने पर भी नहीं मिल सकती, पूर्णता से युक्त व्यक्ति थोड़े ही प्रयत्न के बल से हजारो मनुष्यो के हृदयों में गहरा असर पैदा कर सकता है, पर अपूर्ण मनुष्यो का पागलपन से भरा हुआ परहित-साधन का आवेग सेमर के फूल की तरह बाहरी रङ्ग दिखा कर अन्त मे फट जाता है और उसमे से थोड़ी सी रूई इधर उधर उड़ती नजर आती है। बाह्य आडम्बर चाहे जितना चटकीला और पालिश किया हुआ हो, पर जब तक उपदेशक के अन्तःकरण से विकार और न्यूनताएं दूर न हो जाती, तब तक जनता के हृदय पर उसका स्थायी असर नही हो सकता। मनुष्य के अन्तःकरण में ज्ञान का दीपक जितने अशों में प्रकाशित है, उतने ही अशों में वह दूसरे को भी प्रकाश में ला सकता है। अपना स्वहित साधन किये के बिना ही जो लोग दूसरो का हित साधन करने की मूर्खता करते हैं, उनकी इस

निर्बलता पर अपना उदाहरणरुप अंकुश लगाने के लिये ही भगवान् महावीर ने इतना लम्बा मौन धारण किया होगा।

भगवान् महावीर का भ्रमण

पौराणिक ग्रन्थों के अन्तर्गत भगवान् महावीर का भ्रमण-वृतान्त भी लगभग वैसी ही अलङ्कारपूर्ण भाव में वर्णित है जैसा उनकी जीवनी का दूसरा अंश है। दीक्षा लिये के बाद लगभग बारह वर्ष तक उन्हें कैवल्य रहित अवस्था में भ्रमण करना पडा था। इन बारह वर्षों में उन पर आये हुए उपसर्गों का बडी ही सुन्दर भाषा मे वर्णन किया गया है। उनके उन असह्य कष्टों के वर्णन को पढ़ते पढ़ते चाहे कितना ही कठिन हृदय क्यों न हो, पिघले बिना नहीं रह सकता।

सम्भव है महावीर पर आये हुए उपसर्गों का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन पुराणकारों ने किया हो, पर इसमे तो सन्देह नहीं कि उन बारह वर्षों के अन्दर महावीर पर कठिन से कठिन विपत्तियो का समूह उतरा होगा। महावीर पर ही क्यो प्रत्येक मुमुक्षु-जन पर ऐसी स्थिति में उपसर्ग आते हैं, और अवश्य आते हैं। केवल पुराण ही नहीं, तत्व-ज्ञान भी इस बात का समर्थन करता है।

आत्मा ज्यों ज्यों मोक्ष के अधिकाधिक समीप पहुँचने की चेष्टा मे रत होती है। जिस प्रकार किसी विश्वासपात्र सेठ के घर पर भी दिवाला निकलते समय लेनदारो का एक साथ तकाजा आने लगता है। उसी प्रकार मोक्षाभिमुख आत्मा को उसके उपार्जित किए हुए पूर्व कर्म एक साथ इकट्ठे होकर फल

प्रदान करने लग जाते हैं। वे एक साथ अपना चूकता कर्ज वसूल करने को तैयार हो जाते हैं। मोक्ष के मार्ग में विचरण करने वाली आत्मा को कई बार असाधारण संकटो का सामना करना पड़ता है इसी तत्व को साधारण लोगों में प्रचलित करने के निमित्त अनेक उत्तम ग्रन्थकारों ने "उपमिति-भवप्रपच कथा" "मोहराजा का रास" "ज्ञान सूर्य्योदय नाटक" आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन ग्रन्थो के द्वारा उन लोगों ने यह बात स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि मोक्ष मार्ग के पथिक के मार्ग में मोहराजा के सुभट हमेशा अनेक विघ्न डालते रहते हैं। जो दर्शन-शास्त्र ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं वह इसी बात में "प्रभु भक्तो की परीक्षा लेते हैं," आदि रूप में कहते हैं। कोई उसको रक्त वीज और कोई उसको (Dwellers on the thresh hold) कहते हैं। मतलब यह कि मोक्ष मार्ग मे अग्रसर होंने वाले व्यक्ति के मार्ग में अनेक कष्टों की परम्परा उपस्थित होती रहती है।

लेकिन इसी की दूसरी बाजूपर एक बात और भी है। जिससे यह कठिन समस्या कई अंशो में आसान हो जाती है। वह यह है कि उन लोगो पर आये हुए कष्ट हम लोगो की दृष्टि में जितने भयङ्कर जँचते हैं, हम लोगों की क्षुद्र एवं ममता-मयी नगाह में उनका जितना गम्भीर असर होता है, उतना असर उन लोगो पर जो मोक्षपथ के पथिक हैं, एवं जिनका दैहिक मोह शांत हो गया है, नहीं होता। जिस स्थिति को केवल शास्त्रों में पढ़कर ही हमारा हृदय थर्रा उठता है। उस स्थिति का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हुए भी वे उतने नहीं हिचकते। इसका

बड़ा ही गम्भीर कारण है। हमलोग संसारी जीव हैं, हमलोग हमारी देह को अपनी आत्मा से भिन्न समझते हुए भी उसके सुख दुःख को आत्मा का सुःख दुख ही समझते हैं। हमलोग आत्मा और देह के अनुभव को जुदा जुदा नहीं समझते, और इसी कारण ये दैहिक उपसर्ग भी हम लोगों की आत्मा को थर्रा देते हैं। इन्हीं उपसर्गों में हम "अहत्त्व" की कल्पना कर महा दुखी हो जाते हैं। पर जिन महान् आत्माओ के रोम रोम मे यह निश्चय कूट कूट कर भराहुआ है कि देह और देहके धर्म तीन काल में भी आत्मा के नहीं हो सकते हैं। जिनके हृदय मे पत्थर की लीक की तरह यह सत्य जमा हुआ है कि देह और आत्मा जुदी जुदी वस्तु है, इनके स्वभाव भी जुदे जुदे हैं। उनकी आत्मा को यह शारिरिक उपसर्ग किस प्रकार विचलित कर सकते हैं, एव कष्ट पहुँचा सकते हैं।

मनुष्य के जितने भी अशों में देहादिक पुद्गलो का अहभाव रहता है उतने ही अशो मे शरीर के सुख दु खादि कर्म उसकी आत्मा पर असर करते हैं और उसी हदतक शास्त्रकारो ने मोहनीय और वेदनीय कर्म की प्रकृतियों को जुदी जुदी बतलाई हैं। अर्थात जितने अशो मे मोहनीय कर्म का प्राबल्य होता है, उतने ही अशो में वेदनीय कर्म आत्मा पर असर करता है। मोहनीय कर्म के शिथिल पडते ही वेदनीय कर्म नहीं के समान हो जाता है। यदि हम वेदनीय कर्म को एक विशाल पाटवाली नदी और मोहनीय कर्म को उसमें भरा हुआ जल मानले तो यह विषय और भी स्पष्ट हो जायगा। जिस प्रकार चाहे जितने ही विशालपाट वाली नदी भी जल के बिना किसी चीज को बहा ले

जाने में असमर्थ है, उसी प्रकार बिना मोहनीय कर्म के वेदनीय कर्मका उदय भी आत्मा को सुख दुख का अनुभव करवाने में असमर्थ रहता है।

इस कथन का यह मतलब कदापि नहीं है कि ज्ञानी को कष्ट होता ही नहीं, प्रत्युत इसका तात्पर्य यही है कि उस कष्ट का अनुभव उसको अवशिष्ट रही हुई मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के अनुसार ही होता है। सुख दुख की लागणीं का मूल मोहनीय कर्म है। वह जितना ही अधिक प्रबल होता है उतने ही अंशों में आत्मा भी शरीर के सुख दुख का अनुभव करती है।

महावीर के दीक्षाकाल में जिन जिन उपसर्गो का प्रादुर्भाव हुआ है उनको भी हमें इसी दृष्टि से देखना चाहिये। उनका मोहनीय कर्म क्षीण प्रायः हो चुका था और इस कारण उन कष्टों में जितनी आत्म-वेदना का अश हमारी विमुग्ध दृष्टि को अनुभव होता है उतना उनकी आत्मा को नहीं हो सकता था। एक ही प्रकार का किया हुआ प्रहार जिस प्रकार सबल और निर्बल मनुष्य के शरीर पर भिन्न भिन्न प्रकार के असर पैदा करता है उसी प्रकार एक ही प्रकार का संकट, ज्ञानी और अज्ञानी की आत्मा पर भी भिन्न भिन्न प्रकारसे असर करता है। भगवान् महावीर के कानों में गुवाले के द्वारा ठोके गये कीलों की कथा पढ़ कर आज भी हमारे हृदय से आन्तरिक चीख निकल पड़ती है, पर इसी घटना का खुद अनुभव करते हुए भी महावीर रंच मात्र विचलित नहीं हुए। उनका ध्यान तक इस घटना से नहीं टूटा, क्योंकि वे महावीर थे। उनकी सहिष्णुता हम से बहुत बढ़ी चढ़ी थी। वे उत्कृष्ट श्रेणी के योगी थे। हम लोग कई बार दूसरे पर

बीती हुई आपत्ति का अनुमान अपनी स्थिति के अनुसार कर लेते हैं पर इस प्रकार का अनुमान करते समय हम यह भूल जाते हैं कि भोक्ता की स्थिति भी हमारे समान राग द्वेष मयी एवं कमजोर है, या उसमें हमारी स्थिति से कुछ विशेषता है। हम उस-पर बीती हुई आपत्ति को अपने मोह-मय चश्मे से देखते हैं और इसी कारण एक गहरी भूल में पड़ जाते हैं। भगवान् महावीर पर बीती हुई इन आपत्तियों की कल्पना हम हमारे चश्मे से देख कर उनकी सहिष्णुता की स्तुति करते हैं पर इसके साथ हम उन-की मोह विहीन आत्मस्थिति, देह विरक्ति और अगाध आत्मबल को कल्पना करना भूल जाते हैं। यदि हम उस सहिष्णुता के उत्पति स्थान अगाध आत्मबल को देखें तो बड़ा लाभ हो। आत्मा के किसी विशेषगुण की स्तुति करने के साथ साथ यदि हम उस वस्तु का अध्ययन करे जहां से कि उस गुण का उद्गमन हुआ है तो हमारी वह स्तुति विशेष फल-प्रदायक नहीं हो सकती। महावीर के जीवन का महत्व उनकी इस कष्ट सहिष्णुता मे नहीं है। प्रत्युत उस आत्म-बल और देह विरक्ति मे है जहां से इस गुण का और इसके साथ साथ और भी कई गुणों का उद्गम हुआ है। यदि हम इस उद्गम स्थान के महत्व को छोड़ देते हैं तो महा-वीर के जीवन में रहा हुआ आधा महत्व नष्ट हो जाता है।

मतलब यह है कि महावीर पर बड़े बड़े भयङ्कर दैहिक उप-सर्ग आये थे, वे उपसर्ग इतने भयङ्कर थे कि जिनको पढ़ने से ही हमारी आत्मा कांप उठती है। पर भगवान के उत्कट आत्म-बल के सन्मुख वे उपसर्ग उसी प्रकार फीके पड़ गये जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सामने चन्द्रमा का बिम्ब पड़ जाता है। अपने

अनन्त तेज के सन्मुख प्रभु ने उन उपसर्गों को हीनप्रभा कर दिया। उन्होंने उनकी रंच मात्र भी परवाह न की।

एक वार भगवान महावीर "कुमार" नामक ग्राम के समीपवर्ती जंगल मे गये, वहां नासिका पर दृष्टि रख कर वे कायोत्सर्ग में खड़े थे। इतने ही में एक गुवाल दो वैलो के साथ वहां निकला। उसे कोई जरूरी काम था, इसलिये वह वैलो को भगवान के समीप छोड़ कर चला गया। इधर वैल चरते चरते कुछ दूर चले गये तव वह गुवाला लौटा। उसने महावीर को वैलो के विषय में पूछा पर प्रभु तो ध्यान में खड़े थे, उन्होंने उसका कोई उत्तर न दिया। वह वैलो को ढूंढते ढूंढते दूसरी ओर निकल गया। दैवयोग से वैल फिरते फिरते पीछे महावीर के पास आकर खड़े हो गये। इधर ग्वाल भी ढूढ़ता ढूंढ़ता फिर वहीं आ पहुँचा। वहां पर अपने वैलों को देखकर उसे यह सन्देह हुआ कि इस तपस्वी की नियत खराब मालूम होती है। इसने मेरे वैलो को छिपा दिये थे, ओर मौका पाकर यह इन्हे उडा ले जाने की फिक्र करता है। यह सोच कर वह भगवान को मारने लगा। यह घटना अवधिज्ञान के द्वारा इन्द्र को मालूम हुई और वह तत्काल ही वहां आया। उसने उस गुवाले को समझा वुझा कर विदा किया और हाथ जोड़ भगवान से कहने लगा-हे भगवन्? अभी वारह वर्षों तक आप पर इसी प्रकार उपसर्गों की वर्षा होने वाली है। यदि आप आज्ञा करें तो मैं उनका निवारण करने के निमित्त सेवक की तरह आपके साथ रहूँ। भगवान ने शान्त भाव से उसे उत्तर दिया "तीर्थंकर" कभी अपने आप को दूसरे की सहायता पर अवलम्बित नहीं रहते। वे अपनी ताकत से,

अपनी शक्ति से, अपने आत्मबल से उपसर्गो का, बाधाओं का सामना कर शान्ति पूर्वक उन्हे सहन करते हैं। वे दूसरे की मदद से कभी केवलज्ञान प्राप्त नहीं करते।"

महान आत्माएं आत्मसिद्धि में आने वाले उपसर्गों का कभी अपनी लब्धियों से या शक्तियों से सामना नहीं करतीं। वे इन विघ्नों के नाश में किसी प्रकार की दैवी अथवा मानवीय सहायता नहीं लेतीं। क्योंकि वे भली-प्रकार तत्वज्ञान के इस रहस्य को जानती हैं कि निकांचित् कर्मों का फल कितना ही ऊंचा लब्धि कारक क्यों न हो उसे भोगना ही पड़ता है। साधारण तया कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो तपस्या के बल से अथवा संयम की शक्ति से जल जाते है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के कर्म वे जिन्हें निकांचित् कहते हैं वे ऐसे होते हैं जिनका फल आत्मा को भोगना ही पड़ता है। वे तपस्या वगैरह से निवृत नहीं हो सकते। भगवान महावीर फिलासफी के इस रहस्य को जानते थे। वे जानते थे कि फल-प्रदायी सत्ता का निरोध तेरहवें गुण स्थान में विहार करने वाले मुनियों से भी होना असम्भव है, यह इन्द्र तो क्या चीज है। और यही कारण है कि महावीर ने इन्द्र की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। भक्ति-भाव से प्रेरित हुए, इन्द्र को प्रभु के शरीर से ममता थी और इसी कारण उसने यह प्रार्थना की। पर प्रभु महावीर के भाव से तो यह शरीर नितान्त तुच्छ था, ऐसी हालत में वे इन्द्र की प्रार्थना को क्यों स्वीकार करने लगे, उनकी आत्मा, आत्मावाले उपसर्गों से तनिक भी भयभीत न थी। उनका अगाध आत्मबल किसी की मदद की अपेक्षा पर निर्भर न था, कर्मों को जीतने के लिए

प्रभुने जिस उत्कृष्ट चरित्र का पालन किया वह चरित्र चाहे जिस आत्मा को मुक्त करने में समर्थ हो सकता था।

हिमालय के समान निश्चल परिणामी, सागर के समान गम्भीर, सिंह के समान निर्भय, आकाश की तरह उन्मुक्त, कच्छप की तरह इन्द्रियों को गुप्त रखने वाले, मोह से अजेय, सुख और दुख में सम भावी, जल में स्थित कमल की तरह, संसार के कीचड़ में विचरण करते हुए भी पवित्र असंखलित गतिवाले, भगवान महावीर अपने कर्मों की निर्जरा करते हुए विचरण करने लगे।

गुवाले की इस घटना के पश्चात् भगवान महावीर पर और भी कई भयङ्कर उपसर्ग आये, जिनका वर्णन आगामी खण्ड मे किया जायगा। यहां पर एक दो मुख्य मुख्य उपसर्गों का वर्णन करते हुए यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि उनसे हमें क्या शिक्षा मिल सकती है।

एक बार भगवान महावीर "श्वेताम्बरी" नगरी की ओर चले, मार्ग में एक गुवाल के पुत्र ने उनसे कहा "देव" यह मार्ग "श्वेताम्बरी" को सीधा जाता है पर इसके मार्ग में एक भयङ्कर दृष्टिविष सर्प रहता है। उसके भयङ्कर विष प्रकोप के कारण उस जमीन के आस पास पक्षियों तक का सञ्चार नहीं है, केवल वायु ही उस स्थानपर जा सकती है। इसलिये कृपा करके इस मार्ग को छोड़ कर उस मार्ग से चले जाईये, क्योंकि जिस कर्ण फूलसे कान टूट जायं वह यदि सोनेका भी हो तो किस कामका?

गुवाले की बात सुन कर परम योगी महावीर ने अपने दिव्यज्ञान से उस सर्प को पहचाना। उन्हें मालूम हुआ कि वह

सर्प सुभव्य है, सुलभ बोधी है, किसी भयङ्कर अनिष्ट को कर प्रकृति के उदय से वह अभव्य की तरह दृष्टिगोचर हो रहा है, पर वास्तव में वह ऐसा नहीं है। वह थोड़े ही परिश्रम से सुमार्ग पर लगाया जा सकता है। बल्कि जितनी प्रबल शक्ति को वह कुमार्ग पर व्यय कर रहा है उतनी ही सुमार्ग पर भी कर सकता है।

किसी भी प्रकार की बलवान मनःस्थिति फिर चाहे सुमार्ग पर लगी हो, चाहे कुमार्ग पर बहुत उपयोगी हुआ करती है। क्योंकि दोनों स्थितियां समान शक्ति सम्पन्न होती हैं। उस प्राणी की स्थिति से जिसके पास की शक्ति बिल्कुल ही नहीं, उससे उस प्राणी की शक्ति विशेष उत्तम है, जिसकी प्रबल शक्ति कुमार्ग पर लगी हुई हो क्योंकि कुमार्ग पर लगी हुई शक्ति तो थोड़े ही प्रयत्न से सुमार्ग की ओर मोड़ दी जाती है और वह अभव्य प्राणः थोड़े ही प्रयत्न से भव्यता की ओर झुका दिया जा सकता है। पर जिसके पास शक्ति ही नहीं है-जो पाषाण-प्रतिमा की तरह निश्चल अकर्मण्य है जो पाप पुन्य से रहित एव गति हीन है। उसमें नवीन शक्ति का उत्पन्न करना अत्यन्त कष्ट साध्य है। उसी की दशा सब से अधिक शोचनीय है। हम लोग तीव्र अनिष्ट कारक प्रवृति की निन्दा करते हैं उसे धिक्कारते हैं, पर उसके साथ इस बात को भूल जाते हैं कि यह शक्ति जितनी तीव्रता के साथ अनिष्ट कारक कृत्य कर सकती है, यदि इष्ट कारक कार्य्यों की ओर झुका दी जाय तो उन कामों में भी वह उतनी ही प्रतिभा दिखला सकती है। जैन दर्शन में इसीलिए इस तत्व की योजना की गई है कि जो आत्मा तीव्र अनिष्ट कारक शक्ति के प्रभाव से

सातवे नरक मे जा सकती है, वही उसी शक्ति को दूसरी ओर मोड़ कर मोक्ष मे भी जा सकती है। जिसके अन्दर सातवां नरक उपार्जन करने के लिये परियाप्त पाप करने की शक्ति नहीं है, वह मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति भी नहीं रख सकता। जिसके अन्तर्गत पाप करनें की पर्याप्त शक्ति है वही पापों को काट कर मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

भगवान महावीर इस सिद्धान्त को भली प्रकार जानते थे, यदि वे न जानते होते तो उन्हे उस भयङ्कर मार्ग से जाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। पर उनकी प्रकृति हमेशा परोपकार ही की ओर लगी रहती थी। उनका ध्येय ही इस प्रकार के अभव्य और कुमार्ग-गामी जीवों को सुमार्ग पर लगाने का था। उनका अवतार ही मनुष्य जाति का उद्धार करने के निमित्त हुआ था। और इसी प्रकृति के कारण सर्प का उद्धार करने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही था। वे जानते थे कि किसी शक्ति की विकृतावस्था उसकी अयोग्यता का लक्षण नहीं है। जिस जल के प्रवल पूर में आकर सैकड़ों हजारो ग्राम बह जाते है, उसी जल से सृष्टि का पालन भी होता है। जिस दृष्टि विष सर्प की क्रोध ज्वाला के कारण गगन विहारी पक्षी भी भस्म हो जाते हैं, उसी सर्प के हृदय में कोशिश करने पर शान्ति और क्षमा की मधुर धारायें भी बहाई जा सकती हैं

भगवान महावीर ने यह सोचकर उस गुवालवाल के के कथन की परवाह न की। वे शान्ति पूर्वक उसी स्थान की ओर बढ़े और उस सर्प के निवास स्थान के पास आकर कायोत्सर्ग-ध्यान लगा शान्ति पूर्वक खड़े हो गये। कुछ समय के पश्चात्

भगवान् महावीर

भगवान् महावीरको देखकर चण्डकौशिक सर्पने भयकर फुफकार मारी जिससे सारा वायुमण्डल नीला हो गया और गगनविहारी पची धराशाई हो गये ।

वह सर्प बाहर निकला, वीरप्रभु को वहां खड़े देख कर वह क्रोध में आग बबूला हो गया। वह सोचने लगा कि मेरे राज्य के अन्तर्गत यह मानव-ध्रुव की तरह स्थिर होकर कैसे खड़ा है।

क्रोध मे आकर उसने भयङ्कर रूप से एक फुफकार मारी जिसके प्रताप से उसके आस पास का सारा वायु-मण्डल नीला और ज्वालामय हो गया। आस पास के पक्षी और छोटे बड़े जीव चित्कार करके धराशायी हो गये। इतने पर भी उसने आश्चर्य में देखा कि वह मानव ज्यों का त्यों ध्यानस्थ खड़ा है, उस भयंकर फुकार ने उसकी देह पर रंच मात्र भी असर नहीं किया। इससे उसने और भी अधिक क्रोध मे आकर जोर से भगवान् के अँगूठे पर काटा। पर फिर भी आत्मबल के प्रभाव से उस विष ने और आसपास की ज्वाला ने भी भगवान् के शरीर पर कुछ असर न किया।

बुद्धिवाद के इस युग में सहसा लोग इस बात पर विश्वास न करेंगे—पर हमारी समझ में इस घटना में विशेष असम्भवता की छाया नहीं है। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि साधारण से साधारण लोग अपने मंत्र-बल के प्रभाव से बड़े बड़े सर्पों को पकड़ लेते हैं, काटे हुए सर्प का विष उतार देते हैं, और सर्प के काटने का उनपर कुछ भी असर नहीं होता। जब साधारण मंत्र-बल की यह बात है तो एक ऐसे महानयोगी के शरीर में जिसका आत्मबल उच्चता की पराकाष्टा पर पहुँच चुका है—यदि सर्प का विष असर न करे तो उसमे कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं।

इस घटना से सर्प बड़ा ही आश्चर्य-चकित हुआ। वह घड़ी

ही मुग्ध दृष्टि से परमयोगीश्वर की ओर देखने लगा। वह देखता क्या है कि उस पवित्र मुखमण्डल पर इन कृत्यों के प्रति लेशमात्र भी क्रोध की छाया नहीं है। उस सुस्मित वदन पर इतनी घटना के पश्चात् भी शान्ति, क्षमा और दया के उतने ही भाव बरस रहे हैं। सर्प उस राग द्वेष हीन प्रतिमा को देख कर मुग्ध हो गया, उसने ऐसी मूर्ति आज तक नहीं देखी थी। उस दिव्य-मूर्ति के प्रभाव से उसके हृदय में भी क्रोध के स्थान पर शान्ति और क्षमा की धारा बहने लगी। उसे इस प्रकार सुधार की ओर पलटते देखकर महावीर बोले "हे चण्ड कौशिक ? समझ ! समझ !! मोह के वश मत हो। अपने पूर्वभव को स्मरण कर और इस भव मे की हुई भूलों को छोड़कर कल्याण के मार्ग पर प्रवृत्त हो।'

यह सुनते ही उस सर्प को जाति स्मरण हो आया ! पूर्व-भव में वह एक मुनि था। एक बार उसके पैर के नीचे एक मेंढक कुचल कर मर गया था। इस पर उसके शिष्य ने कहा था कि "गुरूजी आप मेंढक मारने का पश्चात्ताप क्यों नहीं कर लेते"। इस पर क्रोधित होकर उस मुनि ने कहा "मूर्ख ! मैंने कब मेंढक मारा" ? यह कह कर वह क्षुल्लक को मारने के लिये दौड़ा। रास्ते मे एक खम्भे से टकरा जाने के कारण उसकी मृत्यु हो गई और तीव्र, क्रोध प्रवृत्ति के उदय के कारण वह इस भव में उपरोक्त सर्प हुआ। यह नियम है कि जो जिस प्रवृत्ति की अधिकता के साथ मृत्यु पाता है—वह उसी प्रवृति वाले जीवों में जन्म लेता है। कोई महाकामी यदि मरेगा तो निश्चय है वह कबूतर, चिड़िया कुत्ता आदि नीच कोटि में जन्म लेगा, इसी प्रकार क्रोधी मनुष्य

भी सर्प, व्याघ्र, सिंह आदि योनियों मे जन्म लेता है। जाति, स्मरण हो जाने के कारण सर्प को मालूम हो गया कि इसी भीषण क्रोध प्रवृति के कारण मेरी यह गति हुई है। यदि अब इस प्रवृत्ति को न छोड़ूँगा तो भविष्य मे न मालूम और कितनी अधमगति होगी। यह सोचकर उसने उसी दिन से उस क्रोध की प्रवृति का त्याग कर दिया। उसी दिन से वह एक वैरागी की तरह शान्त और निश्चल रहने लगा और अन्त में उसी स्थिति में मृत्यु पाकर वह शुभ जाति मे उत्पन्न हुआ।

बहुत से लोग किसी क्रोधी मनुष्य का क्रोध अपने क्रोध के द्वारा उतारना चाहते हैं, पर उनका यह मार्ग अत्यन्त भूल से भरा हुआ है। हम देखते है कि क्रोध से क्रोध की ज्वाला दुगुनी होती है, जहर से जहर उतारने वाला वैद्यक शास्त्र का नियम इस स्थान पर कामयाब नहीं हो सकता। जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में और अग्नि मिलाने से वह अधिक चमक उठती है, इसी प्रकार क्रोध का बदला क्रोध से देने से वह और भी अधिक ज्वलन्त हो उठता है। जगत के अतर्गत हम नित्य प्रति जीवन-कलह के जो अनेक दृश्य देखा करते हैं वे इसी गलत नियम के भयंकर परिणाम हैं। क्रोध की अनमोल दवा क्षमा है। बिना क्षमा की शीतल धार के पडे अग्नि शान्त नहीं हो सकती। यदि महावीर-प्रभु उस साप के काटने के बदले में उसे मारने दौड़ते अथवा अपने तेजोबल से उसे भस्म कर देते तो कदापि वह स्वार्थ सिद्ध न होता, जो क्षमा के स्थिर प्रभाव से हुआ।"

लेकिन आधुनिक जगत मे इस क्षमा के भी कई अर्थ होने लगे हैं अत. इस स्थान पर इस शब्द का स्पष्टीकरण कर देना

आवश्यक है। हम देखते हैं कि आज कल जो आदमी दूसरे बलवान का मुकाबिला करने में असमर्थ होता है, वह चुप्पी साध कर अलग हो जाता है–कहता है मैंने उसे क्षमा कर दिया, पर क्षमा का वास्तविक अर्थ यह नहीं है। यह क्षमा तो कायरता का प्रति रूप है। जो प्रतिहिंसा चुकाने में असमर्थ है उसकी क्षमा का मुल्य क्या हो सकता है। वास्तविक क्षमा उसे कहते हैं जो एक शक्तिशाली बुद्धिमान् की ओर से किसी दुर्बल अज्ञानी पर उसके किये हुए अज्ञानमय कृत्यों के प्रति की जाती है। उस अज्ञानी के प्रतिकार .का पूर्ण बल रखते हुए भी उसके अज्ञान को दूर करने की सुभावनाओ से जो क्षमा करता है उसीकी क्षमा का महत्व है। उसी क्षमा के द्वारा जगत में से क्रोध की भावनाओं का नाश होकर शान्ति की स्थापना हो सकती है। भगवान् महावीर यदि उस सर्प के विष से भयभीत होकर भगते हुए उसे क्षमा कर देते तो उस दशा मे इनकी क्षमा का कुछ भी मूल्य न होता। न सर्प का ही उद्धार होता-न उनके ही प्राण बचते। पर उनके अन्दर ऐसी शक्ति थी कि जिसके प्रताप से सर्प उनका कुछ भी न कर सका। यदि वे चाहते तो उसका नाश कर सकते थे। ऐसी शक्ति की विद्यमानता मे भी उन्होंने उस स्थान पर उसका उपयोग न किया और उसके प्रति क्षमा की अमोघ औषधि का व्यवहार कर उसका कल्याण कर दिया। महावीर के जीवन का वास्तविक सौन्दर्य इसी प्रकार की घटनाओं के अन्दर छिपा हुआ है।

एक दिन महावीर गंगा नदी उतरने के निमित्त दूसरे पथिको के साथ नौका पर आरूढ़ हुए। नौका जब नदी के मध्य में पहुँच

गई तब उनके पूर्व भव के वैरी की एक आत्मा जो सुदृष्ट देव की योनि मे वहां रहती थी अपनी पूर्ण शत्रुता का स्मरण हो आया। यह देव पूर्व भव में एक सिंह था और महावीर "त्रिपुष्ट" नामक मनुष्य पर्याय में थे। उस समय उन्होंने एक मामूली कारण के वशीभूत होकर सिंह को मार डाला था। छोटे छोटे कारणों के वशीभूत होकर जो लोग किसी प्राणी के बहूमूल्य प्राणों को हरण कर लेता है उसका बदला "कर्म की सत्ता" बहुत ही शक्ति के साथ चुकाती है। त्रिपुष्ट को जितना जीने का अधिकार प्रकृति से प्राप्त हुआ था उतना ही सिंह को भी प्राप्त था। कर्म की सत्ता ने जितनी आयु उस सिंह के निमित्त निर्धा-रित कर रक्खी थी उसे बीच ही में खण्डित करके त्रिपुष्ट ने प्रकृति के नियम में एक प्रकार की विशृंखलता उत्पन्न कर दी थी। प्रकृति के किए हुए उस अपराध का बदला नियत समय पर त्रिपुष्ट की आत्मा को मिलना अनिवार्य्य था। मनुष्य का कर्त्तव्य अपने से हीन श्रेणी के जीवों की रक्षा करने का है। उसको अपने अधिकार और बल का प्रयोग अपने से नीची श्रेणियों के प्राणियों की रक्षा करने मे करना चाहिये। यदि वह अपने इस पवित्र कर्त्तव्य के पालन में त्रुटि करके प्रकृति की साम्यावस्था में किसी प्रकार की विषमता उत्पन्न करता है तो प्रकृति उस विषमता को पुन. साम्य करने का प्रयत्न करती है। इस प्रयत्न में कर्ता को अपने कृत्य का दंड भी भोगना पड़ता है। इस विषमता को मिटाने में प्रकृति को जो समय लगता है उसे हमारे शास्त्रों में "कर्म की सत्तागत अवस्था" कहते हैं। इसके पश्चात् जिस समय में कर्ता की आत्मा के साथ प्रकृति का

प्रत्याघात होता है और कर्ता को अपने कृत्य का उचित फल मिलने लगता है उस समय को हमारे शास्त्र "कर्मका उदय काल" कहते हैं। "कर्म की सत्तागत" अवस्था में ही यदि आत्मा सावधान होकर तपस्या के द्वारा अपने कृत्य का प्राश्चित कर लेती है तो वे कर्म न्यून बल हो जाते हैं। सत्तागत अवस्था मे तो वे पश्चाताप या तपस्या की अग्नि से भस्म किये जा सकते हैं पर उदय-काल के पश्चात् निकाचित अवस्था में तो उनका फल भोगना अनिवार्य्य हो जाता है। उस समय न तो पश्चात्ताप की "हाय" ही उन्हे दूर कर सकती है और न तपस्या की ज्वाला ही उन्हे भस्म कर सकती है। अस्तु!

महावीर को देखते ही सुदृष्ट ने पूर्व जन्म का बदला लेना प्रारम्भ किया। उसने नदी के अन्दर भयङ्कर तूफान पैदा किया। नदी का जल चारो ओर भयङ्कर रूप से उछलने लगा। नौका के बचने की बिल्कुल आशा न रही। उसमें बैठे हुए सब लोगों ने जीवन की आशा छोड़ दी। इतने ही में कम्बल और सम्बल नामक दो देव वहाँ पर आये। भगवान् की भक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने उसी समय तूफान को शान्त कर दिया, और नाव को किनारे पर पहुँचा कर वे उनकी स्तुति करते हुए चले गये। इस विकट समय में भी वीर भगवान् ने सुदृष्ट देव के प्रति किसी प्रकार का द्वेष या उन दोनो देवो के प्रति किसी प्रकार का रागजन्य भाव नहीं दिखलाया। देह सम्बन्धी सुख व दुःख से वे हर्ष व शोक के वशीभूत न हुए। वे जानते थे कि सुख और दुःख के उत्पन्न होने का कारण प्रकृति का नियम है। ये दोनो देव भी स्वय पूर्व कारण को कार्य्य रूप मे

परिणित करने के हथियार-मात्र थे, और इस कारण सुदृष्ट की निन्दा का या इनकी स्तुति का कोई कारण न था। वायु जिस प्रकार सुगन्धित और दुर्गन्धित पदार्थों की गन्ध को रागद्वेप हीन भाव से लेकर विचरती है--उसी प्रकार महात्मा लोग भी सुख और दु:ख दोनों के देनेवाले पर समान भाव रखते हैं।

एक वार भगवान् महावीर विहार करते हुए "पेढ़ाणा" नामक ग्राम के समीप पहुँचे। वहाँ पर एक वृक्ष पर दृष्टि जमा कर वे कायोत्सर्ग भाव से समाधिस्थ हो गये। उस समय इन्द्रने अपनी सभा में उनके चरित्र वल की वहुत प्रशंसा की, उस प्रशंसा को सुन कर उस सभा में स्थित "सङ्गम" नामक एक देव जल उठा। उसने सोचा कि देव होकर भी इन्द्र एक साधारण मानव-योगी की इतनी अधिक स्तुति करता है, यह उसकी कितनी अनाधिकार चेष्टा है। अवश्य मैं उस तपस्वी के चरित्र को भ्रष्ट कर इन्द्र के इस कथन का प्रतिवाद करूंगा।
इस प्रकार की दुष्ट भावनाओं को हृदयङ्गम कर वह देव भगवान महावीर के पास आया। उसने छः मास तक प्रभु पर जिन भयङ्कर उपसर्गों की वर्षा की है--उसे पढ़ते पढ़ते हृदय कांप उठता है। सब से पहले तो उसने भयङ्कर धूल की वर्षा की। उस रज-वृष्टि के प्रताप से भगवान का सारा शरीर ढक गया, यहाँ तक कि उन्हें श्वासोच्छ्वास लेने में भी वाधा होने लगी, पर तो भी दैहिक मोह से विरक्त हुए महावीर उस विकट संकट में भी पर्वत की तरह स्थिर रहे। उसके पश्चात् उसने भयङ्कर चीटियों और डांसों को उत्पन्न कर के उनके द्वारा प्रभु को

डसवाया। उसके पश्चात् उसने भयङ्कर बिच्छू, नेवले, सर्प, उत्पन्न कर के उनके द्वारा प्रभु को कष्ट दिया, पर जगत्‌बन्धु, दीर्घ तपस्वी महावीर इन भयङ्कर उपसर्गों से रञ्च मात्र भी विचलित न हुए। वे इन उपसर्गों को आत्मा में रत्ती मात्र भी खेद न उपजाते हुए सहन कर रहे थे। इसी स्थान पर आकर महावीर जगत् के लोगों से आगे बढ़ते हैं। इसी स्थान पर आकर उनका महावीरत्व टपकता है। ऐसे विकट समय में भी जो व्यक्ति अपने धैर्य्य से लेश मात्र भी विचलित न हो, इतना ही नहीं, ऐसे भीषण शत्रु के प्रति जिसके भावों में भी रञ्च मात्र द्वेष उत्पन्न न हो, ऐसे उत्कट पुरुष को यदि संसार के लोग महावीर माने तो क्या आश्चर्य।

यदि महावीर चाहते तो स्वयं अपनी शक्ति से अथवा इन्द्र के द्वारा इन उपसर्गों को रोक सकते थे, पर उन्होंने ऐसा करके प्रकृति के नियम मे क्रान्ति उत्पन्न करना उचित न समझा। यदि वे ऐसा करते तो उसका फल यह होता कि "सङ्गम" की अपेक्षा भी अधिक एक बलवान से प्रकृति के नियम को रोकना पड़ता, और जब तक प्रकृति मे पुनः साम्यावस्था उपस्थित न हो जाती, जब तक कर्म की सत्ता पुनः क्षीण न हो जाती, तब तक उनको कैवल्य प्राप्ति से वंचित रहना पड़ता।

इसमें तो सन्देह नहीं कि विश्वासी जैन बन्धुओ को छोड़ कर आजकल का बुद्धिवादी समाज इन उपसर्गों को कभी सम्भव नहीं मान सकता। पर सङ्गम के किए हुए उन उपसर्गों में हमें मनुष्य प्रकृति का सुंदर निरीक्षण देखने को मिलता है। सङ्गम ने प्रभु को जिस भ्रम से कष्ट दिये थे, उनसे मालूम होता

है कि वह मनुष्य प्रकृति के गूढ़ सिद्धान्तों से वहुत परिचित था, सबसे पहले उसने भगवान् महावीर को शारीरिक वेदना देना प्रारम्भ की, और ज्यो ज्यों वे वेदनाएँ निष्फल होती गई त्यों त्यो वह उनका रूप भीषण करता गया। मनुष्य की कल्पना शक्ति विनाश के जिन जिन साधनों की योजना कर सकती है, वे सब साधन उसने प्रभु पर आजमाए और अन्त में घबराकर उसने एक अत्यन्त वजनदार लोह का गोला उन पर फेंका। कहा जाता है कि उसके आघात से वे घुटने पर्यन्त पृथ्वी में घुस गये। इससे भी जब उनके दिव्य शरीर को हानि न पहुँची, तब वह शारीरिक उपसर्गों की ओर से प्रायः निराश हो गया। लेकिन एक ओर से निराश हो जाने पर भी उसने दूसरी ओर से आशा न छोड़ी. वह मनुष्य प्रकृति का गहरा पण्डित था, मनुष्य प्रकृति की निर्बल बाजुओं को वह पहचानता था। वह जानता था कि बड़े से बड़े महापुरुषों मे भी कोई न कोई ऐसी कमजोरी होती है कि जिसमें किया हुआ थोडा सा आघात भी असर दिखाता है, यह सोचकर उसने महावीर पर शारीरिक आपत्तियो की वर्षा बन्द कर मानसिक प्रहार करना प्रारम्भ किया, प्रतिकूल उपसर्गों को एक दम बन्द कर उसने अनुकूल उपसर्ग करना आरम्भ किया।

प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करने में बड़े भीषण साहस की दरकार होती है, फिर भी ऐसे उपसर्गों को सहन करने वाले योगी संसार में मिल ही जाते हैं, पर अनुकूल उपसर्गों पर विजय पाने वाले बहुत ही कम महापुरुष संसार में दृष्टिगोचर होते हैं। वासना, मोह, या काम ये ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके फेर में पड़कर

बड़े बड़े तपस्वियो की तपस्या स्खलित हो जाती है। शङ्कर सरीखे योगीराज और विश्वामित्र के समान तपस्वी भी इसके फेर में पड़ कर स्कलित हो गये थे। मनुष्य प्रकृति का यह विन्दु बहुत ही कमजोर रहता है इसी कारण हिन्दू धर्म शास्त्रों मे काम को सर्वविजयी कहा है। और इसी कारण भगवान के सच्चे भक्त दुखमय जीवन को ही अधिक पसन्द करते हैं। तपस्या मे प्रविष्ट होने वाला हिन्दू सबसे पहले ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि "हे प्रभु! कष्ट दायक उपसर्गों में मैं अपना स्वत्व प्रदर्शित करने मे समर्थ हूँ, पर अनुकूल और वैभव युक्त स्थिति की परीक्षा मे शायद मै असमर्थ हो जाऊँ, इस कारण मुझे ऐसी परिस्थिति से हमेशा बचाये रखना।"

"सङ्गम" इस निर्बलता के स्वरूप को भली प्रकार जानता था और इसी कारण उसने सब ओर से असफल होकर इस कठिन परीक्षा में भगवान् महावीर को डाला। उसने अपनी दैवी शक्ति से अनेक प्रकार के फल फूलों और कामोत्तेजक द्रव्यो से युक्त वसन्त ऋतु का आविर्भाव किया और उसके साथ कई ललित-ललनाओ की उत्पत्ति कर उसने कामसैन्य की पूर्ति की।

अपने अनुपम सौन्दर्य की राशि से विश्व को विमोहित करने वाली अनेक सुंदर सलोनी रमणियां महावीर के आस पास आकर रास रचने लगीं। नाना प्रकार के हावभाव, कटाक्ष और मोहक अङ्ग विशेष से वे अपनी केलि-कामना प्रकट करने लगीं। कई प्रकार के बहानों से वे अपने शरीर पर के वस्त्रों को ढीले करने लगीं, और बँधे हुए केशपाश को ऊँचे हाथ करके बिखरने लगीं। कुछ लावण्यवती बालिकाओं ने कामदेव के विजयी पुष्प-

वाण के समान दिव्य संगीत प्रारम्भ किया, और कोई प्रभु को गाढ आलिङ्गन दे, अपनी दीर्घ काल जनित वियोगाग्नि को शांत करने लगीं, कोई अपनी लचकीली कमर के टुकडे करती हुई नाना प्रकार के हाव-भाव युक्त नृत्य करने लगीं।

यदि कोई साधारण कुल का तपस्वी-जिसने यौवनकाल में इस प्रकार के सुखों का अनुभव नहीं किया है—होता तो निश्चय था कि वह इस इन्द्रपुरी के नन्दनकानन को और उसमे विचरण करनेवाली विलासमयी रमणियों को देख कर तपस्या से स्खलित हो जाता। पर इस स्थान पर तो–जहाँ कि सङ्गम अपनी विविध चेष्टाओं को आजमा रहा था–महावीर थे, ये वे ही महावीर थे जिन्होंने अपने यौवन-काल में इसी प्रकार के भोगों को गर्वी के साथ भोगा था, और इनकी अपूर्णता को पूर्णतया समझ कर एक दिन बहुत सन्तोष के साथ इनको लात मार दी थी, कैसे सम्भव था कि वही महावीर उन्हीं भोगों की पुनरावृत्ति पर रीझ जाते। मतलब यह है कि सङ्गम की यह चेष्टा भी निरर्थक हुई, वे सब भागवती अप्सराएँ अपना सा मुख लेकर चली गई।

पर सङ्गम सहज ही हारनेवाला देव न था, उस उपाय मे भी असफलता होते देख उसने एक नवीन कृत्य की योजना की। वह इस बात को जानता था कि महावीर अपने माता-पिता के बडे ही भक्त थे। उन्होंने अपनी उम्र में कभी माता-पिता की आज्ञा का उल्लघन नहीं किया था। ऐसी स्थिति मे यदि इस समय भी उनके माता-पीता के प्रति रूप में किसी को यहाँ उपस्थित किया जाय तो सम्भव है कि यह तपस्वी तपस्या से स्खलित हो जाय।

सङ्गम के विद्या-बल से तुरन्त ही राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला वहाँ आ पहुँचे। त्रिशला ने आते ही महावीर के कन्धे पर हाथ रख कर कहा, "नन्दन! हम लोगों को दुखिया छोड़ कर तुम यहाँ कैसे चले आये। देखो तो मैं और तुम्हारे पिता तुम्हारे वियोग में कैसे जर्जित हो गये हैं, उठो लल्ला घर चल कर प्रजा को और अपने माता पिता को सुखी करो।"

ये खेल सङ्गम की दृष्टि मे या अपनी दृष्टि में चाहे महत्व पूर्ण हों पर भगवान् महावीर की दृष्टि में तो बिल्कुल तुच्छ थे; क्योंकि वे तो जानते थे कि जब तक देव अपनी आयु को पूर्ण नहीं कर लेते, तब तक कहीं नहीं जा सकते। यह सङ्गम तो क्या–संसार की कोई महाशक्ति भी उन्हें यहाँ नहीं ला सकती। भला इस प्रकार के दिव्य ज्ञानधारी दीर्घ-तपस्वी महावीर ऐसे ऐन्द्रजालिक प्रलोभनो मे कैसे आ सकते थे।

बस इस अन्तिम चेष्टा के निष्फल होते ही सङ्गम बिलकुल निराश हो गया। वह भली प्रकार समझ गया कि इन्द्र ने इनकी जितनी प्रशंसा की थी, प्रभु उससे भी अधिक महन् हैं। उनके शरीर और मनका एक भी अंश ऐसा निर्बल नहीं है कि जहाँ से किसी भी प्रकार की कमज़ोरी प्रविष्ट होकर उनकी तपस्या को भ्रष्ट कर डाले। अतएव वह निराश हो प्रभु की नाना प्रकार की स्तुति करके अपने स्थान पर चला गया।

एक बार महावीर विहार करते करते एक नगर के समीप-वर्ती बन में आकर ठहरे, वहाँ पर मन वचन और काया का

निरोध करके वे समाधिस्थ हो गये। उस मार्ग में एक गुवाल अपने दो वैलों को साथ लेकर निकला, उस स्थान पर आते आते उसे किसी आवश्यकीय कार्य्य का स्मरण हो आया जिससे वह वैलों की रक्षा के निमित्त प्रभु को चेतावनी देकर चला गया। पर प्रभु तो ध्यान में थे, उनका ध्यान गुवाल के उस कथन पर अथवा वैलों की ओर विलकुल न गया, और इसलिए उन्होंने उस गुवाल को कुछ भी उत्तर न दिया। इधर गुवाल भी "मौनं सम्मति लक्षणं" यह समझ कर चल दिया। दैवयोग से वैल चरते चरते वहाँ से कुछ दूर निकल गये। बहुत देर पश्चात् वह गुवाल पुनः वहाँ आया, वहाँ आकर उसने देखा कि उन दोनों वैलों का पता नहीं है। उसने भगवान् से वैलों के विषय में पूछा। पर प्रभु पहले ही के समान उस समय भी मौन रहे। उसने वार वार प्रभु से पूछा पर वे उसी अवस्था में मौन रहे। इससे उसे अत्यन्त क्रोध चढ़ आया। उसे उनकी ध्यानस्थ अवस्था का रत्ती भर भी भान न था। प्रभु का यह मौन धारण उनके कर्म के उदय मे निमित्त रूप हो रहा था। इस प्रसङ्ग पर गुवाल के द्वारा कर्म की फलदात्री सत्ता के उदय का काल आ पहुँचा था, प्रभु के पूर्वभव में किये हुए पापों का फल मिलने का अवसर विल्कुल समीप आ गया था। इस कष्ट की उत्पत्ति का कारण प्रभु ने त्रिपुष्ट वासुदेव के भव में उत्पन्न किया था। इस गुवाल का जीव उस समय त्रिपुष्ट वासुदेव का शैय्यापालक था। एक वार वासुदेव निद्रामग्न होने की तैयारी में थे, उस समय कई गायक उनके पास नाना प्रकार के

सङ्गीत कर रहे थे। वासुदेव ने शय्यापालक को आज्ञा दी कि जब मै निद्रामग्न हो जाऊं तब इन गायकों को यहां से विदा कर देना। ऐसा कह कर कुछ समय पश्चात् निद्रामग्न हो गये। पर शैय्यापालक उस सङ्गीत की तान में इतना लीन हो रहा था कि उसे उन गायको की बिदा करने की सुध न रही यहां तक कि उन्हे गाते गाते सवेरा हो गया। वासुदेव भी शय्या छोड़ कर उठ बैठे और बैठे हुए उन गायकों को अभी तक गाते हुए देख कर बड़े आश्चर्य्य-चकितहुए। उन्होंने शैय्यापालक से पूछा कि अभी तक इन गायको को क्यों नही बिदा किये ? उसने उत्तर दिया कि "प्रभु सङ्गीत के लोभ से।" यह सुनते ही वासुदेव आग आग हो गये, इस छोटे से प्राणी की इतनी मजाल। उन्होने उसी समय हुक्म दिया कि इसकी कर्णेन्द्रिय ने यह भयङ्कर अपराध किया है, अतः इसके कानों मे सीसा गला कर भर दिया जावे, तत्कालीन आज्ञा का पालन हुआ। गलाया हुआ गर्म गर्म सीसा शैय्यापालक के कानो में डाला गया। इसी तीव्र वेदना के कारण उसकी मृत्यु हो गई। वह कई भावों मे भटकता हुआ इस गुवाले के शरीर में उत्पन्न हुआ। इधर त्रिपुष्ट की आत्मा भगवान महावीर के रूप मे अवतीर्ण हुई। उस उग्र और प्रचण्ड भाव का उदय इस समय आकर हुआ। प्रभु ने पूर्व भव में अपने राजत्व के अभिमान में ओतप्रोत होकर एक साधारण कोपोत्तेजक कारण से इतना भयङ्कर कार्य कर डाला। उसी का बदला उसी प्रकार-बैल का पता न बतलाने ही के कारण से कुपित होकर उस गुवाले ने लिया। उसने प्रभु के दोनों कानों में शरकरा वृक्ष की दो कीलें जोर से ठोक दीं, और उन कीलो के ठोकने की किसी को मालूम

न हो इस वास्ते उसने बढ़े हुए मुँह काट कर उनको बेमालूम कर दिया। प्रभु इस भयङ्कर अवसर में भी अपनी उच्च वृति के कारण विचलित न हुए। वे जानते थे कि इस विश्व में किसी कारण के बिना एक छोटा सा कार्य्य भी सम्पन्न नहीं हो सकता। वे जानते थे कि गुवाल ने जो भयङ्कर कष्ट दिया है उसके भी मूल कारण वे स्वयं ही थे, वह कार्य तो उनके उत्पन्न किये हुए कारण का फल मात्र था।

वासुदेव के भव में महावीर ने अपने सेवक के कानों में गर्म सीसा डालते समय जिन मनोभावों के वश हो कर भयङ्कर असाता वेदनीय कर्म का बन्ध किया उन मनोभावो के अंतर्गत दो तत्व मुख्यत. पाये जाते हैं—

१—अपनी उपभोग सामग्री को दूसरे के उपभोग आते हुए देख कर उत्पन्न हुई ईर्पात्मक भावना—

२—अपनी उपभोग सामग्री पर दूसरे को आक्रमण करते हुए देख कर उसके अपराध का विचार किये बिना ही मदान्ध-नीति के अनुसार उत्तेजना के वश होकर की हुई दण्ड की योजना।

अपनी उपभोग सामग्री का उपभोग एक दूसरे व्यक्ति के द्वारा होते हुए देख कर उसका बदला लेते समय जिस प्रकृति का उदय होता है उसकी तीव्रता, गढ़ता और स्थायित्व का नियामक उस उपभोग सामग्री के प्रति रहा हुआ अपना ममत्व है। मेरे पुण्य बल से जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है उसका भोक्ता मेरे सिवाय कोई दूसरा नहीं हो सकता। इस प्रकार की भावना मनुष्य प्रकृति के अन्दर स्वभाव रूप ही पाई जाती है। यदि

कोई दूसरा व्यक्ति नजर चुरा कर उन अधिकारों का उपभोग करने की चेष्टा करता है, तो उस पर स्वभावतयः ही क्रोध उत्पन्न होता है। पर यदि बुद्धि को निर्मल करके हम सोचते हैं तो हमे मालूम होता है कि जिस वस्तु को हम अपने पुण्यवल से प्राप्त हुई गिनते हैं, और जिस पर हम केवल अपना ही अधिकार समझते हैं, उस वस्तु की सुखदायी शक्ति कितने ही विशेष कारणों पर अवलम्बित रहती है। वस्तु की सुखदात्री शक्ति जिन अंशों के समुच्चय से प्रगट होती है, उन अंशों का तिरस्कार करना भारी मूर्खता है। क्योंकि हमारा समाज हमारे सुखों का कई अंशो मे सहभागी है। हमारे सुख का समाज के साथ शरीर और अवयव का सम्बन्ध है। अर्थात् समाज हमारे सुख का एक प्रधान अङ्ग (Constituent) है। हमारी उपभोग सामग्री का आधार कितने ही अंशा मे समाज पर निर्भर रहता है।

मनुष्य-हृदय के गुप्त मर्म का अध्ययन करने से हमें मालूम होता है कि सुंदर और सुखद वस्तुओं का उपभोग मात्र करने से हमें तृप्ति नही होती है। जब तक हमारे सुखानुभव का ज्ञान वाहरी जगत् को नहीं होता तब तक हमें उस सुख से तृप्ति नहीं हो सकती। सुन्दर वस्त्रालङ्कारों के पहनने में जो सुख है, उसका विश्लेषण करने से हमें मालूम होता है कि उस सुख का एक छोटा सा अश भी उन वस्त्रालंकारों में नहीं है। उनमे स्पर्श सुख भी विल्कुल नही है। इतना ही नहीं, प्रत्युत उल्टे उन वस्त्राल-कारो से शरीर पर एक प्रकार का भार सा मालूम होता है। फिर भी हम उसमें जो सुख का अनुभव करते हैं उस सुख का मूल तत्व समाज, इन वस्त्रालंकारों के पहनने से हमे सुखी गिनेगा

इसी बात में रहा हुआ है। यदि सुन्दर वस्त्रालङ्कारों को पहनते समय इस एक भावना को अलग कर दी जाय तो शेष में उस सुख का किंचित मात्र अश भी नहीं रह जाता और इसी कारण जो लोग समाज के अन्तर्गत कितने ही नवीन वस्त्रालङ्कार पहन पहन कर अपने सौभाग्य की नोटिसबाजी करते फिरते हैं, वे ही अपने मकान पर उन सब वस्त्रालङ्कारों को खोल खोल कर उनसे शीघ्र ही आज़ादी पाने का प्रयत्न करते हैं। इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि पुण्य बल से प्राप्त हुआ अधिकांश सुख आस पास की समाज पर निर्भर रहता है। वास्तविक सुख का अंश उस सम्मान मे छिपा रहता है, जो हमारी समाज से हमें प्राप्त होता है। यदि जन समाज में हमें सुखी समझने वाला एक भी मनुष्य न हो तो हमें प्राप्त हुई अनन्तसुख सामग्री का उतना अधिक मूल्य नहीं रह जाता। सिद्धान्त यह निकला कि सुखी होने के लिए केवल सुख सामग्री की ही नहीं प्रत्युत अपने को सुखी समझने वाले एक जन समाज की भी आवश्यकता होती है।

ऐसी हालत में जब कि जन समाज पर हमारे सुख का इतना अधिक भाग अवलम्बित है तो फिर यह अभिमान करना कि मेरी उपभोग सामग्री पर उसका कुछ भी अधिकार नहीं है। एवं मेरे किये हुए पुण्यों का फल भोगने का मेरे सिवाय दूसरा कोई अधिकारी नहीं। सरासर अपने हृदय की संकीर्णता, पामरता और तुच्छता को प्रगट करना है। अपने सौभाग्य का अभिमान करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह संसार केवल तुम्हारी सुख प्राप्ति के निमित्त ही नहीं रचा गया है।

यह दुनिया तुम्हारे पुण्यबल के प्रताप से प्रगट नहीं हुई है, समाज तुम्हारे सुख पर अवलम्बित नहीं है। प्रत्युत तुम्हारा सुख समाज की रुचि पर अवलम्बित है। ऐसी दशा में समाज के किसी व्यक्ति के प्रति तुम्हारी निराकार वृति तुम्हारी अधमता का सूचक है।

"एक आदमी की मालकियत पर उसके सिवाय दूसरे किसी का अधिकार नहीं है; यह नियम केवल व्यवहार काण्ड में अव्यवस्था न होने देने के लिए एवं समाज की शान्ति रक्षा के निमित्त केवल राज्य सत्ताओं ने बना लिया है। लेकिन स्मरण रखना चाहिये कि यह लौकिक नियम विश्व के राज्य तन्त्र को चलाने वाली दिव्य सत्ता पर ज़रा भी बन्धन नहीं डाल सकता. लोगों की स्वार्थ वृति पर एक प्रकार का समय बनाये रखने के लिए राज्य सत्ताओं ने" एक की वस्तु पर दूसरा आक्रमण न करे इस लौकिक विधान की रचना की है। लेकिन प्रकृति के महा-राज्य में इस प्रकार के स्वार्थों की टक्कर बिलकुल नहीं होती और इसलिए उसमे प्रवेश करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी वस्तु पर एकाधिकार की संकीर्ण भावनाओं को छोड़ देना चाहिये। यदि राजसत्ताओं के द्वारा चलाया हुआ उपरोक्त लौकिक नियम प्रकृति का मौलिक नियम होता तो महावीर, बुद्ध, ईसा आदि महापुरुष उस नियम का कदापि उल्लंघन न करते। पर जब उन्होंने अपनी उपार्जित की हुई वस्तु को सारे विश्व के कल्याण के निमित्त बांट दिया तो फिर उनको अपना आदर्श मानने वाले हम लोगों को भी मानना होगा कि व्यक्तिगत स्वार्थ की ऐसी भावनाएं आत्मा का अधःपतन करती हैं। उन्हीं भाव-

नाओं के कारण जातियां नष्ट हो जाती हैं, देश गुलाम हो जाते है और साम्राज्य विखर जाते हैं। और इन्हीं भावनाओं के कारण मनुष्य के नैतिक जीवन का नाश हो जाता है जो कि सब अनिष्टों की जड़ है। वासुदेव के भव में अपने शैय्यापालक के कान में गर्म गला हुआ शीशा डालने की जो क्रूर सजा महावीर ने दी थी। उसके अन्तर्गत रहे हुए उग्र और निष्ठुर परिणाम इस भव में उदय हुए—प्रचंड असाता वेदनीय कर्म के कारण रूप थे। एक छोटे से अपराध के वदले में ऐसे भयङ्कर दण्ड की व्यवस्था देते समय वासुदेव के हृदय के अन्तर्गत जो स्वार्थ भावना और तीव्र घातक प्रवृति समा रही थी, उसके फल स्वरूप महावीर को इस भव में वैसी ही सजा का मिलना आवश्यकता था। इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

अपनी सत्ता का दुरुपयोग एक निर्वल मनुष्य पर करना बहुत ही वडा पाप है। हमसे कोई जवाव तलव करने वाला नहीं है। हमारे सेवक का जन्म मरण हमारे वायें हाथ का खेल है, इस प्रकार की भावनाओं को हृदयङ्गम कर एक निर्वल सेवक पर मनमाना अत्याचार करना मनुष्यत्व के विलकुल विरुद्ध है। उसका भयङ्कर वदला प्रकृति अवश्य चुका देगी। वासुदेव का सेवक एक निराधार मनुष्य था। उसके पास उनकी दी हुई सजा का विरोध करने के लिये रंच मात्र भी शक्ति न थी। ऐसी हालत में वासुदेव को अपनी वैर भावना पर अंकुश रखने की नितान्त आवश्यकता थी। जिस हालत में कि कोई मनुष्य हमारी आज्ञा के विरुद्ध टससे मस नहीं कर सकता। उस हालत में उसको सजा देते समय मनुष्य को वहुत विवेक वुद्धि से काम

लेना चाहिये। हां यदि हमारा प्रतिपक्षी भी सवल है, हमारी आज्ञा का विरोध करने की उसमें शक्ति है, तो ऐसी हालत में यदि हम उसे ऐसी सजा दें भी तो विरोध की भावना के कारण उतने तीव्र कर्मों का बंध नहीं होने पाता। क्योंकि उसके कर्मों का और हमारे कर्मों का वहुत कुछ समीकरण हो जाता है। शेष में जो कुछ कर्म बचते हैं, उन्हीं को हमें भोगना पड़ता है। लेकिन जहाँ ऐसी वात नहीं है, जहाँ विरोध की भावना का लेश मात्र भी अस्तित्व नहीं है। वहां पर दी हुई इस प्रकार की अविचार पूर्ण सत्ता का फल वहुत उग्र रूप मे भोगना पड़ता है। इस वात को और भी स्पष्ट करने के लिये एक युद्ध का उदाहरण ले लीजिये। हम देखते ही हैं कि युद्ध के अन्दर भयङ्कर मारकाट होती है। हजारो आदमी उसमें गोलियों के निशान वना दिये जाते हैं, हजारों तलवार के घाट उतार दिये जाते हैं, और हजारो वर्छों में पिरो दिये जाते हैं। मतलव यह है कि रणक्षेत्र में मृत्यु का कोलाहल मच जाता है। इतने पर भी मारने वालों के और मरने वालो के उतने तीव्र कर्म का उदय नहीं होता, क्योकि वहाँ पर वदला लेने की शक्ति और विरोध की भावनाओ का अस्तित्व रहता है। अब मान लीजिये उस युद्ध में कुछ लोग कैदी हो गये, ऐसी हालत में यदि वह कैद करनेवाला अपने कैदियों की मनुष्यत्व के साथ रक्षा करता है, उनके खान पान का प्रवन्ध करता है, तव तो ठीक है। पर इसके विपरीत यदि ऐसा न करते हुए वह उनके साथ जरा भी निष्ठुरता का बर्ताव करता है, तो तीव्र असाता वेदनीय का वन्ध करता है। क्योंकि इस स्थान पर वे आश्रित हैं। इस स्थान पर वे वदला लेने में असमर्थ

हैं। विरोधी को मारने मे उतना पाप नहीं वल्कि कभी कभी तो वह पाप कर्तव्य हो जाता है, लेकिन आश्रित को मारना तो भयङ्कर पाप है, और उससे भयङ्कर वेदनीय कर्म का वन्ध हो जाता है।

सत्ताहीन रङ्क मनुष्य को सुख देने में जितना अनिष्ट होता है, उसे आत्मज्ञ पुरुप ही भली भांति समझ सकते हैं–सूक्ष्म भूमिका पर वैर की वृत्ति किस प्रकार वृद्धि पाती है, इस वात को जिन लोगों ने समझा है, वे सारे संसार को इस वात का सन्देश दे गये हैं। इतिहास के पृष्ठ उस ध्रुव सत्य की साक्षी खुले आम दे रहे हैं। सीता के प्रति अन्याय करने ही से सोने की लङ्का खाक में मिल गई। द्रौपदी के अपमान ने ही इतने वड़े कुरु साम्राज्य का ध्वंस कर दिया। और भी कई एक क्षत्री राज्यसत्ताएँ कई वड़ी वड़ी जातियाँ, इस प्रकार की वृत्ति से नष्ट हो गईं, जव वड़ी वड़ी जातियों और राज्यों का यह हाल है तो फिर एक मनुष्य इस प्रकार की पामर वृत्ति के उग्र फल से किस प्रकार बच सकता है।

वासुदेव को यह सजा देते समय इस वात का गर्व था कि मेरे शासन चक्र में रहनेवाले तमाम मनुष्यों की मैं अपने इच्छानुसार गति कर सकता हूँ। मेरे कार्य में वाधा देनेवाली दूसरी कोई सत्ता इस विश्व में नहीं है। इस अभिमान के आवेश में वे इस वात को भूल गये कि इस भव के सिवाय दूसरा भी कोई भव है, जिसमें इस अधम कृत्य का भयङ्कर फल मिल सकता है। अपनी सत्ता के गर्व में अन्धे होकर वे प्रकृति की महान् सत्ता का विचार करना भूल गये, और इसी कारण इस भव में उनको उसका वदला सहन करना पड़ा। अस्तु!

भगवान् महावीर ने अपनी अपूर्व सहन शक्ति के द्वारा गुवाले का वह उपसर्ग भी शान्ति पूर्वक सहन कर लिया। वहां से चल कर वे एक दूसरे ग्राम में गये वहां पर "खाक" नामक एक वैद्य रहता था, उसने प्रभु की कान्ति को निस्तेज देख कर समझ लिया कि निश्चय इनको किसी प्रकार की शारीरिक पीड़ा है। अनुसन्धान करने से उसे शीघ्र ही उन कीलों का पता लग गया, सिद्धार्थ नामक एक सेठ की सहायता से उसने उन कीलों को खींच लिये। कहा जाता है कि उस समय प्रभु के मुख से एक भयङ्कर चीख निकल पड़ी थी। इतने भयङ्कर उपसर्गों को सहन करते समय उन्होंने एक भी कायरता का ठण्डा श्वास न डाला था, पर इस अन्तिम उपसर्ग मे ऐसा मालूम होता है कि उनके उपशान्त मोहनीय कर्म की कोई प्रकृति अव्यक्त भाव से उदय हो गई होगी, जिसके कारण देह भाव का भान होने से चीख का निकलना सम्भव हो सकता है।

इस उत्कृष्ट उपसर्ग को सहन करने के पश्चात् उन पर किसो प्रकार का उपसर्ग न आया, इसके पश्चात् प्रभु को कैवल्य की प्राप्ति हो गई, कल्पसूत्र के अनुसार वैशाख सुदी दशमी के दिन, दिन के पिछले पहर में, विजय-मुहुर्त के अन्तर्गत, जंभीक नामक ग्राम की बाहर रजु-वालिका नदी के तीर पर वैय्यावर्त नामक चैत्य के नजदीक शालिवृक्ष की छाह में, शुक्ल ध्यानावस्थित प्रभु को सब ज्ञानो में श्रेष्ठ केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।

कैवल्य-प्राप्ति

इतनी कठिन तपस्या के पश्चात् भगवान को केवलज्ञान अथवा बोधिसत्व की प्राप्ति हुई। इतनी कठिन आंच को सहन करने के पश्चात् ज्ञान स्वर्ण अपनी पूरी दीप्ति के साथ चमकने लगा। भगवान् को सत्य सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति हुई। ससार मे आनन्द छा गया। स्वर्ग भी उत्साहित हो उठा।

दुनियां को यदि सब से अधिक इच्छित और सच्चे सुख की प्राप्ति करानेवाली कोई वस्तु है तो वह ज्ञान है, इसी ज्ञान के अभाव से दुनियां अज्ञान के तिमिराच्छन्न गर्भ में गोते लगाती हुई भटकती है। इसी ज्ञान के अभाव के कारण संसार में दुःख तृष्णा और गुलामी के भयङ्कर दृश्य दिखलाई देते हैं। इसी ज्ञान के अभाव से मनुष्य मनुष्य पर जुल्म करता है—प्राणी प्राणी का अहार करता है। इसी ज्ञान के अभाव से संसार में भयङ्कर जीवन कलह के दृश्य देखने को मिलते हैं।

अज्ञान ही मनुष्य जाति का परम शत्रु है, और ज्ञान ही उसका सच्चा मित्र है, वही ज्ञान भगवान् महावीर को प्राप्त हुआ और उनके द्वारा संसार में विस्तीर्ण होनेवाला है, यही जान कर ससार सुखी है—मनुष्य जाति हर्षोन्मत्त है।

केवल ज्ञान की प्राप्ति के समय में जैन-शास्त्रों मे जिस उत्सव की कल्पना की है। वह चाहे कल्पना ही क्यों न हो। पर बड़ी ही सुन्दर है। उसके अन्तर्गत तत्व-ज्ञान का रहस्य छिपा हुआ है। उसके अन्तर्गत उदार साम्यवाद का तत्त्व है।

भगवान् का उपदेश मनुष्य जाति को श्रवण कराने के निमित्ति जिस समवशरण की रचना की गई थी, वह बहुत ही भव्य था। एक बड़ा लम्बा चौड़ा मण्डप बनाया गया था। उसकी सजावट में किसी प्रकार की त्रुटि न रक्खी गई थी। उसके अन्तर्गत, बाहर भिन्न भिन्न विभाग किये गये थे। जिसके भिन्नभिन्न विभागों में देवता, पुरुष स्त्री और यहाँ तक कि पशु-पक्षियों के बैठने का भी स्थान था। भगवान् एक व्यास-पीठ पर स्वर्ण के बनाये कमल पर विराजमान थे, उनके मुख से जो उपदेश ध्वनित होता था, उसे सब देवता मनुष्य यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी अपनी अपनी भाषा मे समझते थे। यही उनके भाषण की व्यवस्था थी।

इन बातों में सत्य का कितना अंश है। इसका निर्णय करने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं, पर इतना अवश्य है कि ये सब बातें एक विशेष प्रकार का अर्थ रखती हैं। पहली विशेषता तो यह थी कि उस सभा मे मनुष्य सब समान समझे गये थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, सब एक समान भाव से पारस्परिक विद्वेष को भूल कर एक साथ उस उपदेश को सुनने के अधिकारी समझे गये थे। दूसरी विशेषता यह थी कि महावीर के अनन्त व्यक्तित्व के प्रभाव से हिंसक पशु भी अपनी हिंसकवृत्ति को छोड़ कर अपने प्रतिद्वन्दी पशुओं के प्रति प्रेमभाव रखते हुए इस सभा में उपदेश सुनने के इच्छुक थे। इससे मालूम होता है कि भगवान् की करुणा प्रवृति इतनी उच्च थी कि उसके दिव्य प्रभाव से हिंसक पशुओं ने भी अपनी हिंसकवृति को छोड़ दी थी।

क्षमा, समता और दया की पवित्र धारायें उस सभा में बैठनेवाले प्रत्येक प्राणी के हृदय में शतधार और सहस्रधार से प्रवाहित हो रही थी।

यह समवशरण "अपाया" नामक नगरी के बाहर रचा गया था। जिस समय समवशरण सभा में प्रभु का उपदेश सुनने के निमित्त हजारों पुरुष स्त्री जा रहे थे। ठीक उसी समय में किसी धनाढ्य गृहस्थ के यहाँ इन्द्रभूति अग्निभूति और वायुभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण पण्डित यज्ञ करवा रहे थे। उस काल में इनकी विद्वत्ता की ख्याति बहुत दूर दूर तक फैली हुई थी। इन लोगों ने असंख्य नर-नारियों को उधर की ओर आते हुए देख कर पहले तो यह सोचा कि ये सब हमारे इस यज्ञ को देखने के निमित्त आ रहे हैं और यह जानकर उन्हे बड़ा आनन्द भी हुआ। पर जब उन्होंने देखा कि इन आगान्तुक व्यक्तियों में से किसी ने उनकी ओर आँख उठा कर भी न देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। अन्त मे किसी से पूछने पर मालूम हुआ कि ये सब लोग सर्वज्ञ प्रभु महावीर की वन्दना करने को जा रहे हैं। इन्द्रभूति ने यह सुन कर अपने मन में कहा कि संसार में मेरे सिवाय भी दूसरा कोई सर्वज्ञ है। जिसके पास ये सब लोग दौड़े जा रहे हैं, सब से बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इस समय परम पवित्र यज्ञ-मण्डल की ओर भी इनका ध्यान आकर्षित नहीं होता। सम्भव है कि जिस ढङ्ग का इनका सर्वज्ञ होगा, उसी ढङ्ग के ये भी होंगे। ऐसा सोच वह अप्रतिभसा होकर चुप हो गया।

इसके कुछ समय पश्चात् जब सब लोग भगवान् महावीर

की वन्दना करके वापिस आ गये तब इन्द्रभूति ने उनसे पूछा कि भाई, सर्वज्ञ देखा ! कैसा है ! तब उन्होंने कहा कि अरे, क्या पूछते हो, उनके गुणों की गिनती करना तो गणित के पारिधी से भी बाहर है। यह सुन कर इन्द्रभूति ने मन ही मन सोचा कि यह पाखण्डी तो कोई जबरदस्त मालूम होता है। इसने तो बड़े बड़े बुद्धिमान् मनुष्यो की बुद्धि को भी चक्कर में डाल दिया है। अब इस पाखण्डी के पाखण्ड की पोल को शीघ्रातिशीघ्र खोलना मेरा कर्तव्य है। नहीं तो असंख्य भोले प्राणी इसके पाखण्ड की ज्वाला में जल कर भस्म हो जायेंगे। यह सोच कर वह बड़े ही गर्वपूर्वक अपने पॉच सौ शिष्यो को लेकर महावीर को पराजित करने के इरादे से चला। सब से प्रथम तो वहाँ के ठाट को देख कर ही स्तम्भित हो गया, उसके पश्चात् वह अन्दर गया। महावीर तो अपने ज्ञान के प्रभाव से उसका नाम, गोत्र और उसके हृदय मे रहा हुआ गुप्त संशय जिसे कि उसने किसी के सामने प्रकट न किया था, जानते थे। उसे देखते ही अत्यन्त मधुर स्वर से उन्होंने कहा:—

"हे गौतम ! इन्द्रभूते त्वं सुखेन समागतोसि" महावीर के मुँह से इन शब्दों को सुन कर उसका आश्चर्य और भी बढ गया। पर यह सोच कर उसने अपना समाधान कर लिया कि मेरा नाम तो जगत प्रसिद्ध है, यदि उसे इसने कह दिया तो क्या हुआ। सर्वज्ञ तो इसे तब समझना चाहिये कि जब यह मेरे मनोगत भावों को बतला दे।

इतने ही में महावीर कहते हैं कि हे विद्वान् ! "तेरे मन में जीव है या नहीं" इस बात का सशंय है और इसका कारण वेद

ने कहा—गौतम केवली की आशातना मत करो।" यह सुन गौतम ने उनसे भी इसके लिए क्षमा मांगी।

गौतम फिर सोचने लगे—"अवश्य मैं इस भव में सिद्धि न पा सकूंगा। क्योंकि मैं गुरु कर्मी हूँ। इन महात्माओं को धन्य है जिनको कि क्षणमात्र में कैल्य प्राप्ति हो गई।" गौतम के मन की स्थिति को अपने ज्ञान द्वारा जान कर प्रभु ने उससे कहा गौतम्! तीर्थंकरों का वचन सत्य होता है अथवा देवता का? गौतम ने कहा–तीर्थंकर का।

प्रभु ने कहा–तव अधीर मत हो, स्त्रिओं, शिष्यो पर गुरु का स्नेह द्विदल (वह अन्न जिसकी दाल बनती है) के ऊपर के तृण के समान होता है। जो कि तत्काल दूर हो जाता है। पर गुरु पर शिष्य का स्नेह ऊन की चटाई के समान दृढ़ होता है। चिरकाल के संसर्ग से हमारे पर तुम्हारा स्नेह बहुत दृढ़ हो गया है। यह स्नेह का जब अभाव होगा तभी तुम्हे कैवल्य की प्राप्ति होगी।

राजगृह नगर के समीप वर्ती "शालि" नामक ग्राम मे धन्या नामक एक स्त्री आकर रही थी, उसकी सारी सम्पत्ति और वंश नष्ट हो गया था। केवल सङ्गमक नामक एक पुत्र बचा हुआ था। उसको साथ लेकर वह वहां रहती थी। सङ्गमक वहाँ के निवासियों के बछड़ों को चराता था। एक बार किसी पर्वोत्सव का दिन आया। घर घर खीर खाण्ड के भोजन बनने लगे, संगमक ने भी इस प्रकार का भोजन बनाते हुए देखा। उन भोजनो को देख कर उसकी इच्छा भी खीर खाने की हुई तब उसने घर जाकर अपनी दीन-माता से खीर बनाने

चित्त, चैतन्य, विज्ञान और संज्ञा आदि लक्षणों से जानी जा सकती है। यदि जीवन नहीं है तो फिर पुण्य और पाप का पात्र कौन रह जाता है और तेरे इस योग, यज्ञ दान करने का निमित्त कौन हो सकता है ?

इस प्रकार महावीर ने उसका पूर्ण समाधान कर दिया, इस समाधान से तथा प्रभु के जगदद्वैत साम्राज्य को देखने से इन्द्रभूति ने दीक्षा स्वीकार कर ली। इन्द्रभूति वीरप्रभु के प्रथम शिष्य हुए, इस बात को सुन कर अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्म्माचार्य, आदि दस पण्डित और अपनी अपनी शंकाओं को ले कर आये, उन सबका समाधान वीरप्रभु ने बहुत उत्तम ढङ्ग से कर दिया। इस पर वे सब वीरप्रभु के शिष्य हो गये। ये ग्यारहो पण्डित भगवान् महावीर के गणधर कहलाये।

उपदेश का प्रारम्भ

अब भगवान् महावीर ने उस सत्य का सन्देश जिसे उन्हे अत्यन्त कठिन तपश्चर्य्या के पश्चात् प्राप्त किया था सारे विश्व को देना प्रारम्भ किया, एक विद्वान् का यह कथन बिलकुल ठीक है कि महापुरुषों का प्रत्येक कार्य्य जगत् के स्वार्थ के निमित्त हुआ करता है। कवि मिल्टन का कथन है कि :—

It is death to hide one's tallent which God had Given him.

भगवान् महावीर ने समस्त जगत् के कल्याण के उद्देश्य से अपना उपदेश देना प्रारम्भ किया। सब से पहले उन्होंने इस बात की घोषणा की कि जगत् का प्रत्येक प्राणी जो अशान्ति,

अज्ञान और अत्यन्त दुःख की ज्वाला में जल रहा है, मेरे उपदेश से लाभ उठा सकता है। अज्ञान के चक्र में छटपटाता हुआ प्रत्येक जीव चाहे वह तिर्यंच हो चाहे मनुष्य, आर्य्य हो चाहे म्लेच्छ, ब्राह्मण हो या शूद्र, पुरुष हो या स्त्री मेरे धर्म के उदार झण्डे के नीचे आ सकता है। सत्य का प्रत्येक इच्छुक मेरे पास आकर अपनी आत्म-पिपासा को बुझा सकता है।

इस घोषणा के प्रचारित होते ही हजारों सत्य के भूखे प्राणी महावीर की शरण में आने लगे। वे भी आये जो मोक्ष के इच्छुक थे, वे भी आये जो अज्ञान के चक्र में दुखी होकर भटक रहे थे। महावीर की उदार आत्मा ने सबका स्वागत किया अपने दिव्य उपदेशामृत से उन्होंने सबका सन्तोष किया।

भगवान् महावीर ने धर्म की सत्ता अपने हाथ में न रक्खी थी। वे किसी भी व्यक्ति को सत्य का स्वरूप बतला देते थे। जिसके जी में जचता वही उसे ग्रहण करके उनका शिष्य हो जाता था। चाहे ब्राह्मण हो चाहे शूद्र, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, जो उनके बतलाये हुए सत्य को मानता और उसके कथनानुसार चरित्र का पालन करता उसीको वे शिष्य की तरह ग्रहण कर लेते।

इधर तो महावीर के इस उदार धर्म में हजारों लोग प्रविष्ट हो रहे थे। उधर बुद्ध की आवाज़ भी दुखी लोगों को आमन्त्रित कर रही थी। हजारो लाखो आदमी ब्राह्मणों के अनुदार पजे से निकल कर उस झण्डे के नीचे भी एकत्रित हो रहे थे।

शुभ परिणाम इसका यह हुआ कि समाज के अन्तर्गत मनुष्यत्व से रहित जो निष्ठुर अत्याचार होते थे वे बन्द हो गए, यज्ञ की पवित्र वेदी पर लाखों पशुओं का काटा जाना भी बन्द

हो गया। और जो गगनभेदी करुण-चित्कार भारत की पवित्र भूमि से निकल कर मनुष्यत्व के कलेजे को विदीर्ण करती थी, वह भी रुक गई। वर्णाश्रम धर्म का ध्वंस मिट गया, जाति भेद की दुष्ट प्रथा का भी करीब करीब नाश हो गया। साम्यवाद की दुंदुभी बजने लगी क्रान्ति रूपी प्रचण्ड सूर्य का तेज अस्त हो गया और उसके स्थान पर समाज के अन्तर्गत शीतल चन्द्रिका से युक्त शांति-चन्द्र का उदय हुआ—भारतवर्ष के इतिहास में फिर से एक स्वर्ण युग के उपस्थित होने का अवसर आया।

भगवान् की उपदेश देने की शैली बड़ी ही उत्कृष्ट ढङ्ग की थी। वह शैली हम लोगों के लिये आदर्श रूप है। महावीर ने आजकल के उपदेशकों की तरह कभी दूसरों के छिद्र शोधने का वा दूसरों के आचार विचार पर चौ धारी तलवार चलाने का प्रयत्न नहीं किया। विश्व का उत्कृष्ट कल्याण करने के निमित्त ही उनके तीर्थ-कर पद का निर्माण हुआ था। लेकिन उन्होंने अपना निर्माण सिद्ध करने के निमित्त कभी किसी पर किसी प्रकार का अनुचित प्रभाव डालने की कोशिश नहीं की और न कभी उन्होंने किसी को आचार विचार छोड़कर अपने दल में आने के लिये प्रलोभित ही किया। उनकी उपदेश पद्धति, शान्त, रुचिकर, दुश्मनों के दिलों में भी अपना असर पैदा करने वाली, मर्म-स्पर्शी और सरल थी। सारी दुनियाँ मेरे झण्डे के नीचे चली आय, इस प्रकार की इच्छा उन्होंने स्वप्न मे भी न की थी। वे जानते थे कि इस प्रकार की इच्छा करना भी मनुष्य हृदय का अज्ञान प्रकाश करनेवाली कमजोरी है। कभी ऐसा समय संसार में उपस्थित नहीं हुआ जिसमें दुनियाँ बिना किसी मत भेद के रखे

हुये एक महात्मा की अनुयायिनी हो गई हो और न कभी भविष्य मे होगी

कहा जाता है कि भगवान् का दिया हुआ—पहला उपदेश बिलकुल निरर्थक हुआ। उसका असर एक अन्तःकरण पर भी न पड़ा। लेकिन महावीर को इससे बिल्कुल चिन्ता न हुई। उनका समुदाय भी संख्या मे औरो से पीछे रहता था। पर उसकी भी उन्हे चिन्ता न थी। वे तो केवल अपनी शरण में आये हुए व्यक्तियो को प्रेम-पूर्वक ज्ञान का तत्व समझाते थे। यदि वह उपदेश को मान कर चलता और उनका शिष्य हो जाता तो उसकी उन्हे कोई खुशी न होती और यदि उसे न मानता तो रंज का भी कोई कारण न था। संसार के सन्मुख उन्होंने सुख के साधनों की एक लडी तैयार करके रक्खी थी। जिसकी इच्छा होती वह इससे फायदा उठाता। जिसकी इच्छा न होती वह उसे देख कर ही चल देता। महावीर को इससे किसी प्रकार का हर्ष और विषाद न होता था।

इतिहास स्पष्ट रूप से इस बात को बतला रहा है कि "गौशाला" के समान एक सामान्य मत पवर्तक के अनुयायियो की संख्या महावीर के अनुयायियों से अधिक थी। इससे साबित होता है कि भगवान् ने कभी अपने अनुयायियो को बढ़ाने की कोशिश नहीं की। उनका यह अनुभव गत सिद्धान्त था कि अपने उपदेश को बलात्कार मनुष्य जाति के गले मढ़ने मे कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता—उससे तो एक क्षणिक आवेश पैदा होता है। जो बहुत ही मामूली चोट से मिट

सकता है। इसलिये उन्होंने केवल ऐसे ही उपाय किये जिससे मनुष्य जाति को सत्य की ओर रुचि हो, लोगों के अन्तःकरण में सत्य की स्थाई छाप बैठ जाय। वे परिणामदर्शी थे। वे जानते थे कि केवल अधिक संख्या में समाज को बढ़ाने से कुछ लाभ नहीं। कुछ समय तक तो वह दुनिया के पर्दे पर चलता रहता है, पर ज्योंही उसमें कुछ विश्रृंखलता उत्पन्न हुई कि, त्योंही छिन्न भिन्न हो जाता है। यहाँ तक कि उसका कुछ चिन्ह तक शेष नहीं रह जाता, लोक का कल्याण और अपने समाज की संख्या बढ़ाना ये दोनों कार्य्य बिल्कुल जुदे जुदे है। समाज का सङ्गठन करना अथवा उसकी संख्या बढ़ाना यह तो मनुष्य की व्यवस्थापक शक्ति पर निर्भर है। पर लोक कल्याण के लिए विशुद्ध प्रेम, निस्वार्थ भावना, और एक प्रकार की अलौकिक शक्ति की आवश्यकता है।

अनुयायियों की संख्या बढ़ाना यह महावीर का एक गौण लक्ष्य था, उनका प्रधान लक्ष्य तो लोक कल्याण ही था। उन्होंने हमेशा कपने सुखद-सिद्धान्तों को जनता के हृदय में गहरे पेठा देने का प्रयत्न किया। उनके अनुयायी "बुद्ध" और और "गौशाला" की अपेक्षा कम थे। पर जितने भी थे, पक्के थे। उनकी रग रग में महावीर का उपदेश व्याप्त हो गया था, और यही कारण है कि केवल संख्या के बल मे श्रद्धा रखने वाले "गौशाला" का एक भी अनुयायी आज भारतवर्ष के किसी भी कोने में नहीं मिलता। उसकी फिलासफी के खण्डहर भी कहीं देखने को नहीं मिलते। इसी प्रकार बौद्धधर्म-जिसने अशोक के समय में सारे भारतवर्ष पर अपना अधिकार कर

मुनि ने कहा—"जो दीक्षा ग्रहण करते हैं वे सारे जगत के स्वामी होते हैं।" शालिभद्र ने कहा—"यदि ऐसा है तो मैं भी अपनी माता की आज्ञा ले कर दीक्षा लूंगा।" ऐसा कह वह घर गया। और माता को नमस्कार कर कहा—"हे माता! आज श्री धर्म-घोप मुनि के मुख से मैंने संसार के सब दुखों से छुड़ा देने वाले धर्म की परिभापा सुनी है। उसके कारण मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। इसलिए तुम मुझे आज्ञा दो जिससे मै व्रत लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करूं।" भद्रा ने कहा—वत्स! तेरा यह कथन बिल्कुल उपयुक्त है। पर व्रत को निभाहना लोहे के चने चवाने मे भी अधिक कष्टप्रद है। उसमें भी तेरे समान सुकोमल और दिव्य भोगों से लालित पुरुप के लिए तो यह बहुत ही कठिन है। इसलिए यदि तेरा यही विचार है तो धीरे धीरे थोड़े थोड़े भोगों का त्याग कर अपने अभ्यास को बढ़ाले। पश्चात् तेरी इच्छा हो तो दीक्षा ग्रहण कर लेना।" शालिभद्रने माता के इस कथन को स्वीकार किया और उसी दिन से वह एक एक शय्या और एक एक स्त्री का त्याग करने लगा।

कुछ समय पश्चात् जब वीरप्रभु वैभारगिरि पर पधारे तब शालिभद्रने जाकर उनसे मुनि व्रत ग्रहण किया। उग्र तपश्चर्य्या करते करते शालिभद्र मुनि मनुष्य आयु के व्यतीत हो जाने पर मानवीय देह को छोड़ कर सर्वार्थ सिद्धि विमान में देवता हुए।

× × × × ×

राजा चण्डप्रद्योत को उसकी अङ्गारवती रानी से वासव दत्ता नामक एक सर्व लक्षण युक्त पुत्री थी। चण्डप्रद्योत उस कन्या का बड़ा आदर करता था। उसने उसे सर्व कलानिधान

स्त्रियों की पूर्ण योग्यता को मानना। उनके लिए गुरु-पद का आध्यात्मिक मार्ग खोल देना।

३—लोक भाषा में तत्त्वज्ञान और आचार का उपदेश करके केवल विद्वद्गम्य संस्कृत भाषा का मोह घटाना और योग्य अधिकारी के लिए ज्ञान प्राप्ति में भाषा का अन्तराय दूर करना।

४—ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिये होने वाले यज्ञ आदि कर्म-काण्डों की अपेक्षा संयम तथा तपस्या के स्वावलम्बी तथा पुरुषार्थ प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित करना एवं अहिंसा धर्म में प्रीति उत्पन्न करना।

५—त्याग और तपस्या के नाम रूप शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग की जगह योग के महत्त्व का वायुमण्डल चारो ओर उत्पन्न करना।

उपरोक्त बातें तो उनके सर्व-साधारण उपदेश में सम्मिलित थीं। तत्वज्ञान सम्बन्धी बातों में महावीर "अनेकान्त" और "सप्त भंगी स्याद्वाद" नामक प्रसिद्ध फिलासफ़ी के जन्म दाता थे। इसका विवेचन किसी अगले खण्ड में किया जायगा।

भगवान् महावीर के अनुयायियों और शिष्यों में सभी जाति के लोगों का उल्लेख मिलता है। इन्द्रभूति वगैरह उनके ग्यारह गणधर ब्राह्मण कुलोत्त्पन्न थे। उदायी, मेघकुमार, आदि क्षत्रिय भी भगवान् महावीर के शिष्य हुए थे। शालिभद्र इत्यादि वैश्य और मेताराज तथा हरिकेशी जैसे अति शूद्र भी भगवान् की दी हुई पवित्र दीक्षा का पालन कर उच्च पद को प्राप्त हुए थे। साध्वियो में चन्दनबाला क्षत्रिय पुत्री थी। देवानन्दा ब्राह्मणी थी। गृहस्थ अनुयायियों में उनके मामा वैशालीपति चेटक,

मगधनरेश, श्रेणिक और इनका पुत्र कोणिक आदि अनेक क्षत्रिय भूपति थे। आनन्द, कामदेव आदि प्रधान दृढ़ उपासकों में "शकडाल" कुम्हार था। और शेष ९ वैश्य थे। "ढँक" कुम्हार होते हुए भी भगवान् का समझदार और दृढ़ उपासक था। स्वधक, अम्बड़ आदि अनेक परिव्राजक और सोमील आदि अनेक ब्राह्मणों ने भगवान् का अनुसरण किया था। गृहस्थ उपासिकाओं में "रेवती, सुलसा" और "जयन्ति" के नाम प्रख्यात हैं। "जयन्ति" जैसी भक्त थी वैसी विदुषी भी थी। वह आजादी के साथ भगवान् से शङ्का समाधान करती थी।

भगवान् महावीर के पूर्व से ही जो जैन सम्प्रदाय चला आ रहा था वह उस समय "निगंट्ठ" के नाम से प्रसिद्ध था। उस समय प्रधान निगंट्ठ "केशी कुमार" आदि थे और वे सब अपने को—पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी बतलाते थे। वे लोग तरह तरह के रङ्गों का कपड़ा पहनते थे। एवं चातुर्याम धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन चार व्रतों का पालन करते थे। भगवान् महावीर ने इस पुरातन परम्परा में दो नवीन बातों का और समावेश कर दिया। एक "अचेलधर्म" (नगनत्व) और दूसरी ब्रह्मचर्य्य। इससे मालूम होता है कि पहले परम्परा में वस्त्र और स्त्री के सम्बन्ध में अवश्य कुछ न कुछ शिथिलता आ गई होगी। इसी को दूर करने के लिए महावीर ने इन दोनों नवीन बातों को निग्रन्थत्व में स्थान दिया। पर प्रोफ़ेसर हर्मन जेकोबी का मत कुछ और ही है। वे अपने जैन सूत्रों की प्रस्तावना में लिखते हैं कि ये दोनों बातें महावीर ने "गौशाला" की आजीविक सम्प्रदाय से ग्रहण की हैं। इस बारे में

उन्होंने कई सुदृढ़ अनुमान प्रमाण भी दिये हैं। पर उनमे सत्य का कितना अंश है यह नहीं कहा जा सकता। जो हो, पार्श्वनाथ के अनुयायियो ने प्राचीन और नवीन भिक्षुओ की एक महासभा मे इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया। कितने ही विद्वानों का मत है कि इस समझोते मे वस्त्र रखने तथा न रखने का जो मतभेद शान्त हुआ था। वही आगे चल कर भद्रबाहु के समय मे फिर खड़ा हो गया और उसी समय जैन साधुओं में श्वेताम्बर और दिगाम्बर के फिरके पड़ गये।

शिष्य और गणधर

कल्पसूत्र के अन्तर्गत भगवान् महावीर के गणधरो, मुनियों, आर्जिकाओं, श्रावकों और श्राविकाओं की संख्या उनका दरजा, कुल तथा गौत्र का विस्तृत विवरण दिया गया है। पाठकों की जानकारी के निमित्त संक्षिप्त-रूप से उनका विवरण यहाँ दिया जाता है:—

	नाम	गौत्र	शिष्य
१.	इद्रभूति	गौतम गौत्र	५०० श्रमणों का एक वृन्द
२.	अग्नि भूति	"	
३.	वायु भूति	"	"
४.	आर्य्य व्यक्त	भरद्वाज गौत्र	"
५.	सुधर्माचार्य्य	अग्निवैश्यायन गौत्र	",
६.	मण्डी पुत्र	वसिष्ट गौत्र	२५० श्रमणों का १ वृन्द
७.	मौर्य्य पुत्र	काश्यप गौत्र	२५० ,, का एक वृन्द

८.	अंकापित	गौतम गौत्र	}	६०० श्रमणों का एक वृन्द
९.	अचल वृत	हरितायन गौत्र		
१०.	मेत्रेयाचार्य्य	काण्डीय गौत्र	}	"
११.	प्रभासाचार्य्य	"		

इस प्रकार महावीर के ग्यारह गणधर नौ वृन्द और ४२०० श्रवण मुख्य थे। इसके सिवाय और वहुत से श्रमण और अर्जिकाएँ थीं, जिनकी सख्या क्रम से चौदह हजार और छत्तीस हजार थीं। श्रावकों की सख्या १५००० थीं, और श्राविकाओं की संख्या ३,१८,००० थीं।

इस स्थान पर एक वात वड़ी विचारणीय है। कितने ही पाश्चात्य विद्वान प्राचीन भारतवर्ष के लोगों पर यह एक वड़ा आरोप लगाते हैं कि उस समय के शास्त्रों में "स्त्री" को नरक की खानि कहा है। उसे ससार के वन्धन का कारण वतलाया है। हम इस वात को स्वीकार करते हैं कि हिन्दू धर्म-शास्त्रों में व्यक्ति के जीवन के लिए इस प्रकार की वातें कही गई हैं। पर गृहस्था-वस्था के लक्ष्य-विन्दु से ऐसा कहीं भी नहीं कहा गया है। वल्कि विना सुयोग्य पत्नी के गृहस्थाश्रम को अधूरा भी वतलाया है। गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत स्त्री का उतना ही आसन माना गया है जितना आज कल के पाश्चात्य समाज मे माना जाता है।

भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ जो जीवन-आदर्श की अन्तिम सीढ़ी पर विहार कर रहे थे, उनको भी यह वात खट-कती थी उन्होंने भी साफ़ कहा है कि'—

"शिशुत्व स्त्रैण्य वा यदस्तु तत्तिष्ठतु तदा।
गुणाः पूजा स्थान गुणिषु न च लिङ्ग न च वयः"

शिशु हो या स्त्री हो चाहे जो हो गुण का पात्र है वही पूजनीय है।

ऐसा मालूम होता है कि उस काल मे समाज के अन्तर्गत शूद्रो ही की तरह स्त्रियों के अधिकारो को भी कुचल दिया गया होगा। सम्भवतः इसी कारण शूद्रों ही की तरह स्त्रियों के लिये भी महावीर को इस प्रकार का नियम बनाना पड़ा होगा।

जैन-धर्म पुरुष और स्त्री की आत्मा को समान स्वतन्त्रता देता है। जो लोग यह मानते हैं कि स्त्री को हिन्दू धर्म-शास्त्रों में (Individual liberty) व्यक्ति-स्वातन्त्र्य नहीं दिया गया है वे लोग बड़े भ्रम में है। केवल स्त्री और पुरुष को समान स्वतन्त्रता देकर ही महावीर के उदारहृदय ने विश्राम न लिया। बल्कि प्राणी-मात्र चर और अचर सब को समान स्वतन्त्रता का देने वाला पहला महापुरुष महावीर था। वह महावीर ही था जिसने संसार के प्राणी मात्र की और आत्मा की स्वतन्त्रता के निमित्त ही अपने जीवन को विसर्जन कर दिया।

महावीर के आश्रम में जितना दरजा श्रमण का माना जाता था, आर्यिका का भी उतना ही माना जाता था। पुरुष स्त्री के चरित्र की रक्षा के लिए उन्होने कितने ही भिन्न भिन्न आचारो का निर्माण किया था। महावीर जानते थे कि, स्त्रीत्व और पुरुषत्व केवल कर्मवशात् प्राप्त होता है। लेकिन स्त्री और पुरुष की समान शक्तियां होती हैं। जिस प्रकार एक पुरुष की अपेक्षा दूसरे पुरुष में संयोगवशात् आत्मिकशक्ति मे कमीबेशी हो जाती है। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष नामक व्यक्तियों मे कमी-बेशी हो जाती है। इसलिये यदि हम पुरुषों की स्वतन्त्रता के

सब हक स्वीकार करते हैं तो फिर स्त्रियों के हकों को क्यों स्वीकार न करें। विशालज्ञानी महावीर इस बात को जानते थे और इसी कारण उन्होंने पुरुष और स्त्री के हकों को समान समझा था। अस्तु !

आगे के पौराणिक खण्ड में हम भगवान् महावीर के धर्म-प्रचार और उन पर आये हुए उपसर्गों का वर्णन करते हुए यह बतलाने की कोशिश करेंगे कि उनकी सहनशीलता, उनकी क्षमा और उनकी शान्ति कितनी दिव्य थी।

भगवान् महावीर का निर्वाण

तीस वर्षों तक अपने सदुपदेशों के द्वारा संसार को कल्याण-मय सन्देशा देकर बहत्तर वर्ष की अवस्था में अपने शिष्य सुधर्माचार्य्य के हाथ में धर्म की सत्ता दे राजगृह के पास पावांपुरी नामक स्थान में भगवान् महावीर ने कार्तिक कृष्ण अमावास्या को निर्वाण प्राप्त किया। उनके निर्वाणोत्सव में बहुत ही बड़ा उत्सव मनाया गया। जिसका बहुत ही विकृत रूप आज भी भारतवर्ष में "दीपावलि" के नाम से मनाया जाता है।

भगवान महावीर का चरित्र

Men is heaven born not the thrall of circumstances and of necessities, but the victorious subduer, behold ! how he can become the Announcer of himself and of his freedom. (Carlyle)

"मनुष्य दैवि जन्म का धारक है। वह परिस्थिति और आवश्यकताओं का गुलाम नहीं। प्रत्युत उनका विजयी नेता

है। वह अपने स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व को किस प्रकार दुनियां के सन्मुख उपस्थित कर सकता है इस ओर ध्यान दें।"

आज कल के बुद्धि-वादी काल मे मनुष्य का हृदय बुद्धि-गर्व से इतना अधिक संकीर्ण हो गया है कि वह व्यक्ति की शक्ति पर विश्वास करने मे बहुत हिचकता है। परिस्थितियों के बन्धनो को ठोकरों से उड़ाता हुआ और बाधाओं के जाल को काटता हुआ यदि कोई मनुष्य दुनियां मे महानता की ओर अग्रसर होता है तो हम उसके स्वातन्त्र्य बल को स्वीकार कर उसकी ओर पूज्य भावनाएँ प्रकट करने मे बड़ी आना कानी करते हैं और एक बड़े दार्शनिक की तरह गम्भीर आवाज़ में कह देते हैं कि, उसमें कोई नई बात नही। महावीर का जन्म ऐसी परिस्थिति में हुआ था कि जिसमे रह कर वैसी शक्ति प्राप्त करना अत्यन्त आसान थी। अब वह परिस्थिति नष्ट हो गई है। इस कारण अब ऐसे मनुष्यो का उत्पन्न होना भी दुष्कर है। इस प्रकार कह कर बुद्धिवादी मनुष्य अपनी आत्मा को सन्तोष देते हैं। और इसी प्रकार अपने मे पाये जानेवाले कुदरती गुणों को दबा कर आत्मघात करने को तैयार हो जाते हैं। यह आत्मघात आधुनिक काल मे पहले सिरे की बुद्धिमानी और ज्ञान समझा जाता है। भगवान् महावीर देव थे, वे एक राजपुत्र थे। पूर्वभव मे उन्होने अच्छे कर्म किये थे। परिस्थिति उनके अनुकूल थी। कौटुम्बिक सुख उन्हे प्राप्त था। आदि ये सब बातें हमें प्राप्त नही हैं। इसीलिए हम उनके समान नही हो सकते। यदि वे भी हमारी ही स्थिति में होते तो कदापि इतनी उच्च स्थिति को प्राप्त न करते। इस

प्रकार के समाधानों से हम अपनी दुर्वल आत्माओं को किसी प्रकार सन्तुष्ट कर लेते हैं।

पर यह वात नहीं है जो लोग वीर हैं—आत्मवली हैं—वे प्रत्येक काल में और प्रत्येक स्थिति मे वीर ही रहते हैं। सम्पत्ति की कमी उनके मार्ग मे वाधा नही डाल सकती—कुटुम्व का दु.ख उन्हे अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं कर सकता और न परिस्थिति का वन्धन ही उनके आगे वढ़ने मे विघ्न डाल सकता है।

जो लोग परिस्थिति और समय के अभाव के वहाने—सत्य का मार्ग जानते हुए भी—उस पर न चलने मे वुद्धिमानी समझते हैं, वे अपनी आत्मा का घात करते हैं, अथवा वे अपने दुर्वल विन्दु पर परदा डालने का प्रयत्न करते हैं। पर जो लोग अपनी दुर्वल इच्छाओं को (Desires) जो कि हमारे दृष्टि कोण के आस पास: रहती है। संकल्प (Will) का रूप देकर सुधारना की ओर प्रगति करते हैं। उन्हे किसी भी संयोग से अवश्य अर्थ सिद्धि होती है। "Where there is a will there is a way" इस कहावत में वहुत सुन्दर और दृढ़ सत्य भरा हुआ है। सकल्प वल प्रत्येक स्थान पर विजय प्राप्त करता है। उसकी सम्पत्ति खास करके ध्यान और मन की एक वृति रखने (Concentration) से वढ़ती है। जो कि प्रत्येक समय और स्थिति मे उपयोगी है।

हम आज कल के नवयुवक ज्ञान का अर्थ वड़ा ही विपरीत करते हैं। हम ज्ञान, श्रद्धा और चरित्र को भिन्न भिन्न वस्तुएँ मानते हैं। जैसा हम कहते हैं—जैसा हम जानते हैं—

वैसा ही करने की आदत हम लोगों में बहुत ही कम है, पर महावीर के अन्तर्गत यह बात न थी। वे जैसा कहते थे वैसा ही करते थे। चरित्र और श्रद्धा से रहित ज्ञान तोते की रटी हुई रामायण से अथवा बकरे के गले के स्तन से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। हम लोग सैकड़ों हजारों ग्रन्थ पढ़ पढ़ कर अपने मस्तिष्क में भर लेते हैं, और खूब लिखने एवं पढ़ने को ही विद्या का परम पुरुषार्थ मानते हैं। पर यह ठीक नहीं, हमारा यह लिखना और पढ़ना तब तक लाभप्रद नहीं हो सकता जब तक हम उसे श्रद्धा और चरित्र के साथ सम्बन्ध मे न कर ले।

आज कल के ज्ञान की व्याख्या करते हुए एक विद्वान लिखता है कि—

Our Knowledge has become synomimous with Logic.

"हमारे ज्ञान का दूसरा नाम तर्कवाद पड़ गया है।" जो तर्कवाद में विजयी होता है, वही बड़ा ज्ञानी कहलाता है। पर महावीर के ज्ञान की ऐसी व्याख्या न थी। उनकी व्याख्या निम्न प्रकार से थी:—

चारितं खलु धम्मों जो सो समोत्ति णिदिट्ठो।
मोह चोभ विहीनाः परिणाम आत्मनोहि शमः॥
परिणमति जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पएणतं।
तह्मा धम्मपरिणद आदा धम्मो मुणेयव्वो॥
णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णांण विणाण अप्पाणं,
तह्मा णापां अप्पा, अप्पा णांण व अएणं वा।

उपरोक्त तीन श्लोक महावीर के ज्ञान, धर्म और चरित्र की

व्याख्या बतलाते हैं। वे कहते हैं कि चरित्र धर्म है, और धर्म आत्म-शान्ति है। मोह के क्षोभ से रहित आत्म परिणाम को आत्म शान्ति कहते हैं और जिन भावो के कारण आत्मा पर-द्रव्य में परिणत होती है उन भावों में आत्मा उस समय लीन होती है। इससे आत्मा जब परम चरित्र में—तल्लीन हो जाती है, उस समय चरित्र ही उसका धर्म हो जाता है, और ज्ञान स्वय आत्मा है। ज्ञान बिना आत्मा नहीं, इसमे ज्ञान ही आत्मा है। इस प्रकार चरित्र, धर्म और ज्ञान ये तीनों एक ही है। जितने अंशों में चरित्र है—उतने ही अंशो में ज्ञान है। जिस प्रकार ज्ञान-हीन चरित्र कुचरित्र है उसी तरह चरित्र हीन ज्ञान भी कुज्ञान है। महावीर के इस गहरे तत्वज्ञान को न तो हमारे वे भाई ही समझ सके हैं, जिन्हें हम पुराने जमाने के लोग (Orthodose educated) कहते हैं। और न हमारे आधुनिक शिक्षित बाबू ही उसे भली प्रकार समझ सके हैं। पुराने जमाने के लोग ज्ञान रहित चरित्र को ही सब कुछ मान पकड़ बैठे हैं तो इधर ये नवीन बाबू चरित्रहीन ज्ञान को ही सब कुछ समझ बैठे हैं। जिस प्रकार नवीन लोगो की दृष्टि में पुराने लोग तिरस्कार और दया के पात्र हैं, उसी प्रकार सत्य की दृष्टि में ये नवीन लोग भी उनसे कम तिरस्कार और दया के पात्र नहीं हैं। क्योंकि दोनों ही पक्ष अज्ञान के भ्रममूलक झूले मे झूल रहे हैं। महावीर के इस गहरे तत्वज्ञान को भूलकर दोनों ही पक्ष गलत रास्ते पर विचरण कर रहे हैं—महावीर का ज्ञान चरित्र से रहित न था और इसी प्रकार उसका चरित्र भी ज्ञान विहीन न था।

He felt the seriousness of life and he could not help

being serious at every minute and so he had to keep his mind active forever by keeping observence of strict laws of conduct

भगवान महावीर जीवन का महत्व समझते थे और इसी कारण उन्होंने अपने जीवन का एक मिनिट भी व्यर्थ न गवांया। क्योंकि उपयोगहीन अवस्था में अवश्य प्रमाद उत्पन्न हो जाता है। इसी से महावीर क्रमशः चारित्र के कठिन कठिन नियमों का पालन करते थे।

इसी सबल ज्ञान के कारण महावीर ने विपरीत परिस्थितियों में होते हुए भी आत्मशुद्धि का बंधन स्वीकार कर ज्ञान को चरित्र का रूप देने के लिए सब भोगों का भोग दे डाला। हम यदि किसी सत्य को जान कर उसको ग्रहण करने के निमित्त सब भोगों का भोग दे दें, तो वह सत्यज्ञान का भंडार हो जाय। जब तक हम अपने ज्ञान को चरित्र का रूप न दे दे वहां तक वह ज्ञान कल्पना के किले के समान मालूम होता है।

चरित्र एक प्रवृत्ति है। शारीरिक और मानसिक प्रमाद और जीवन गाम्भीर्य का अभाव इसके बड़े दुश्मन हैं। चरित्र सम्पादन करने में बहुत बड़े परिश्रम की जरूरत होती है। अविछिन्न आत्मनिरीक्षण, आत्मशिक्षण और आत्मयमन, ये तीनों अक्षुण चलते रहना चाहिये। जो बहुत गम्भीर हैं, उनका चरित्र अविच्छिन्न और अनुक्षण होता है, महावीर का चरित्र ऐसा ही था। और इसी कारण उसके नियम भी बड़े कठिन मालूम होते है।

भगवान् महावीर पर उनके द्वादश वर्षीय प्रवास में कितने कठिन कठिन उपसर्गों का आगमन हुआ था। भयङ्कर से भयङ्कर

विपत्तियों का समूह उनपर एक साथ इकट्ठा हो कर उतरा था पर भयङ्कर विपत्तियों के बीच उन महान् उपसर्गों के अन्तर्गत भी महावीर का आत्म-संयम रच मात्र भी विचलित न हुआ। उनका धैर्य उस विकट समय में भी पर्वत की तरह अचल रहा। अत्यंत शक्ति के साथ बिना एक उफ किये उन्होंने सब उपसर्गों को सहन किया। इन्हीं स्थानों पर भगवान् महावीर के चरित्र की महत्ता मालूम होती है।

पौराणिक खण्ड

कल्पसूत्रादि पुराणों में भगवान् महावीर के कई पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ के पौराणिक खण्ड की पूर्ति के निमित्त संक्षिप्त में इन भवों का वर्णन करना आवश्यक है। अतएव हम कई भिन्न २ ग्रन्थों के आधार पर भगवान् महावीर के कुछ भवों का वर्णन नीचे देते हैं।

इस जम्बूद्वीप के अन्तर्गत पश्चिम विदेहक्षेत्र के आभूषण की तरह "जयन्ती" नामक एक नगरी है। उस नगरी में उस समय "शत्रुमर्दन" नामक एक महाप्रतापी राजा राज्य करता था। उसके राज्यान्तर्गत "पृथ्वी प्रतिष्ठान" नामक एक ग्राम था। उसमे "नयसार" नामक एक स्वामीभक्त ग्रामचिन्तक रहता था, यद्यपि वह साधुओं के संसर्ग से रहित था, तथापि पापों से पराङ्मुख और दूसरों के छिद्रान्वेषण से विमुख था। एक बार राजा की आज्ञा से लकड़ी काटने के निमित्त वह जंगल में गया, लकडी काटते काटते उसे मध्यान्ह हो गया। भोजन का समय हो जाने से "नयसार" के नौकर उसके लिये भोजन सामग्री ले आये।

यद्यपि वह अत्यन्त क्षुधातुर था, फिर भी भोजन करने के पहले किसी अतिथि को भोजन कराने की उसकी प्रबल इच्छा थी। इतने ही मे कुछ मुनि जो कि थकावट और पसीने से क्लान्त हो रहे थे, उधर निकल आये। उनको देखते ही वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उनको नमस्कार करके उसने पूछा—"भगवान्! इस भयङ्कर जंगल में जहां कि अच्छे अच्छे शस्त्रधारी भी आने में हिचकते हैं—आप किस प्रकार आ निकले?" मुनियों ने कहा कि एक मनुष्य हमारे साथ था, वह हमे छोड़ कर चला गया, और हम मार्ग भूल कर इधर चले आये। नयसार ने मन ही मन उस मनुष्य की अत्यन्त भर्त्सना की और अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक मुनियों को भोजन करवा कर उन्हे मार्ग पर लगा दिया। उसी दिन से उसने अपने जीवन को भी धर्म की ओर लगा दिया। और अन्त समय शत्रु भावनाओं के साथ मर कर वह सौधर्म स्वर्ग में देवता हुआ।

इस भरतक्षेत्र मे "विनीता" नामक एक श्रेष्ठ नगरी थी। उस समय उसमें श्री ऋषभनाथ के पुत्र भरतचक्रवर्ती राज्य करते थे। उन्हीं के घर पर उपरोक्त ग्रामचिन्तक "नयसार" के जीव ने जन्मग्रहण किया। इसका नाम "मरीचि" रक्खा गया। एक बार अपने पिता भरत चक्रवर्ती के साथ मरीचि, भगवान् ऋषभदेव के प्रथम समवशरण में देशना सुनने के निमित्त गया। ऋषभदेव के उपदेश को सुन कर उसने उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली और तदनन्तर वह भगवान् ऋषभदेव के साथ ही साथ भ्रमण करने में लगा। इस प्रकार बहुत समय तक यह बिहार करता रहा।

एक वार भयङ्कर ग्रीष्म ऋतु का आगमन हुआ, पृथ्वी तवे की तरह तपने लगी, सूर्य्य की सीधी किरणें पृथ्वी पर पड़ने लगीं। ऐसे समय "मरीचि" मुनि भयङ्कर तृषा से पीडित हुए और घवराकर चरित्रावरणीय कर्म के उदय से इस प्रकार सोचने लगे कि; सुमेरु पर्वत की तरह कठिन इस साधुवृत्ति का भार वहन करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। पर अव इस वृत्ति को किस प्रकार छोड़ूं, जिससे लोक निन्दा सहन न करना पड़े। सव से अच्छा यही है कि इस वृत्ति को छोड़ कर मैं त्रिदण्डी सन्यास को ग्रहण करलूं। इस प्रकार कष्ट से कायर होकर मरीचि ने उस वृत्ति को छोड़ दिया और त्रिदण्डी सन्यास को ग्रहण किया।

एक वार ऋषभदेव भ्रमण करते करते पुनः विनीता नगरी के समीप आये। भरत चक्रवर्ती उनके दर्शनार्थ आये। समवशरण सभा में भरत चक्रवर्ती ने पूछा—भगवन्! इस सभा में कोई ऐसा भी व्यक्ति उपस्थित है या नहीं जो भविष्य के इसी चौवीसी में तीर्थंकर होने वाला हो। इस प्रश्न के उत्तर में ऋषभदेव ने मरीचि की ओर संकेत कर कहा कि यह तेरा पुत्र मरीचि इसी भरतक्षेत्र में "वीर" नामक अन्तिम तीर्थंकर होगा। इसके पहले यही पोतनपुर में "त्रिपृष्ट" नामक प्रथम वासुदेव और

---

१ श्वेताम्बरी ग्रन्थकर्त्ताओं का कथन है कि इस प्रकार जाति मेद करके मरीचि ने "नीच "गौत्र" कर्म का वन्द कर दिया था। इसी के परिणाम स्वरूप इसके जीव को नीच गौत्र देवानन्दा" ब्राह्मणी के गर्भ में आना पड़ा था। पर दिगम्बरी ग्रंथकार इस बात को नहीं मानते। —लेखक

विदेहक्षेत्र की मूकापुरी नामक नगरी मे "प्रियमित्र" नाम का चक्रवर्ती होगा।

इस वात को सुनकर "मरीचि" हर्ष से उन्मत्त होकर नाचने लगा। वह ऊँचे स्वर से कहने लगा कि पोतनपुर में मैं पहला वासुदेव होऊँगा, मूका नगरी में चक्रवर्ती होऊँगा और अन्त में अन्तिम तीर्थंकर होऊँगा। अव मुझे किस वात की जरूरत है। मैं वासुदेवों में पहला, मेरा पिता चक्रवर्तियो मे पहला और मेरा दादा तीर्थंकरो में पहला। अहा मेरा कुल भी कितना उत्तम है !

श्री ऋषभदेव का निर्वाण ए पश्चात् मरीचि संसारी लोगों को उपदेश दे दे कर उच्चचरित्र साधुओं के पास भेजता था। एक वार वह वीमार हुआ। जव उसकी परिचर्य्या करने के निमित्त कोई उसके समीप न आया तो उसे वड़ी ग्लानि हुई और स्वस्थ होने पर उसने अपना एक शिष्य वनाने का विचार किया। दैवयोग से अच्छा होने पर उसे "कपिल" नामक एक कुलीन मनुष्य मिला, उसको उसने जैनधर्म का उपदेश दिया। उस समय कपिल ने पूछा कि आप स्वयं इस धर्म का पालन क्यो नही करते हैं। मरीचि ने कहा—मैं उस धर्म का पालन करने मे समर्थ नहीं हूँ।" "कपिल ने कहा कि तव क्या आपके मार्ग मे धर्म नही है ? यह प्रश्न सुनते ही उसे प्रमादी जान अपना शिष्य वनाने की इच्छा से मरीचि ने कहा कि "धर्म तो उस मार्ग मे भी है, और इस मार्ग मे भी है।" इस पर कपिल उसका शिष्य हो गया। जैन पुराणों का कथन है कि इस समय मिथ्याधर्म का उपदेश देने से "मरीचि" ने कोटा-कोटि सागरोपम प्रमाण संसार का उपार्जन किया। उस पाप

की बिना कुछ आलोचना किये हुए ही अनशन के द्वारा उसने देह त्याग की और ब्रह्मदेव लोक में देवता हुआ।

ब्रह्मदेव लोक से च्यव कर मरीचि का जीव "कौल्लाक" नामक ग्राम में कौशिक नामक ब्राह्मण हुआ। विषय में अत्यन्त आसक्त, द्रव्योपार्जन मे तत्पर और हिंसा करने में अत्यन्त क्रूर उस ब्राह्मण ने बहुत काल निर्गमन किया। और अन्त में त्रिदण्डी से मृत्यु पाकर कई भवों में भ्रमण करता हुआ वह 'स्थूणां' नामक स्थान में "मित्र" नामक ब्राह्मण हुआ। वहां पर भी त्रिदण्डी से मृत्यु पाकर वह सौधर्म देवलोक में मध्य स्थिति वाला देव हुआ। वहां से च्यव कर "अग्न्युद्योत" नामक ब्राह्मण हुआ। इस जन्म में भी वह पूर्व की तरह "त्रिदण्डी" हुआ। उस योनि से मृत्यु पाकर वह इशान स्वर्ग मे देवता हुआ। वहां से च्यव कर मन्दिर नामक सन्निवेश में "अग्निभूति" नामक ब्राह्मण हुआ। उस भव में भी "त्रिदण्डी" ग्रहण कर बहुत सी आयु का उपभोग किया और अन्त मे मर कर सनत्कुमार देव-लोक में मध्यम आयुवाला देव हुआ। वहां से च्यव कर श्वेता-म्बी नगरी में भारद्वाज नामक विप्र हुआ। उस भव में त्रिदण्डी होकर बहुत आयु भोगने के पश्चात् मृत्यु पाकर माहेन्द्र कल्प में मध्यम आयुवाला देव हुआ। वहां से च्यव कर राजगृही में वह "स्थावर" नामक ब्राह्मण हुआ। वहां से मृत्यु पाकर वह ब्रह्मदेव लोक में मध्यम आयुवाला देव हुआ।

राजगृही नगरी में "विश्वनन्दी" नामक राजा राज्य करता था। उसकी "प्रियङ्ग" नामक स्त्री से "विशाखनन्दी" नामक एक पुत्र हुआ। उस राजा के "विशाख भूति" नामक एक भाई भी

था जिसकी "धारिणी" नामक स्त्री थी। मरीचि का जीव पूर्व भव मे उपार्जित किये हुए शुभ कर्मों के उदय से "धारिणी" के गर्भ मे आया। जन्म होने पर इसका नाम "विश्वभूति" रक्खा गया। बालकपन से विकास करते करते क्रम से "विश्वभूति" ने यौवन में पदार्पण किया। एक बार नन्दनवन में इन्द्र के समान विश्वभूति अपने अन्तः पुर सहित "पुष्पकरण्डक" नामक उद्यान मे क्रीड़ा कर रहा था। इतने ही मे राजपुत्र विशाखनन्दी भी क्रीडा करने की इच्छा से वहां आया। पर भीतर विश्वभूति को देख कर वह बाहर ही ठहर गया। इतने मे प्रियङ्गु रानी की दासियां फूल लेने की इच्छा से वहां आई और उन दोनों मे से एक को भीतर और दूसरे को बाहर देख कर वे वापस लौट गई एवं रानी को जाकर यह सब हाल कहा। अपने पुत्र के इस अपमान को सुन रानी बड़ी क्रोधित हुई और वह तत्कालीन ही कोपभवन मे चली गई। राजा ने यह सब हाल जाना और रानी की इच्छा पूरी करने के निमित्त उसने एक कपट जाल रचा; और यात्रा की तैयारी करवाई। उसने राज सभा में जाकर कहा हमारा "पुरुष सिंह" नामक सामन्त बलवाई हो गया, है अतः उसे दबाने के लिये मैं जाता हूँ। यह संवाद सुनकर सरल स्वभाव विश्वभूति उद्यान से घर आया और राजा से उस कार्य का भार अपने ऊपर लेकर वह सेनासहित चला। वहा पहुंच कर उसने पुरुष सिंह को बिल्कुल अनुकूल पाया जिससे वह लौट कर वापस आया। मार्ग में वह पुष्पकरडक वन के पास आया। वहां के द्वारपाल से उसे मालूम हुआ कि अन्दर विशाखनन्दी कुमार है। यह सुनकर उसने सोचा कि मुझे कपटपूर्वक पुष्पक-

रंडक उद्यान में से निकाला है। तदनन्तर क्रोध में आकर उसने एक वृक्ष पर अपना मुष्टिप्रहार किया। उस प्रहार से उस वृक्ष के सब फूल टूट टूट कर गिर गये। जिनमे उनके नीचे की सब भूमि आच्छादित हो गई। उन फूलों को बतला कर विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा—"यदि बडे पिताजी पर मेरी भक्ति न होती तो मैं इन फूलों की तरह तुम सब लोगों के सिरों से पृथ्वी को आच्छादित कर देता। पर उस भक्ति के कारण मैं ऐसा नहीं करना चाहता। लेकिन अब इस प्रकार के लंचनायुक्त भोग की मुझे बिलकुल आवश्यकता नहीं। ऐसा कह कर वह "सभूति" नामक मुनि के पास गया और दीक्षा ग्रहण की। उसे दीक्षित हुआ जान कर विश्वनन्दी अपने अनुज के साथ वहां आये और उससे बहुत क्षमा मांगते हुए उन्होंने राज्य ग्रहण की प्रार्थना की पर विश्वभूति को राज्य से बिल्कुल विमुख जान वे वापस घर चले गये।

इसके पश्चात विश्वभूति ने बहुत उग्र तपश्चर्या की जिससे उनका बदन बहुत कृश हो गया। एक बार विहार करते हुए वे मथुरा में आये उस समय वहां की राजकन्या से विवाह करने के निमित्त विशाखानन्दी भी वहां आया हुआ था। एक मास के उपवास का पारणा करने के निमित्त "विश्वभूति मुनि" नगर मे प्रविष्ट हुए। जिस समय वे विशाखानन्दी की छावनी के पास जा रहे थे उसी समय गाय के साथ टकरा जाने के कारण विश्वभूति गिर पड़े। यह देख कर विशाखानन्दी हँसा और उसने कहा "झाड़ों पर के फूलों को एक साथ गिरा देने वाला तेरा वह बल कहाँ गया?" यह सुनते ही विश्वभूति को अत्यन्त क्रोध आया

और अपनी वृत्ति के धर्म को भूल कर आवेश में आ उन्होंने उस गाय के सींग पकड़ कर उसे आकाश में फेक दी। उसी समय उन्होंने धारणा की कि इस उग्र तपस्या के प्रभाव से मैं दूसरे भव में अत्यन्त पराक्रमी हो कर इस विशाखानन्दी का घात करूँ" उसके बहुत समय पश्चात् विश्वभूति मृत्यु पाकर महाशुक्र देवलोक में उत्कृष्ट आयु वाले देव हुए।

इस भारतक्षेत्र में "पोतनपुर" नामक नगर में "रिपुप्रति शत्रु" नामक एक पराक्रमी राजा राज्य करता था। उसके भद्रा नामक एक रानी थी। उसके "अचल" नामक एक पुत्र और मृगावती नामक परम सुन्दरी कन्या थी। एक बार मृगावती जब अपने पिता के पास प्रणाम करने गई, तब उसके खिले हुए यौवन कुसुम और अनन्त रूपराशि को देख कर वह राजा अपनी उस पुत्री पर ही मोहित हो गया, उसने उसके साथ पाणिग्रहण करने की मन ही मन इच्छा की। दूसरे दिन उसने ग्राम के प्रतिष्ठित वृद्ध जनों को बुलाकर पूछा "अपने स्थान मे यदि कोई रत्न उत्पन्न हो तो उस पर किसका अधिकार रहता है?" उन्होंने कहा "उस रत्न पर तुम्हारा अधिकार है।" इस प्रकार उनके मुख से तीनबार कहला कर राजा ने अपनी मनोकामना को जाहिर किया। उसे सुनते ही वे लोग पत्थर के हो गये। पर वचन बद्ध हो जाने के कारण कुछ न कह सके। तब राजा ने गाँधर्व विधि से अपनी कन्या के साथ विवाह किया। यह देख कर लज्जा और क्रोध से आकुल होकर भद्रा रानी अपने पुत्र "अचल" को साथ लेकर वहां से बाहर दक्षिण की ओर चली गई। अचल कुमार ने "माहेश्वरी" नामक नवीन नगरी बसा कर वहां

अपनी माता को रक्खा और स्वयं पुन. पिता के पास आ गया।

विश्वभूति का जीव महा शुभस्वर्ग में से च्यवकर सात स्वप्न देता हुआ मृगावती के गर्भ में आया। समय पूर्ण हुए पश्चात् मृगावती ने प्रथम वासुदेव को जन्म दिया, उसके पृष्ट भाग में तीन पसलियां होने से उसका नाम "त्रिपृष्ट" रखा गया।

इधर "विशाखा नन्दी" का जीव अनेक भवों मे परिभ्रमण करता हुआ "तुंगगिरी" नामक पर्वत पर "केशरी-सिंह" हुआ। वह शंखपुर के प्रदेश में उपद्रव करने लगा। इसी काल में "अश्वग्रीव" नामक प्रति वासुदेव बड़ा पराक्रमी राजा गिना जाता था। उसकी धाक सब राजाओं पर थी। एक समय उसने "रिपुप्रतिशत्रु" के पास कहला भेजा कि तुम तुंगगिरी जाकर शालिक्षेत्र की सिंह से रक्षा करो।" यह सुन कर राजा वहां जाने की तैयारी करने लगा। पर दोनों कुमारों ने उसे वहां जाने से रोका और वे स्वयं उधर को प्रस्थानित हुए। वहां जाकर "त्रिपुष्ट" ने वहां के रक्षकगोप लोगों से पूछा कि दूसरे राजा जब वहां आते हैं तो वे सिंह से किस प्रकार इन क्षेत्रों की रक्षा करते हैं? और कब तक यहां रहते हैं? गोप लोगो ने कहा कि दूसरे राजा प्रतिवर्प यहां आते हैं और जब तक "शाली" काट न ली जाय तब तक यहीं रहते हैं। वे इस क्षेत्र में चारो ओर एक किला बना कर रहते हैं। यह सुन कर "त्रिपुष्ट" ने कहा कि इतने समय तक कौन यहां ठहरे, तुम मुझे वह सिंह बताओ मैं उसे मार कर हमेशा के लिए इस आपत्ति को काट दूंगा। यह सुन कर गोप लोगो ने तुंगगिरी की गुफा में बैठे हुए-सिंह को बता दिया। हल्ला करने से क्रोधित होकर वह सिंह मुंह फाड़ कर

काल की तरह वहां से निकला। उस सिंह को पैदल अपनेको सवार, एवं उसे निःशस्त्र और अपने आपको सशस्त्र देख कर "त्रिपुष्ट" ने विचारा कि यह युद्ध तो समान युद्ध नहीं है। यह सोच कर वह सब अस्त्र शस्त्र को फेंक कर रथ पर से उतर पड़ा। यह देखते ही उस सिंह को जाति स्मरण हो आया। उसने अत्यन्त क्रोधान्वित हो "त्रिपुष्ट" पर आक्रमण किया, पर त्रिपुष्ट ने बहुत शीघ्रता के साथ एक हाथ उसके नीचे के जबड़े में और दूसरा ऊपर के जबड़े मे डाल दिया और अपने अखण्ड पराक्रम से उसके मुह को चीर दिया। सिंह घायल होकर गिर पड़ा। एक साधारण नि.शस्त्र मनुष्य के द्वारा अपनी यह दशा देख कर वह बड़ा दुखी हो रहा था, उसी समय इंद्रभूति गणधर के जीव ने जो कि उस समय "त्रिपुष्ट" का सारथी था, उस सिंह को प्रबोधा, जिससे शान्ति पाकर सिंह ने प्राण त्याग किया। उधर दोनों कुमार अपना कर्तव्य पूर्ण कर वापस पोतनपुर आ गये।

इस घटना को सुन कर "अश्वग्रीव" त्रिपुष्ट से बहुत डरने लगा, उसने कपट के द्वारा इन दोनों ही कुमारों को मार डालने की योजना की, पर जब वह सफल न हुई तो उसने उनके साथ प्रत्यक्ष युद्ध छेड़ दिया। इसी युद्ध में वह स्वयं त्रिपुष्ट के हाथो मारा गया।

इसके पश्चात् त्रिपुष्ट ने दिग्विजय करना आरभ किया। अपने पराक्रम से दक्षिण भरतक्षेत्र तक विजय कर वे वापस पोतनपुर लौट आये। इस विजय में उन्हे कई अत्यन्य मोहक कण्ठवाले गायक भी मिले थे। एक बार रात्रि के समय उन गायकों का गाना हो रहा था, और वासुदेव पलंग पर लेटे हुए

सुन रहे थे। उन्होंने शैय्यापाल को आज्ञा दे रक्खी थी कि जब मुझे निद्रा लग जाय तब इन गायकों को विदा कर देना। कुछ समय पश्चात् त्रिपुष्ट तो सो गये पर संगीत मे तल्लीन हो जाने के कारण शैय्यापाल गायकों को विदा करना भूल गया। यहा तक कि उन्हे गाते गाते प्रातःकाल हो गया। उन गायको को गाते देख कर वासुदेव ने क्रोधित हो शैय्यापालक से पूछा कि 'तू ने अभी तक इनको विदा क्यो नहीं किये। शैय्यापाल ने कहा—प्रभु संगीत के लोभ से। यह सुन कर उनका क्रोध और भी भभक उठा-और तत्काल ही उन्होंने उसके कान में गर्म गर्म गला हुआ सीसा डालने की आज्ञा दी। इससे शैय्यापाल ने महा-यन्त्रणा के साथ प्राण त्याग किये। इस दुष्ट कृत्य से "त्रिपुष्ट" ने भयंकर असाता-वेदनीयकर्म का बन्ध कर लिया। यहां से मृत्यु पाकर ये सातवें नरक में गये। और उनके वियोग में दीक्षा लेकर "अचल बलभद्र" मोक्ष गये।

नरक में से निकल कर "त्रिपुष्ट" का जीव केशरी (सिंह) हुआ, वहाँ से मृत्यु पाकर वह मनुष्य चौथे नरक में गया। इस प्रकार उसने तिर्यञ्च और मनुष्य योनि के कई भवों में भ्रमण किया। तदनन्तर मनुष्य जन्म पा उसने शुभ कर्मो का उपार्जन किया, जिसके प्रताप से वह अपर विदेह की मूकानगरी के धनञ्जय राजा की रानी "धारिणी" के गर्भ में गया। उस समय धारिणी को चक्रवर्ती पुत्र के सूचक चौदह स्वप्न दृष्टि गोचर हुए। गर्भ स्थिति पूर्ण हुए पश्चात् रानी ने एक सम्पूर्ण लक्षणो से युक्त पुत्र को जन्म दिया। माता पिता ने उसका नाम "प्रियमित्र" रक्खा क्रमशः उसने बालकपन से यौवन प्राप्त किया, उधर संसार से

विरक्त हो धनञ्जय राजा ने सब राज्य भार इसे दे दीक्षा ग्रहण करली। राज्य सिंहासन पर बैठने के पश्चात् इसने अपने पराक्रम से छहो खण्डों को विजय किया। और चक्रवर्ती उपाधि ग्रहण की। तदनन्तर वह अत्यन्त न्याय-पूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगा।

एक समय मूकानगरी के उद्यान में "पोट्टिल" नामक आचार्य्य पधारे, उनसे धर्म का स्वरूप समझ करइसने अपनेपुत्र को सिंहासन पर बिठा दीक्षा ग्रहण करली। बहुत समय तक तपस्या करके अन्त में मृत्यु पा महाशुभ स्वर्ग में यह "सर्वार्थ" नामक विमान पर देवता हुआ।

महाशुक्र देवलोक से च्यव कर वह भरतखण्ड के अन्त-र्गत 'छत्रा' नामक नगरी में जितशत्रु राजा की भद्रा नामक स्त्री के गर्भ से नन्दन नामक पुत्र हुआ। उसके युवा होने पर जित-शत्रु नेराज्य का भार उसे दे दीक्षा ग्रहण की। बहुतसमय पश्चात् इसने भी ससार से विरक्त होकर पोट्टिलाचार्य्य के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। अत्यन्त कठिन तपस्या करने के पश्चान् इसने इसी भव में तीर्थंकर नामक नामकर्म का उपार्जन किया। पश्चात् साठ दिवस तक अनशन वृत ग्रहण कर वह दशम स्वर्ग में पुष्पोत्तर नामक विस्तृत विमान की उपपाद नामक शैय्या में देवता हुआ। एक अन्तर्मुहूर्त में वह मूहर्द्धिक देव हो गया। पश्चात् अपने ऊपर रहे हुए दव्य वस्त्र को दूर कर शैय्या पर बैठ कर उसने सब सामग्रियां देखी। उन सामग्रियो को देख कर वह अत्यन्त विस्मित हुआ। पर अवधि ज्ञान के बल से यह सब धर्म का प्रभाव जान वह शान्त हो गया। इसके पश्चात् उसके सेवक सब

देवता लोग इकट्ठे हो कर वहां आये, उन्होंने हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया।

"हे स्वामी! हे जगत को आनन्द देने वाले! हे जगत का उपकार करने वाले! तुम जयवन्त हो ओ। चिरकाल तक सुखी हो ओ। तुम हमारे स्वामी हो, रक्षक हो, और यशस्वी हो, तुम्हारी जय हो। हम तुम्हारे आज्ञाकारी देव हैं, ये सुन्दर उपवन हैं। ये स्नान करने की वापिकाएं हैं। यह सिद्धाय तन है। यह "सुधर्मा" नामक एक सभा भवन है और यह स्नानागृह है। इस प्रकार उनकी स्तुति कर देवता उनकी सेवा मे जुट गये। इस स्वर्ग में अपनी लम्बी आयु को भोग कर अन्त में वहां से च्यव कर इनका जीव "त्रिशला" रानी के गर्भ में स्थित हुआ।

भगवान महावीर के इन भवों के वर्णन से और मतलब चाहे हासिल न होता हो। पर दार्शनिक तत्व तो इन में कई स्थान पर देखने को मिलते हैं। सबसे पहली बात हमें यह मालूम होती है कि तपस्या करने एवं मुनिवृत्ति ग्रहण करने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को नहीं होता। जो मनुष्य श्रावक-जीवन मे इच्छाओं का दमन करने का पूर्ण अभ्यास नहीं कर लेता, जिसकी आत्मा से शारीरिक मोह को वृतियाँ प्रायः नष्ट नहीं हो जातीं; काम, क्रोध, लोभ, मोहादि की कामवृतियो पर जिसका अधिकार नहीं हो जाता, उसे मुनि वृति ग्रहण करने का कोई हक नहीं होता। प्रवृत्ति मार्ग से बिलकुल विरक्त हुए विना निवृत्ति मार्ग को ग्रहण कर लेना पूर्ण अनाधिकार चेष्टा है। इसी सिद्धान्त का पूर्ण उपयोग हम मरीचि के जीवन में होता हुआ

देखते हैं। बिना सोचे समझे, चरित्र की अपूर्ण अवस्था मे ही मुनि वृत्ति ग्रहण कर लेने का कितना दुष्परिणाम उसे सहन करना पड़ा। तपस्या त्याग और सयम का अभ्यास मनुष्य को जन्म से ही करना चाहिये, इसके लिये मुनिवृत्ति ही कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। श्रावक वृत्ति में भी वह इन गुणों को पराकाष्ठा पर पहुँचा सकता है। श्रावक वृत्ति मे जब वह आत्मा का पूर्ण विकास करले, जब उसे यह पक्का विश्वास हो जाय कि देहादिक पुद्गलो और साँसारिक पदार्थों से उसे पूर्ण विरक्ति हो गई है तब वह चाहे तो मुनि वृति ग्रहण कर सकता है। इसक पहले असमय में ही बिना योग्यता प्राप्त किये ही मुनि वृत्ति को ग्रहण कर लेने से भयङ्कर हानि होने की सम्भावना होती है। किसी भी प्रकार का पकान्न यदि एक नियमित मात्रा मे खाया जाय तो निश्चय है कि वह खाने वाले को लाभ पहुँचायेगा, पर यदि वही पकान्न कसी कम खुराक वाले को अधिक तादाद मे खिला दिया जाय तो लाभ के बदले हानि ही अधिक पहुँचावेगा। इससे पकवान को बुरा नहीं कह सकता, यह दोष तो उस खाने वाले की पात्रता का है। इसी प्रकार मुनि वृति को कोई बुरा नही कह सकता, मोक्ष का सच्चा मार्ग यही है। पर इस मार्ग पर चलने के पूर्व पात्रता को प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है—बिना पात्रता प्राप्त किये हुए अनजान की तरह इस मार्ग पर चलने से बड़ा अनिष्ट होने का डर है।

दूसरी बात हमें यह देखने को मिलती है कि मनुष्य को अपने सुख अपनी सम्पत्ति अपनी शक्ति एवं अपनी कुलीनता आदि बातों का अहङ्कार कभी न करना चाहिये। अहङ्कार यह

मनुष्य का एक प्रबल शत्रु है। जब मनुष्य हृदय में अहंभाव की उत्पत्ति होती है तब उसकी आत्मा उच्चस्थान से पतित होकर बहुत निकृष्ट स्थिति का उपार्जन करती है। कार्य्य के साथ उसका फल, प्रयत्न के साथ उसका परिणाम, और आघात के साथ उसका प्रत्याघात बँधा हुआ है। आत्मा जब अहंकार के वशीभूत हो कर अपने से हीन कोटि वाले की भर्त्सना करती है तब वह उसी स्थिति का बन्ध बाँधती है। "मरीचि" ने एक बहुत ही थोड़े समय के लिए अपनी जाति और कुल का अभिमान किया था उसका फल भी उसे भुगतना पड़ा। अहङ्कार ऐसी भयङ्कर वस्तु है कि वह महापुरुषो का पीछा भी नहीं छोड़ती।

इसी प्रकार और भी अनेक तत्व हमे इन भवो के वर्णन मे देखने को मिलते हैं। उन सबका विस्तृत निवेचन करना इस ग्रन्थ में असम्भव है। पाठक स्वयं निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

भगवान महावीर का जन्म

त्रिशला रानी को गर्भ धारण किये जब नव मास और साढ़े सात दिन हो गये, तब एक दिन दशों दिशायें प्रसन्न हो उठीं। सुगन्धित पवन बहने लगा, सारा ससार हर्ष से परिपूर्ण हो उठा, पुष्प वृष्टि होने लगी। चारों ओर शुभ शकुन होने लगे। वह दिन चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का था, उस समय चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में था। ठीक ऐसे ही समय मे त्रिशला देवी ने सिंह के लच्छन वाले सुवर्ण के समान कान्तिवान एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया।

जैन शास्त्रों के अन्तर्गत प्रत्येक तीर्थंकर के जन्म का वर्णन करते हुए लिखा है कि जब किसी तीर्थंकर का जन्म होता है तो

स्वर्ग मे सौधर्म नामक इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। इस शकुन के द्वारा वह तीर्थंकर का जन्म जान तत्काल अपने कुटुम्ब–कवीले के साथ सुतिकागृह में जाता है। वहां वह तीर्थंकर की माता को मोह निद्रा के वशीभूत कर तीर्थंकर के स्थान पर नकली बालक को रख तीर्थंकर को उठालेता है। एक इन्द्र प्रभु पर छत्र लगाता है, दो उन पर दोनो ओर से चंवर करते हैं और एक वज्र उछालता हुआ उनके आगे चलता है। सब लोग मिल कर उन्हे सुमेरु पर्वत की पाण्डुक शिला पर ले जाते हैं। यहां पर एक हजार आठ कलशो से सब लोग मिल कर उनका अभिषेक करते हैं। उसके पश्चात् सब लोग मिल कर उनकी स्तुति करते हैं। तदनन्तर उन्हे वापिस उनकी माता के पास लाकर रख देते हैं। और उसकी मोह निद्रा को दूर कर एव उस नकली बालक को मिटा कर वे लोग अपने स्थान पर वापस चल देते हैं।

ये सब बाते प्रत्येक तीर्थंकर के जन्म समय मे होती हैं ऐसा जैन पुराण मानते हैं। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान, महावीर के जन्म समय में भी ये सब बातें हुईं।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा सिद्धार्थ ने पुत्र जन्म की खुशी में सब कैदियो को छोड़ दिया। तीसरे दिन माता पिता ने प्रसन्न होकर अपने पुत्र को सूर्य्य और चन्द्र के दर्शन करवाये। छठे दिन मधुर स्वर से सुन्दरी कुल शीला रमाणीयां मङ्गल गीतों को गाने लगीं। कुंकुम के अङ्गराग को धारण करने वाली सोलह श्रृंगारो से युक्त अनेक कुलवती स्त्रियों के साथ राजा और रानी दोनो ने रात्रि जागरण उत्सव किया। जब ग्यारहवां दिन उप-

स्थित हुआ तब सिद्धार्थ राजा और त्रिशला देवी ने पुत्र का जात-कर्मोत्सव किया। बारहवें दिन राजा ने अपने सब बन्धु-बान्धुओं और जाति वालों को बुलाये। वे सब कई प्रकार के सुन्दर मङ्गल-मय उपहार लेकर उपस्थित हुए। सिद्धार्थ राजा ने योग्य प्रति-दान के साथ उनका सत्कार किया। तत्पश्चात उसने उन सबों से "इस पुत्र के गर्भ में आने के दिन ही से हमारे घर में, नगर में और राज्य में धन धान्यादिक की वृद्धि हो रही है अत. इसका नाम "वर्द्धमान" रक्खा जाय"। सब लोगों ने इसका अनुमो-दन किया।

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह बालक "वर्द्धमान" क्रमश बढ़ने लगे, बालकपन से ही उनकी प्रतिभा और उनकी शक्ति के कई लक्षण दृष्टि गोचर होने लगे। माता पिता को अपनी बाल्य-क्रीड़ाओ से आनन्दित करते हुए "वर्द्धमान" ने क्रम से युवावस्था मे पैर रक्खा। जन्म काल मे लेकर अब तक भी अनेक चमत्का-रिक घटनाओं से यद्यपि उनके माता पिता को उनका महान भविष्य दृष्टि गोचर होने लग गया था तथापि सुलभ स्नेह के वश होकर उनकी माता ने उनके विवाह का प्रबन्ध करना प्रारम्भ किया। इधर राजा समरवीर ने अपनी "यशोदा" नामक कन्या का विवाह "वर्द्धमान" कुमार से करने का प्रस्ताव सिद्धार्थ के पास भेजा। सिद्धार्थ ने उत्तर दिया मुझे और त्रिशला को कुमार का विवाह महोत्सव देखने की अत्यन्त अकांक्षा है। पर "वर्द्धमान" जन्म ही से संसार के प्रति कुछ उदासीन से रहते हैं। इस कारण हम तो उनके आगे ऐसा प्रस्ताव ले जाने का साहस नहीं कर सकते। हाँ आज उनके मित्रों द्वारा उनके आगे इस विषय की

मर्चा अवश्य करवाएंगे। इतना कह कर राजा ने उनके मित्रों को कई बातें समझा बुझा कर उनके पास भेजे। उन लोगोंने जाकर बहुत ही प्रेम युक्त शब्दों में वर्द्धमान केसम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखा वर्द्धमान कुमार ने उत्तर में कहा-"तुम हमेशा मेरे साथ रहने वाले हो और मेरे संसार-विरक्त भावों से भी तुम भली भांति परिचित हो, फिर व्यर्थ ही क्यों ऐसा प्रस्ताव सम्मुख रखते हो ?

मित्रों ने कहा—कुमार ! हम जानते हैं कि तुम्हारे विचार संसार से विरक्त हैं पर इसके साथ तुम्हारे ये भी विचार हैं कि "माता पिता" की आज्ञा का अलंघ्य समझ कर उसका पालन करना चाहिये-इसके अतिरिक्त तुमने हम लोगों की याचना की भी कभी अवहेलना न की। फिर आज एक साथ सबको दुःखी क्यों करते हो ?

वर्द्धमान—मेरे मोहग्रस्त मित्रो। तुम्हारा यह आग्रह बहुत खराब है। क्योंकि स्त्री आदि का परिग्रह भव भ्रमण का कारण होता है। मैं तो अब तक दीक्षा भी ग्रहण कर लेता पर इसी एक बात से-कि इससे मेरे माता पिता को वियोग जनित दुख होगा, मैं अब तक रुका हुआ हूँ।

इतने में धीरे धीरे "त्रिशला" रानी ने कमरे में प्रवेश किया, उसको देखते ही "वर्द्धमान" उठ खड़े हुए और कहा-माता ! तुम आई यह तो अच्छा हुआ। पर तुम्हारे इतना कष्ट करने का क्या कारण था, मुझे बुलाती तो मै स्वयं वहा आ जाता।

त्रिशला—नन्दन ! अनेक प्रकार के शुभ कर्मों के उदय स्वरूप तुम हमारे यहाँ अवतरित हुए हो। जिनके दर्शन को तीनों लोक लालायित रहते हैं, वही हमारे यहां पुत्र रूप से

अवतरित हुए हैं। यह हमारे कम सौभाग्य की बात नहीं है। मैं यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा निर्माण जगत की रक्षा के निमित्त हुआ है। पर फिर भी हमारा स्नेह प्रधान हृदय पुत्रत्व की भावना को तजने में असमर्थ है। हमारी प्रबल इच्छा है कि हम तुम्हें वधु सहित देखें। इसलिये केवल हमको संतुष्ट करने के निमित्त ही तुम हमारे इस कथन को स्वीकार करो।

माता के इस नम्र निवेदन को सुन कर महावीर बड़े विचार में पड़े। अन्त में उनका हृदय पसीज गया।*उन्होंने माता पिता की आज्ञा को स्वीकार कर "यशोदा" नामक राजकुमारी से विवाह कर लिया। शरीर से गृहवास में होते हुए भी महावीर का हृदय जंगल में था। उदित भोग कर्मों को वे बिल्कुल उदासीन भाव से भोगते थे। जिन महात्माओं का हृदय भोग और योग इन दोनों भावों में समान रूप से रह सकता है, उनका वैराग्य ससार के प्रति रहे हुए द्वेष में से अथवा निराशा में से प्रकट नहीं होता। वस्तुस्थिति के वास्तविक दर्शन में से ही उनका वैराग्य प्रकट होता है। वे जल के कमल की तरह ससार के अंतर्गत रहते हुए भी उससे विरक्त रहते हैं। उदयवान कर्मों की प्रकृति को तटस्थ भाव से भोग कर उसकी निर्जरा करना और राग द्वेष युक्त वायुमण्डल के मध्य में भी "स्थित प्रतिज्ञ" रहना यं उनका भीषण व्रत होता है। वर्द्धमान कुमार इसी प्रकार अपना वैवाहिक जीवन व्यतीत करते थे। इस विवाह के

---

* दिगम्बरी ग्रन्थ इस बात के सर्वथा प्रतिकूल हैं यह बात पहले भी लिख चुके हैं। उनके मत से भगवान् महावीर आजन्म ब्रह्मचारी थे।

—लेखक—

फल स्वरूप उन्हे "प्रियदर्शना" नामक एक कन्या भी हुई, जिसका विवाह "जामालि" नामक राजपुत्र के साथ कर दिया गया।

वर्द्धमान जब अट्ठाईस वर्ष के हुए, तब उनके माता पिता का स्वर्गवास हो गया। उनके वियोग से उनके भाई नन्दिवर्द्धन को बड़ा दुख हुआ। इस पर वर्द्धमान ने उनको सान्त्वना देते हुए कहा—"भाई। संसार का संसारत्व ही द्रव्य के उत्पाद और व्यय मे रहा हुआ है। जीव के पास हमेशा मृत्यु बनी रहती है। जीना और मरना यह तो संसार का नियम ही है। इसके लिये शोक करना तो कायरता का चिह्न है।" प्रभु के इन वचनों से नन्दिवर्द्धन कुछ स्वस्थ हुए, पश्चात् उन्होंने पिता के सिंहासन पर अधिष्ठित होने के लिये महावीर से कहा—पर ससार से विरक्त वर्द्धमान ने उसे स्वीकार नहीं किया। इस पर सब मंत्रियों ने मिलकर "नंदिवर्द्धन" को सिंहासन पर बिठलाया।

कुछ दिन पश्चात् वर्द्धमान-प्रभु ने भाई के पास जाकर कहा—"इस गार्हस्थ्य जीवन से अब मैं उकता गया हूँ इसलिए मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दो। "नन्दिवर्द्धन" ने बहुत दुखित होकर कहा "कुमार! अभीतक मैं अपने माता पिता का वियोग जनित दुख ही नहीं भूला हूँ। ऐसे समय में तुम और क्यों जले पर नमक छोड़ रहे हो।"

बन्धु की इस दीन वाणी को सुनकर कोमल हृदय "वर्द्धमान" प्रभुने कुछ दिन और गृहस्थाश्रम में रहना स्वीकार किया। पर यह समय उन्होंने बिल्कुल भाव-मुनि की तरह काटा। अन्त में दो वर्ष और ठहर कर उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। इस अवसर पर देवताओं ने दीक्षा कल्याण का महोत्सव मनाया।

अब उस सर्वांग सुन्दर शरीर पर बढ़िया राज वस्त्रों के स्थान पर दिगम्बरत्व शोभित होने लगा। जो कोमल शरीर आजतक राज्य की विपुल स्मृद्धि के मध्य में पालित हुआ था। और जिसकी तप्त सुवर्ण के समान ज्योति ने कभी उष्ण समीर का स्पर्श तक नहीं किया था, वही मोहक प्रतिमा आज सयम कफनी से आच्छादित हो गई। संसार के पापों को धो डालने के निमित्त भगवान् ने सब पुण्य सामग्रियों का त्याग कर दिया। जिस शरीर की शोभा को ससार कीच में फँसे हुए प्राणी अपना सर्वस्व समझते हैं, उसी को प्रभु ने केश लोच करके विनष्ट कर दी। जिस भोग के क्षणभर के वियोग से ही संसारी लोग कातर हो जाते हैं, उसी भोग को भगवान् महावीर ने तिलमात्र खेद किये बिना ही तिलाँजली दे दी। परम सुन्दरी सुशीला पत्नी "यशोदा" प्रिय पुत्री "प्रियदर्शना" जेष्ठबन्धु "नन्दिवर्द्धन" राज्य की अतुल लक्ष्मी इन सबों का त्याग करते हुए उन्हें रंच मात्र भी मोह नहीं हुआ।

दीक्षा ग्रहण किये पश्चात् उसी समय प्रभु को मन.पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हुई। यह दिन ईसा के ५६९ वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी का था।

भगवान् का भ्रमण।

भगवान् महावीर के भ्रमण का बहुत सा वृतान्त गत मनोवैज्ञानिकखण्ड में दिया जा चुका है। अतः इस स्थान पर उसको पुनर्वार देने की आवश्यकता न थी। पर कई घटनाएँ ऐसी रह गई हैं जो 'मनोवैज्ञानिक खण्ड' में छूट गई हैं और जिनका दिया जाना यहां आवश्यक है।

सब से प्रथम भगवान् महावीर पर गुवाले का उपसर्ग हुआ जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। एक समय भगवान् महावीर भ्रमण करते करते "मोराक" नामक ग्राम के समीप आये। वहाँ पर "दुई जान्तक" जाति के संन्यासी रहते थे। उन संन्यासियों का कुलपति महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ का बड़ा मित्र था। उसने एक चतुर्मास उसी शान्त स्थान में व्यतीत करने की उनसे प्रार्थना की। ममता रहित होने पर भी महावीर ने उसे योग्य स्थान समझ वहाँ पर रहना स्वीकार किया। उस कुलपति ने तब ममतावश होकर उनके लिये एक फूस का झोपड़ा बना दिया। वर्षाकाल में पानी बरसने के कारण उस झोंपड़ी पर बहुत सा हरा घास जम गया। उसे देख कर ग्राम की गायें घास खाने के लोभ से वहाँ आकर चरने लगीं। दूसरे तपस्वियों ने तो अपनी झोंपड़ियों के आगे से गायों को भगा दिया पर महावीर बिलकुल निश्चेष्ट रहे। यहां तक कि उन गौओं ने उनकी सारी झोंपड़ों को तृण रहित कर दी। यह देख कर कुलपति को बड़ा खेद हुआ, उसने उस विषय में महावीर को कुछ उपदेश दिया, उसके वाक्यों को सुन कर प्रभु ने सोचा कि मेरे कारण इन सब लोगों को खेद होता है, अतः अब मेरा इस स्थान पर रहना ठीक नहीं। उसी समय प्रभुने निम्नांकित पाँच अभिग्रह धारण किये॥ १—अप्रीतिकर स्थान पर कभी न रहना (३) प्रायः मौन धारण करके ही रहना (४) अञ्जलि पात्र में भोजन करना। (५) गृहस्थ का विनय नहीं करना। इस प्रकार पांच अभिग्रह धारण करके वे चतुर्मास के पन्द्रह दिन व्यतीत होने पर नियम विरुद्ध होते हुए भी वहां से चल कर "अस्थिक" नामक ग्राम में आये।

प्रभु ने वह चतुर्मास वहीं व्यतीत करना चाहा, पर ग्राम के लोगों ने उन्हें रोते हुए कहा कि यहां पर एक यक्ष रहता है। वह यहां पर किसी को नहीं रहने देता। जो कोई हठ करके यहां पर रात रहता है उसे वह बड़ी निर्दयता से मार डालता है। इसलिये आप कृपा करके पास ही के इस दूसरे स्थान पर चतुर्मास निर्गमन कीजिए। पर प्रभु ने उनकी बात को स्वीकार न कर वहीं रहने की आज्ञा मांगी। लाचार दुखित हृदय से उन्होंने उन्हें वहां रहने की आज्ञा दी। प्रभु एक कोने में कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये। सन्ध्या को उस मन्दिर के पुजारी ने भी उन्हे वहां रहने से मना किया, पर प्रभु ने मौन धारण कर रक्खा था। वे किसी प्रकार वहां से विचलित न हुए।

क्रमशः रात्रि हुई। वह यक्ष मन्दिर में आया, महावीर को वहां देखते ही वह क्रोध से आग बबूला हो गया, उसने उनको भयभीत करने के निमित्त भयङ्कर अट्टहास किया। वह अट्टहास सारे आकाश में गूंज कर वायु पर नृत्य करने लगा। पर महावीर उससे तनिक भी विचलित न हुए। तत्पश्चात् उसने भयङ्कर हाथी, पिशाच आदि का रूप धर कर महावीर को डराना चाहा, जब वह इन प्रयत्नों में भी असफल हुआ तो भयङ्कर सर्प का रूप धारण कर उसने उनको स्थान २ पर जोर से डसना प्रारम्भ किया। पर तपस्या के तेजोमय प्रभाव से उस विष का भी उन पर कुछ असर न हुआ। वे पूर्ववत् अटल रहे। इसके पश्चात् उसने और भी कई प्रकार से उन्हे कष्ट पहुँचाना चाहा। पर जब सब तरह से वह हार गया तो वह बहुत विस्मित हुआ। इन्हे उसने महाशक्तिशाली समझ कर नमस्कार किया और

कहने लगा—"दयानिधि ! तुम्हारी शक्ति को न समझ कर मैंने तुम्हारे अत्यन्त अपराध किये हैं इसके लिए मुझे क्षमा कीजिये"।

महावीर ने कहा—"यक्ष ! तू वास्तविक तत्व को नहीं समझता है। इसलिए जो यथार्थ तत्व है उसे समझ—वीतराग में देव बुद्धि, साधुओं में गुरु बुद्धि और शास्त्रों में धर्म बुद्धि रख। अपनी ही आत्मा के समान सब की आत्मा को समझ। किसी की आत्मा को पीडा पहुँचाने का संकल्प मत रख। पूर्व किए हुए पापों का पश्चाताप कर। जिससे तेरा कल्याण हो।"

महावीर के उपदेश से यक्ष ने सम्यक्त को धारण किया। और फिर नमस्कार करके चला गया। चतुर्मास वहां पर व्यतीत कर भ्रमण करते हुए प्रभु एक बार फिर 'मोराक' नामक ग्राम में आकर वहां के उद्यान में ठहरे। वहां पर एक "अच्छन्दक" नामक पाखण्डी रहता था। वह बड़ा दुराचारी था। और मन्त्र तन्त्र का ढोंग कर लोगों को ठगा करता था। महावीर ने उसके पाखण्ड को दूर कर उसे प्रबोधा।

यहा से चल कर विहार करते करते प्रभु 'श्वेताम्बरी' के समीप आये। यहां से कुछ दूर पर "चण्डकौशिक" नामक दृष्टि विष सर्प का निवास स्थान था। वहां पर जाकर उन्होंने उसे समकित का उपदेश दिया। जिसका विस्तृत वर्णन मानो वैज्ञानिक के खण्ड में किया जा चुका है।

"कौशिक" सर्प का इस प्रकार उद्धार कर भगवान् 'उत्तरवाचाल' नामक ग्राम के समीप आये। एक पक्ष के उपवास का अन्त होने पर पारणा करने के निमित्त वे ग्राम में "नागसेन" नामक गृहस्थ के घर गये। उसी दिन उसका एकलौता पुत्र

बारह वर्ष के पश्चात् विदेश से आया था। जिसका उत्सव मनाया जा रहा था। ऐसे समय में भगवान् उसके यहां गोचरी के निमित्त पधारे। उन्हे देखते ही वह आनन्द से पुलकित हो उठा। और अपना अहो भाग्य समझ उसने बड़े ही भक्ति भाव मे भोजन करवाया।

यहां से विहार करके प्रभु 'श्वेताम्बी' की ओर चले। यहां का राजा बड़ा ही जिन भक्त था। भगवान् का आगमन सुन कर बड़े हर्ष के साथ अपने कुटुम्ब और प्रजा जनों के सहित उनके दर्शनार्थ आया। और बड़े ही भक्ति भाव से उसने प्रभु की वन्दना की। यहां से विहार करते हुए प्रभु अनुक्रम से 'सुरभिपुर' नामक नगर के समीप आये। यहां पर गंगा नदी को पार करना पड़ता था। इसलिए प्रभु दूसरे मुसाफिरों के साथ में एक नाव पर आरुढ़ हो गये।

इसी स्थान पर उनके त्रिपुष्ट योनी का वैरी उस सिंह का जीव जिसे कि उन्होंने मारा था "सुदुष्ट" नामक देव योनि में रहता था। महावीर को देखते ही उसे अपने पूर्ण भव का स्मरण हो आया। क्रोधित होकर बदला चुकाने के निमित्त उसने उन पर उपसर्ग करना शुरु किया। इस उपसर्ग का वर्णन भी हम पहले कर चुके हैं। उस उपसर्ग को कम्बल और सम्बल नामक दो देवों ने दूर किया। और भगवान् को सकुशल नदी पार पहुँचा दिया।

भगवान् अपने चरण कमलों से गंगा नदी की रेती को पवित्र करते हुए आगे जा रहे थे, इतने ही में "पुष्य" नामक एक ज्योतिषी ने पीछे से रेती में मुद्रित हुए, उनके चरण चिन्हों

को देखा। वह सामुद्रिक लक्षण का ज्ञाता था। उसने सोचा कि अवश्य इस राह से कोई चक्रवर्ती अभी गया है। उसे अभी तक राज्य—प्राप्त नहीं हुआ है। पर शीघ्र ही होगा। क्या ही अच्छा हो यदि किसी छल के द्वारा उसके राज्य पर मैं अधिष्ठित हो जाऊं। ऐसा सोचता हुआ वह वहाँ से उधर को चला। आगे जाकर देखता क्या है कि एक अशोक वृक्ष के नीचे महावीर प्रभु कायोत्सर्ग में खडे हैं। उनके मस्तक पर मुकुट चिन्ह और भुजाओं में चक्र चिन्ह दिखाई दे रहे थे। ज्योतिषि ने सोचा कि यह कैसा आश्चर्य्य है। चक्रवर्ती के तमाम लक्षणोयुक्त यह व्यक्ति तो भिक्षुक है। अवश्य ये सामुद्रिक शास्त्र किसी झूठे पाखण्डी ने बनाए हैं।

ज्योतिषी के मन की यह बात अवधि ज्ञान के द्वारा इन्द्र को मालूम हुई, इन्द्र तत्काल वहाँ आया और उसने उस ज्योतिषी को कहा—ओ मूर्ख ? तू शास्त्र की निन्दा क्यों कर रहा है। शास्त्रकार कोई भी बात असत्य नहीं करते। तू तो अभी तक केवल प्रभु के बाह्य लक्षणों को ही जानता है। उनके अन्तर्लक्षणो से तू अभी तक अपरिचित ही है। इन प्रभु का मांस और रुधिर दूध के समान उज्ज्वल और सफेद है। इनके मुख कमल का श्वास कमल की खुशबू के समान सुगन्धित है। इनका शरीर बिल्कुल निरोगी और मल तथा पसीने से रहित है। ये तीनों लोक के स्वामी, धर्मचक्री और विश्व को आश्रय देने वाले सिद्धार्थ राजा के पुत्र महावीर हैं। चौसठों इन्द्र इन के सेवक हैं। इनके सन्मुख चक्रवर्ती किस गिनती में है। शास्त्र में कहे हुए सब लक्षण बराबर हैं। इसके लिये तू जरा भी खेद न कर।

मैं तुझे इच्छित फल दूंगा, इतना कह कर इन्द्र ने उसे उसकी इच्छानुसार-फल प्रदान किया तत्पश्चात प्रभु की वन्दना कर वह वापस चला गया।

"गौशाला" की कथा

अपने चरण कमलों से पृथ्वी को पवित्र करते हुए भगवान् महावीर अनुक्रम से राजगृह नगर में आये। उस नगर के समीप नालन्दा नामक एक भूमि भाग था। उस भूमि भाग की एक विशाल शाला में प्रभु पधारे। उस स्थान पर वर्षाकाल निर्गमन करने के निमित्त उन्होने लोगों की अनुमति ली। तत्पश्चात् मास-क्षपण (एक एक मास के उपवास) करते हुए प्रभु उस शाला के एक कोने में रहने लगे।

उस समय मे "मखली" नामक एक मख्य था, उसकी स्त्री का नाम भद्रा था। ये दोनों पति-पत्नि चित्रपट लेकर स्थान स्थान पर घूमते थे। अनुक्रम से फिरते हुए ये "शखरण" नामक ग्राम में गये। वहां एक ब्राह्मण की गौशाला में उसे एक पुत्र हुआ। इससे उसका नाम भी उन्होंने "गौशाला" रक्खा। जब वह अनुक्रम से युवक हुआ तब उसने अपने पिता का रोजगार सीख लिया। "गौशाला" स्वभाव से ही कलह प्रिय था। माता पिता के वश में न रहता था। जन्म से ही यह लक्षणहीन और विचक्षण था। एक बार वह माता पिता के साथ कलह करके स्वतंत्र भिक्षा के लिए निकल पड़ा। और घूमता घूमता राजगृह नगर में आया। जिस शाला को भगवान् महावीर ने

* चित्रकला के जानने वाले भिक्षुक विशेष।

अलंकृत कर रक्खी थी, उसी में आकर यह भी ठहरा। इधर प्रभु मासक्षपण का पारण करने के निमित्त शहर में गये। और इन्होंने "विजयश्रेष्ठी" के यहां आहार लिया। उस समय आकाश से देवताओं ने रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि वगैरह पांच दिव्य † प्रकट किये। इस सवाद को सुन कर "गौशाला" बड़ा विस्मित हुआ। उसने सोचा कि यह मुनि कोई सामान्य तो मालूम नहीं होता। क्योंकि इसको भोजन देने वाले के घर में जब ऐसी समृद्धि हो गई, तब तो अवश्य ही यह कोई बड़ा आदमी है। इसलिये मैं तो अब इस पाखण्डमय व्यवसाय को छोड़ कर इसका शिष्य हो जाऊं क्योंकि यह गुरु कभी निष्फल नहीं जायगा। कुछ समय के पश्चात् जब प्रभु आये तो "गौशाला" उनके समीप पहुँचा और नमन करके बोला "प्रभो! मैंने तो सुज्ञ होकर भी अभीतक आप के समान् महापुरुष को नहीं पहचाना। यह मेरा दुर्भाग्य था। पर अब मैंने आपको पहचान लिया है अतः मैं आपका शिष्य होऊंगा। आज से एक मात्र तुम्हीं मेरे शरण दाता हो।" इतना कह कर वह उनके उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। पर प्रभु ने उसके उत्तर मे कुछ न कह कर मौन धारण किया। इधर "गौशाला" मनही मन प्रभु में गुरु भक्ति रख भिक्षा-वृत्ति से अपना निर्वाह करने लगा। वह दिन-रात प्रभु के साथ रहने लगा। कुछ दिनों पश्चात् प्रभु का दूसरा मास क्षपण पूरा हुआ। उस दिन उन्होंने "आनन्द" नामक गृहस्थ के यहां आहार

† जिसके यहा तीर्थंकर भोजन लेते हैं। उसके यहा देवता लोग रत्नवृष्टि आदि पाच दिव्य प्रकट करते हैं—ऐसा जैनशास्त्रों का कथन है।

लिया। तीसरे मास क्षपण के पूर्ण होने पर "सुनन्द" नामक गृहस्थ के यहां आहार लिया। "गोशाला" भी भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करता हुआ दिन-रात प्रभु के साथ रहने लगा।

एकवार कार्तिकमास की पूर्णिमा के दिन "गोशाला" ने सोचा कि ये बहुत बड़े ज्ञानी हैं, ऐसा मैं सुनता रहता हूँ। आज मैं स्वयं इनके ज्ञान को परीक्षा करके देखूंगा। ऐसा विचार कर उसने महावीर से पूछा—"प्रभो" आज प्रत्येक घर मे वार्षिक महोत्सव होगा। ऐसे मंगलमय समय मे मुझे क्या भिक्षा मिलेगी इसके उत्तर में "सिद्धार्थ" नामक देवता ने महावीर के हृदय में प्रवेश कर कहा*—"भद्र ! आज तुम्हे खट्टा, मट्ठा क्रूर धान्य (विशेष प्रकार का अन्न) और दक्षिणा में खोटा रुपया मिलेगा" यह सुन "गोशाला" प्रातःकाल से ही उत्तम भोजन की तलाश मे घर घर भटकने लगा। पर उसे कहीं भी भिक्षा न मिली। अन्त-में जब सायंकाल हुआ तब एक सेवक उसे अपने घर ले गया। और खट्टा मट्ठा और क्रूर का अन्न भिक्षा में दिया। अत्यन्त क्षुधा-तुर होने के कारण वह उस अन्न को भी खा गया। तत्पश्चात् जाते समय उसने उसे एक खराब रुपया दक्षिणा में दिया। यह सब देख कर वह अत्यन्त लज्जित हुआ। इस घटना से उसने

*—हेमचन्द्राचार्य्य ने लिखा है कि जिस समय प्रभु भ्रमण को निकले थे उस समय इन्द्र ने उपसर्गों से इनकी रक्षा करने के लिए "सिद्धार्थ" नामक देवता को अदृश्य रूप से रहने की आज्ञा दी थी। यह "सिद्धार्थ" हमेंशा इनके साथ रहता था। और जहां कोई प्रश्नोत्तर का काम पड़ता, उस समय महावीर के हृदय में प्रवेश कर यह उसका जवाब देता था।

"जो होनहार होता है वही होता है" इस नियतिवाद के सिद्धान्त को ग्रहण किया !

यहां से विहार कर प्रभो 'कोल्लाक' और 'स्वर्णखल्ल' स्थानों में विचरते हुए 'ब्राह्मण' ग्राम में आये। इस ग्राम में मुख्य दो मुहल्ले थे। जिनके नन्द और उपनन्द दोनों भाई मालिक थे। भगवान् महावीर तो आहार लेने के निमित्त नन्द के महल्ले मे गये, वहां पर उन्हे नन्द ने बड़ी ही भक्ति पूर्वक आहार करवाया। इधर "गौशाला" उपनन्द का बड़ा घर देख उधर गया। उपनन्द की आज्ञा से उसकी एक दासी इसे वासी चावल का आहार देने लगी। यह देख "गौशाला" उपनन्द का तिरस्कार करने लगा। इससे क्रोधित हो उपनन्द ने दासी को कहा कि यदि यह अन्न न लेता हो तो इसके सिर पर डाल दे। दासी ने ऐसा ही किया। इस पर "गौशाला" ने अत्यन्त क्रोधित होकर कहा कि "यदि मेरे गुरु में तप का तेज हो तो यह मकान जल कर भस्म हो जाय।" प्रभु का नाम सुन कर आस पास रहने वाले व्यन्तरों ने उस घर को घास के पूले की तरह भस्म कर डाला। यहां से विहार करके भगवान् महावीर 'चम्पापुरी' नगरी को पधारे। यहां पर उन्होंने दो दो मास क्षपण करने की प्रतिज्ञा लेकर तीसरा चतुर्मास व्यतीत करना आरम्भ किया। चतुर्मास समाप्त करके "गौशाला" सहित प्रभो फिर 'कोल्लाक' नामक ग्राम में आये। वहां एक शून्य गृह के अन्दर वे कायोत्सर्ग करके ध्यान मग्न हो गये। "गौशाला" बन्दर की तरह चपलता करता हुआ उसके द्वार पर बैठ गया।

उस ग्राम के स्वामी को "सिंह" नामक एक पुत्र था। नव-यौवनावस्था में होने के कारण वह अपनी "विद्युन्मती" दासी के

साथ रति क्रीड़ा करने के निमित्त उस शून्य गृह में आया।
उसने ऊंचे स्वर से कहा "इस गृह में जो कोई साधु, ब्राह्मण
या मुसाफिर हो वह वाहर चला जाय"। प्रभु तो कायोत्सर्ग मे
होने के कारण मौन रहे, पर "गोशाला" इन शब्दों को सुनने पर
भी कुछ न वोला। वह चुपचाप सव वातो को देखता रहा।
जव उस युवक को कोई प्रत्युत्तर न मिला तव उसने उस दासी
के साथ वहुत समय तक काम क्रीड़ा की। तत्पश्चात् जव वह
घर से वाहर निकलने लगा, उस समय द्वार पर वैठे हुए
"गौशाला" ने उस "विद्युन्मती" का हाथ से स्पर्श कर लिया।
जिससे वह चीख मार कर वोली—स्वामी किसी पुरुप ने मुझे स्पर्श
किया। यह सुन "सिंह" ने गौशाला को पकड़ कर खूब पीटा।
जव वह चला गया तव गौशाला ने कहा—स्वामी! तुम्हारे होते
हुए मुझ पर इतनी मार पड़ी? यह सुन कर "सिद्धार्थ" ने उनके
शरीर में प्रविष्ट होकर कहा तू हमारे समान शील क्यो नहीं
रखता? द्वार में वैठ कर इस प्रकार चपलता करने से तो
उसका दण्ड मिलता ही है।

यहां से विहार कर प्रभु "कुमार" नामक सन्निवेश में आये।
वहां के चम्पक रमणीय उद्यान मे वे प्रतिमा धर कर रहे। इस
ग्राम में "कुपन" नामक एक कुम्हार वड़ा धनिक था। मदिरा-
पान का इसको भयङ्कर व्यसन था। उस समय की शाला मे मुनि
चन्द्राचार्य्य नामक पार्श्वनाथ प्रभु के एक वहु श्रुत शिष्य रहते
थे। वे अपने शिष्य वर्द्धनसूरि को गच्छ के पाट पर विठा कर
स्वयं "जिनकल्प" का दुष्कर प्रति कर्म करते थे। तप, सत्य,
श्रुत, एकत्व और बल ऐसी पांच प्रकार की तुलना करने के

निमित्त वे समाधि पूर्वक रहते थे। एक दिन "गौशाला" जब भिक्षा वृत्ति के निमित्त ग्राम में गया तब उसने इन रंगीन वस्त्रों को धारण करने वाले और पात्रों को रखनेवाले साधुओं को देख कर उनसे पूछा "तुम कौन हो?" उन्होंने कहा कि हम श्री पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ निगण्ठ शिष्य हैं। "गौशाला" ने हंसते हंसते कहा कि "क्यो व्यर्थ मिथ्या भाषण करते हो। नाना प्रकार के वस्त्र और पात्रो को रखते हुए भी तुम निर्ग्रन्थ हो? केवल पेट भरने के निमित्त ही शायद इस पाखण्ड की कल्पना की है।" इस प्रकार होते होते उनका वाद बढ़ गया तब क्रोध में आकर "गौशाला" ने कहा कि तुम्हारा उपाश्रय जल जाय, उन्होंने कहा कि तेरे वचनों से हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ सकता। यह सुन लज्जित हो "गौशाला" भगवान् महावीर के समीप आया और उसने कहा कि प्रभो। तुम्हारी निन्दा करनेवाले सग्रन्थ साधुओ को मैंने शाप दिया कि तुम्हारा उपाश्रय जल जाय, पर न जला, इसका क्या कारण है? "सिद्धार्थ" ने उत्तर दिया—"अरे मूर्ख! वे श्री "पार्श्वनाथस्वामी" के शिष्य हैं। तेरे शाप से उनका क्या अनिष्ट हो सकता है।

यहां से रवाना होकर प्रभु 'चोटाक' नामक ग्राम मे आये। वहां पर चोरों को ढूँढने वाले सरकारी मनुष्यो ने प्रभु को और "गौशाला" को भिक्षुक वेषधारी चोर समझ कर पकड़ लिया और उनको बांध कर कुंए में ढकेल दिया, इसी अवसर पर "सोमा" और "जयन्ति" नामक दो साध्वियें उधर आ निकली। इस संवाद को सुन कर उन्होंने अनुमान किया कि कहीं ये साधु अन्तिम तीर्थंकर भगवान् तो नहीं है। यह सोच कर वे वहाँ आई।

और प्रभु की ऐसी स्थिति देख कर उन्होंने सिपाहियों से कहा—अरे मूर्खों तुम क्यों मरने की इच्छा कर रहे हो। ये तो सिद्धार्थ राजा के पुत्र अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर हैं। यह सुनते ही उन लोगों ने डर कर भगवान् को बाहर निकाला और अपनी भूल के लिये क्षमा मांग कर चले गये।

क्रमश भ्रमण करते करते प्रभु चौथा चतुर्मास व्यतीत करने के लिए "पृष्ट चम्पा" नामक नगरी में आये। यहां पर उन्होंने चार मास क्षपण (चार मास के उपवास) किया। वहां से चल कर "कृतमङ्गल" नामक ग्राम मे गये। उस नगर में कई पाखण्डी रहते थे। उनके महल्ले के मध्य मे एक देवालय था। उसमे उनके कुल देवता की प्रतिमा थी। उसके एक कोने में भगवान कायोत्सर्ग लगा कर स्तम्भ की तरह खड़े हो गये। माघ का मास था। कड़ाके की शीत पड रही थी। आधीरात व्यतीत होने पर वे सब लोग अपने स्त्री बच्चों सहित वहां आये। और मद्य पी पी कर वहां नाचने लगे। यह देख कर गौशाला हस कर बोला "अरे! ये पाखण्डी कौन हैं? जिनकी स्त्रियां भी इस प्रकार मद्यपान कर नृत्य करती हैं। यह सुनते ही उन सब लोगों ने "गौशाला" को निकाल बाहर किया। अब कड़ाके की शीत के अन्दर "गौशाला" अङ्ग सिकोड़ सिकोड़ कर दाँत बजाने लगा। जिससे उन लोगों को दया आ गई और वे पीछे उसे वहां ले आये। कुछ समय पश्चात् जब उसकी सर्दी दूर हो गई, वह फिर उसी प्रकार बोला, जिससे उन लोगों ने फिर उसे निकाल दिया और कुछ समय पश्चात् उसी प्रकार वापिस उसे ले आये इस प्रकार तीन बार उसे निकाला और वापस लाये, चौथी बार जब

उसने ऐसा ही कहा तो लोग उसे मारने को तैयार हो गये। पर वृद्धों ने यह समझा कर लोगों को शान्त किया कि यह तो पागल है। इसकी बात पर क्रोध न करना चाहिए।

इस प्रकार स्थान स्थान पर अपनी बेवकूफी से सजा पाता हुआ "गौशाला" प्रभु के साथ विचरण करने लगा। अन्त में मार खाते खाते जब वह घबरा गया तब एक ऐसे स्थान पर जहां से दो रास्ते अलग होते थे; प्रभु से कहने लगा-भगवन्! अब मैं आपके साथ नहीं चल सकता क्योंकि मुझे कोई गालियां देता है, कोई मारता है और कोई अपमान करता है। आप किसी से कुछ भी नहीं कहते हैं। आपको जब उपसर्ग होते है तब मुझे भी उपसर्ग उठाना पड़ता है। लोग पहले मुझे मारते हैं। और पीछे आपको मारते हैं। ताड़वृक्ष की सेवा के समान आपकी निष्फल सेवा करने से क्या लाभ। इसलिये अब मैं जाता हूँ। ऐसा कह कर जिस रास्ते महावीर जा रहे थे उससे दूसरे रास्ते पर वह चला गया।

आगे जाकर वह ऐसे जंगल में जा पड़ा जहां पर पांचसौ चोरो का अड्डा था। चोरों ने इसे देखते ही मारना शुरु किया। पश्चात् एक चोर इसके कंधे पर चढ़ कर इसे चाबुक से मार कर चिलाने लगा। जब इसका श्वास मात्र बाकी रह गया तब वे इसे छोड़ कर चले गये, उस समय इसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। हाय! यदि प्रभु का साथ न छोड़ता तो मेरी यह दुर्गति न होती।

इधर भगवान् भ्रमण करते करते माघमास में "शालिशीर्ष" नामक ग्राम में आये। वहां के एक उद्यान में वे ध्यानस्थ हो गये। इसी ग्राम मे एक व्यंतरी रहती थी, यह भगवान् के

त्रिपुष्ट वाले भव में इनकी "विजयवती" नामक स्त्री थी। उस भव में इन्होंने इसका बड़ा अपमान किया था, उसी का बदला चुकाने के निमित्त उसने इन पर उपसर्ग करना प्रारंभ किया। उसने उस कड़ाके की सर्दी में बर्फ की तरह ठण्डी हवा चलाना प्रारंभ किया। और उसके पीछे अत्यन्त शीतल जल के बिन्दु प्रभु के नग्न शरीर पर डालने लगी। रात भर वह इस प्रकार उपसर्ग करती रही। पर प्रभु इससे तनिक भी विचलित न हुए। प्रातःकाल तक उनको विचलित न होते देख वह बड़ी विस्मित हुई, और अन्त में पश्चाताप पूर्वक प्रभु से प्रार्थना कर वह अन्तर्द्धान हो गई।

कुछ समय पश्चात् इधर उधर भ्रमण करता हुआ "गौशाला" प्रभु के पास आ गया, और कई प्रकार की क्षमा प्रार्थना कर उनके साथ भ्रमण करने लगा। वह चातुर्मास प्रभु ने "आलम्भिका" नामक नगरी में व्यतीत किया, वहां से प्रभु कुंडक, मर्दन, पुरिमताल, उण्णाक आदि स्थानों में गये। प्रायः इन सभी स्थानो में "गौशाला" ने अपनी मूर्खता के कारण मार खाई।

वहां से विहार कर प्रभु ने आठवां चतुर्मास मासक्षपण के साथ राजगृह में व्यतीत किया-उसके पश्चात् उन्होंने सोचा कि अभी तक मुझे कर्मों की निर्जरा करना शेष है। यह सोच कर कर्मों की निर्जरा करने के निमित्त "गौशाला" सहित वे वज्रभूमि, शुद्धभूमि और लाट वगैरह म्लेच्छ भूमि में गये। इन स्थानों पर म्लेच्छ लोगों ने प्रभु पर नाना प्रकार के भयंकर उपद्रव किये, कोई उनकी निन्दा करता तो कोई हंसी, कोई दुष्ट भावों के वशीभूत हो कर शिकारी कुत्तों को उन पर छोड़ता तो कोई

उन्हें लकड़ी से मारता। पर इन उपसर्गों से कर्मों का क्षय होता है। यह समझ कर प्रभु दुख की जगह हर्ष ही पाते थे। कर्म-रोग की चिकित्सा करने वाले प्रभु कर्म का क्षय करने में सहायता देने वाले म्लेच्छों को बन्धु से भी अधिक मानते थे। धूप और जाड़े से रक्षा करने के निमित्त प्रभु को आश्रयस्थान भी नहीं मिलता था। छः मास तक धर्म जागरण करते हुए वे ऐसे ही स्थानों में धूप और जाड़े को सहन करते हुए और एक वृक्ष के तले रह कर उन्होंने नौवां चतुर्मास निर्गमन किया।

वहां से विहार कर प्रभु "गौशाला" के साथा सिद्धार्थपुर आये। वहां से कूर्मगांव की तरफ प्रस्थान किया, मार्ग में एक तिल के पौधे को देख कर गौशाला ने उनसे पूछा "स्वामी! यह तिल का पौधा फलेगा या नहीं। भवितव्यता के योग से स्वयं महावीर मौन छोड़ कर बोले—"भद्र! यह तिल का पौधा फलेगा। और इससे सात तिल उत्पन्न होंगे।" प्रभु की इस बात को असत्य करने के निमित्त गौशाला ने उस पौधे को उखाड़ कर दूसरे स्थान पर रख दिया। दैवयोग से उस प्रदेश में उसी समय एक गाय निकली उसके पैर का जोर लगने से वह पौधा वहीं पर लग गया।

यहां से चल कर प्रभु कूर्म ग्राम गये। वहां पर "गौशाला" ने "वैशिकायेन" नामक एक तापस को देखा। प्रभु का साथ छोड़ कर वह तत्काल वहां आया, और तापस को पूछने लगा—"अरे तापस! तू क्या तत्व जानता है? विना कुछ जाने तू क्यों पाखण्ड करता है।" यह सुन कर भी वह क्षमाशील तापस कुछ न बोला। तब गौशाला बार बार उसे उसी प्रकार के कठोर

वचन कहने लगा। अन्त में तापस को क्रोध चढ़ आया और उसने "गौशाला" पर "तेजोलेश्या" का प्रहार किया। अब तो अनन्त अग्नि की ज्वालाएं "गौशाला" को भस्म कर देने के लिए उसके पीछे दौड़ीं, जिससे गौशाला बहुत ही भयभीत हो कर त्राहिमान्! त्राहिमान !! करता हुआ प्रभु के पास आया। प्रभु ने गौशाला की रक्षा के लिए दयार्द्र हो उसी समय "शीतलेश्या" को छोड़ी जिससे वह अग्नि शान्त हो गई। यह दृश्य देख वह तापस बड़ा विस्मित हुआ और प्रभु के पास आकर कहने लगा। "भगवन्! मैं आपकी शक्ति से परिचित न था। इसलिए मुझसे यह विपरीत आचरण हो गया, इसके लिए मुझे क्षमा करें।" इस प्रकार क्षमा याचना कर वह अपने स्थान पर गया। पश्चात् "गौशाला" ने प्रभु से पूछा "भगवन्! यह "तेजोलेश्या" किस प्रकार प्राप्त होती है?" प्रभु ने कहा—'जो मनुष्य नियम-पूर्वक "छट्ठ" करता है, और एक मुष्टी "कुलमाध" तथा अञ्जलि-मात्र जल से पारणा करता है। उसे छः मास के अन्त में तेजोलेश्या प्राप्त होती है।'

कूर्म ग्राम से विहार कर प्रभु फिर सिद्धार्थपुर की ओर आये मार्ग में वही तिल के पौधे वाला प्रदेश आया। वहां आकर "गौशाला" ने कहा "भगवन्, आपने जिस तिल के पौधे की बात कही थी वह लगा नहीं।" महावीर ने कहा—"लगा है और यही है।" तब गौशाला ने उसे चीर कर देखा। जब उसमें सात ही दाने नजर आये, तो वह बड़ा आश्चर्यान्वित हुआ, अन्त में उसने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि शरीर का परावर्त्तन करके जीव पीछे जहां के तहां उत्पन्न होते हैं।

उसके पश्चात् वह प्रभु का साथ छोड़ कर "तेजोलेश्या साधने के निमित्ति 'श्रावस्ती' नगरी गया। वहां एक कुम्हार की शाला में रह कर उसने प्रभु की वतलाई हुई विधि से "तेजोलेश्या" का साधन किया। तदनन्तर उसकी परीक्षा करने के निमित्त वह एक पनघट पर गया, वहाँ अपना क्रोध उत्पन्न करने के निमित्त उसने एक दासी का घड़ा कंकर मार कर फोड़ दिया। जिससे क्रोधान्वित हो दासी उसे गालियां देने लगी। यह देखते ही उसने तत्काल उस पर "तेजोलेश्या" का प्रहार किया, जिससे वह उसी समय जल कर खाक हो गई।

एक वार पार्श्वनाथ के छः शिष्य जो कि, चरित्र से भ्रष्ट हो गये थे, पर अष्टांग निमित्त के प्रकाण्ड पण्डित थे, गोशाला से मिले। गोशाला ने उनसे अष्टाङ्ग निमित्त का ज्ञान भी हासिल कर लिया। फिर क्या था, "तेजोलेश्या" और "अष्टाङ्ग निमित्त" का ज्ञान मिल जाने से उसने स्वयं अपने को "जिनेश्वर" प्रसिद्ध किया। और यही नाम धारण कर वह चारों ओर भ्रमण करने लगा।

सिद्धार्थ पुर से विहार कर प्रभु वैशाली, वाणीज्य, सानुयाष्टिक, होते हुए म्लेच्छ लोगों से भरपूर "पेढ़ाण" नामक ग्राम मे आये। इसी स्थान में भगवान् पर सव से कठिन "संङ्गम" देव वाला उपसर्ग हुआ। इस उपसर्ग का वर्णन हम पूर्व खण्ड में कर आये हैं। अतः यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

यहाँ से विहार कर प्रभु गोकुल, श्रावस्ती, कौशाम्वी और वाराणसी नगरी होते हुए "विशालपुरी" आये। यहाँ पर जिनदत्त नामक एक वड़ा ही धार्मिक श्रावक रहता था। वैभव का

भगवान् महावीर

यौवनकी तरंगोंमें लहराती हुई मद भरती विलासमयी रमणियां आकर भगवानके आगे राग रचने लगीं।

Blocks & Printings by the Bank Press, Cal

क्षय हो जाने से वह "जीर्णश्रेष्ठि" के नाम से प्रसिद्ध था। वह जब उद्यान में गया तो वहां बलदेव के मंदिर में कायोत्सर्ग में लीन प्रभु को उसने देखा। अनुमान बल से यह जान कर कि "ये अन्तिम तीर्थंकर वीर प्रभु हैं।" वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने बड़ी ही भक्ति से उनकी वन्दना की। उसके पश्चात् उसने सोचा कि प्रभु को आज उपवास मालूम होता है, यदि ये उपवास समाप्ति मेरे घर पर पारणा करें तो कितना अच्छा हो। इस प्रकार की आशा धारण कर उसने लगातार चार मास तक प्रभु की सेवा की, तीन दिन प्रभु को आमंत्रित कर वह अपने घर गया। उसने बहुत से प्रासुक भोजन आहार देने के निमित्त तैयार करवा रक्खे थे। वह बड़ी उत्सुकता से प्रभु की प्रतीक्षा कर रहा था। पर दैवयोग से उस दिन प्रभु ने उधर न जाकर वहां के नवीन नगरसेठ के यहां आहार ले लिया। यह सेठ बड़ा मिथ्या दृष्टि और लक्ष्मी के मद से मदोन्मत्त था। महावीर को देख कर इसने अपनी दासी से कहा कि जा तू उस साधु को भिक्षा दे दे। वह दासी काष्ट के पात्र में "कुल्माष"* धान्य लेकर आई वही आहार उसने महावीर को दिया। उसी समय देवताओं ने उसके यहां "पाँचदिव्य" प्रकट किये। यह देख कर वह "जीर्ण श्रेष्ठि" अत्यन्त दुखित हुआ। उसने मनही मन कहा "अहो! मेरे समान मन्द भाग्य वाले को धिक्कार है मेरा सब मनोरथ व्यर्थ गया, प्रभु ने मेरा घर छोड़ कर दूसरी जगह आहार ले लिया।"

* कुल्माष—उड़द के बाकले।

आहार लेकर प्रभु तो अन्यत्र विहार कर गये। पर उसी उद्यान में श्री पार्श्वनाथ स्वामी के केवली शिष्य पधारे हुए थे। उनके पास जाकर वहां के राजा ने तथा दूसरे लोगों ने पूछा, "भगवन्! नवीन श्रेष्ठि और जीर्ण श्रेष्ठि इन दोनों मे से किसके हिस्से में पुण्य का अधिक भाग आया"। केवली ने उत्तर दिया— "जीर्ण श्रेष्ठि" सब से अधिक पुण्यवान है। लोगों ने पूछा "कैसे? क्योंकि उसके यहां तो प्रभु ने आहार लिया ही नहीं, प्रभु को आहार देने वाला तो नवीन श्रेष्ठि है।" केवली ने कहा— "भावों से तो उस जीर्ण श्रेष्ठि ने ही प्रभु को पारणा करवाया है और उस भव से उसने अच्युत देव लोक को उपार्जन कर संसार को तोड़ डाला है। यह नवीनश्रेष्ठि शुद्ध भाव से रहित है। इस कारण इसे इस पारणे का फल इहलोक-सम्बन्धी ही मिला है।" जिस प्रकार कर्तव्य के लिए किया हुआ पुरुषार्थ-हीन मनोरथ निष्फल होता है उसी प्रकार भावनाहीन क्रिया का फल भी अत्यन्त अल्प होता है।

यहां से विहार कर प्रभु "सुसुमा पुर" नामक ग्राम मे आये। वहां से भोगपुर, नन्दिग्राम, मेढ़क ग्राम होते हुए प्रभु कौशाम्बी नगरी में आये।

कौशाम्बी में उस समय, "शतानिक" नामक राजा राज्य करता था। उसके मृगावती नामक एक रानी थी। वह बड़ी धर्मात्मा और परम श्राविका थी। "शतानिक" राजा के सुगुप्त नामक मंत्री था, जिसकी "नन्दा" नामक एक पत्नी थी। वह भी बड़ी धर्मात्मा और मृगावती की परम सखी थी। उस नगरी में धना-वह नामक एक सेठ रहता था। उसके "मूला" नामक स्त्री

थी। पोष मास की कृष्ण प्रतिपदा को वीर प्रभु यहां पर आये। उस दिन प्रभु ने भोजन के लिये बड़ा ही कठिन अभिग्रह धारण किया।

"कोई सती और सुन्दर राजकुमारी दासीवृति करती हो। जिसके पैर में लोह की बेड़ी पड़ी हो, जिसका सिर मुण्डा हुआ हो, भूखी हो, रुदन कर रही हो। एक पग देहली पर और दूसरा पग बाहर रखे हुए खड़ी हो और सब भिक्षुक उसके यहाँ आकर चले गये हों। ऐसी स्त्री सूपड़े के एक कोने में उर्द रख कर उनका आहार मुझे करावे तो करूं अन्यथा चिरकाल तक मैं अनाहार रहूँ।"

इस प्रकार का अभिग्रह लेकर प्रभु प्रति-दिन गोचरी के समय उच्च नीच गृहों में फिरने लगे। पर कहीं भी उनको अपने अभिग्रह की पूर्णता दिखलाई न दी। इस प्रकार चार मास बीत गये। यह देख कर सब लोगो को बड़ा शोच हुआ। सबों ने सोचा कि अवश्य प्रभु ने कोई कठिन अभिग्रह धारण कर रक्खा है। सब लोग इस अभिग्रह को जानने की कोशिश करने लगे। राजा, रानी, मंत्री, नगर-सेठ आदि सभी बड़े चिन्तित हुए। कोई ज्योतिषियों को बुलाकर यह बात जानने की कोशिश करने लगे, पर सब निष्फल हुआ।

इसी अवसर पर कुछ समय पूर्व "शतानिक" राजा ने चम्पा-नगरी पर चढ़ाई की थी। चम्पा-पति "दधिवाहन" राजा उससे डरकर भाग गया था। तब "शतानिक" राजा ने अपनी सेना को आज्ञा दी कि जिसको जिस चीज़ की आवश्यकता हो लूट ले। यह सुनते ही सब लोगों ने नगर लूटना प्रारम्भ किया। दधि-

वाहन राजा की धारिणी नामक स्त्री और उसकी कन्या वसुमती इन दोनो को एक ऊँटवाला हर कर ले गया। धारिणी देवी के रूप पर मोहित होकर उस ऊँटवाले ने कहा कि "यह रूपवती स्त्री तो मेरी स्त्री होगी और इस कन्या को कौशाम्बी के चोरो में वेच दूंगा।" यह सुनते ही धारिणी देवी ने प्राण त्याग कर दिये। यह देख कर उस ऊटवाले ने वहुत ही दुखित होकर कहा कि "ऐसी सती स्त्री के प्रति मैंने ऐसे शब्द कह कर वड़ा पाप किया। इस कृत्य के लिए मुझे अत्यन्त धिक्कार है"। इस प्रकार पश्चाताप कर वह उस कन्या को वड़े ही सम्मानपूर्वक कौशाम्वी नगरी में लाया। और उसे वेचने के लिए आम रास्ते पर खड़ी कर दी। इतने ही में धनावह सेठ उधर निकला और उसने उस कुमारी को उच्च-कुलोत्पन्न जान उसे वड़ी ही शुभ भावना से खरीद लिया। और उसे घर लाकर पुत्री की तरह सम्मानपूर्वक रखने लगा। उसका नाम उसने "चन्दना" रक्खा।

कुछ समय पश्चात् उस मुग्ध कन्या का यौवन विकसित होने लगा। पूर्णिमा के चन्द्रमा को देख कर जिस प्रकार सागर हर्षोत्फुल्ल हो जाता है। उसी प्रकार वह सेठ भी उसे देखकर आनन्दित होने लगा। पर उसकी स्त्री मूला को उसका विकसित सौन्दर्य्य देखकर बड़ी ईर्षा हुई। वह सोचने लगी कि "श्रेष्टि ने यद्यपि इस कन्या को पुत्रीवत रक्खा है, पर यदि उसके अभिनव-सौन्दर्य को देखकर वह इससे विवाह कर ले तो मैं कहीं की भी न रहूँ।" स्त्री-हृदय की इस स्वाभाविक तुच्छता के वशीभूत हो कर वह दिन रात उदास रहने लगी। एक वार ग्रीष्म ऋतु के उत्ताप से पोड़ित होकर सेठ दुकान से घर पर आये। उस समय

कोई सेवक घर पर न होने से चन्दना ही उसके पैर धोने के लिये वहाँ आई। यद्यपि सेठ ने उसे ऐसा करने से मना किया तथापि पितृभक्ति से प्रेरित होकर उसने न माना और पैर धोने लगी। उसी समय उसका स्निघि, श्याम केशपाश, कीचड़युक्त भूमि मे पड़ गया। यह देख सेठ ने पुत्री स्नेह से प्रेरित हो प्रेमपूर्वक उसके केशपाश को समेट दिया। "मूला" यह सब दृश्य देख रही थी। उसने उसी समय मन में सोचा कि जिस बात से मैं डर रही थी वही आगे आ रही है। अब यदि इस लड़की का उचित प्रतिकार न किया जायगा तो मेरी दुर्दशा का अन्त न रहेगा। इस प्रकार उसके विनाश का सकल्प मन ही मन कर वह योग्य अवसर देखने लगी। कुछ दिनों पश्चात् अवसर देखकर उसने एक नाई को बुलवाया और उससे उसके बाल मुण्डवा दिये। तत्पश्चात् उसके पैर में लोहे की बेड़ी डाल कर "मूला" ने उसको बहुत पीटी तदनन्तर एकान्त के किसी एक कमरे में उसे बन्द कर बाहर का ताला लगा दिया। पश्चात् नौकरो से कह दिया कि सेठ के पूछने पर भी उन्हें उस कमरे के विषय में कोई कुछ न कहे। इस प्रकार का आदेश सब लोगो को देकर वह अपने नैहर को चली गई। इधर सेठ ने नौकरों से "चन्दना" के बारे में पूछा पर मूला के डर के मारे किसी ने भी स्पष्ट उत्तर न दिया? इससे सेठ ने यह समझ कर मौन धारण कर लिया कि शायद वह अपनी सहेलियों में से किसी के यहां मिलने को गई होगी। पर जब दूसरे और तीसरे दिन भी उसने "चन्दना" को न देखा तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सब सेवको को धमका कर कहा कि सत्य बतलाओ "चन्दना" कहां है नहीं तो मैं

तुम्हें उचित दण्ड देने की व्यवस्था करूँगा। यह सुन कर एक वृद्ध दासी ने यह सोचकर, "चन्दना" को बतला दिया कि अब मैं अधिक जीने की नहीं, मेरे इस अल्प जीवन के बदले यदि उस दीर्घजीवी बालिका के प्राण बच जांय तो अच्छा! सेठ ने उसी समय चन्दना को बाहर निकाला। उसकी ऐसी दुर्गति देख उसकी आंखों मे आँसू भर आये। उसने चन्दना से कहा—"वत्से! तुझे बड़ा कष्ट हुआ अब तू स्वस्थ हो।" यह कह कर उसके लिए भोजन लाने को वे रसोई घर में गये। पर वहां पर सूपड़े के एक कोने में पड़े हुए थोड़े से कुल्माष के सिवाय उन्हे कुछ न मिला। उस समय चन्दना को उन्होंने वह सूप ज्यों का त्यो दे दिया और कहा "वत्से! मैं तेरी बेड़ी काटने के लिये लुहार को बुला लाता हूँ, इतने तू इनको खाकर स्वस्थ हो। यह कह कर वह चला गया।

अब दरवाजे के पास उस सूप को लिए हुए चन्दना विचार करने लगी कि "कहां तो मैं राजा की लड़की, और कहां ये कुल्माष—आठ दिनों के उपवास के पश्चात् ये खाने को मिले हैं पर यदि कोई अतिथि आजाय तो उसको भोजन कराये पश्चात्-भोजन करूँगी। अन्यथा नहीं। यह सोच कर वह किसी अतिथि की परीक्षा करने लगी। इतने ही में श्रीवीर प्रभु भिक्षा के लिये फिरते फिरते वहाँ आ पहुँचे। उनको देखते ही "चन्दना" बड़ी प्रसन्न हुई। और उनको आहार देने के निमित्त उसने बेड़ी से जकड़ा हुआ एक पैर देहली के बाहर और दूसरा पैर अन्दर रक्खा और बोली—"प्रभु! यद्यपि यह अन्न आपके योग्य नहीं है पर आप तो परोपकारी हैं। इससे इसे ग्रहण कर मुझपर अनु-

ग्रह करें। पर उस समय चन्दना के नेत्र में आँसू न थे। इस कारण प्रभु वहाँ से आगे चलने लगे। पर उनके जरा मुड़ते ही चन्दना इतनी अधीर हुई कि उसकी आंखों से टप टप आँसू गिरने लगे। यह देखते ही अभिग्रह पूर्ण समझ भगवान् मुड़े और उन्होंने उन कुलमाषो का आहार किया।* प्रभु का अभिग्रह पूर्ण होते ही देवता बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने चन्दना के यहाँ पांच आश्चर्य्य प्रकट किये। उसी समय चन्दना की वेड़ियाँ टूट गईं, और केशपाश पहले ही के समान सुन्दर हो गये। उसके पश्चात् राजा, राजमन्त्री, उसकी स्त्री आदि सब वहाँ आये और उस लड़की के प्रति भक्ति करने लगे, प्रभु के वहाँ से चले जाने पर राजा "शतानिक" चन्दना को अपने यहां ले आये और उसे कन्याओं के अन्तःपुर में रक्खा। पश्चात् जब प्रभु को कैवल्य प्राप्त हो गया तब उसने दीक्षा ग्रहण कर ली।

वहां से विहार कर प्रभु सुमङ्गल, चम्पानगरी, मेढ़कग्राम आदि स्थानो में होते हुए "खडग मानि" ग्राम में आये, वहां पर ग्राम बाहर कायोत्सर्ग करके खड़े हो गये इसी स्थान पर उनके "त्रिपुष्ट" जन्म के वैरी शय्यापाल का जीव गुवाले के रूप मे दो वैलो को चराता हुआ उधर आया, उसने किस प्रकार अपने पूर्वभव का बदला चुकाने के लिए उनके कानों में कीलें ठोक दीं, किस प्रकार "खड़गवैद्य" ने उनको निकाला और निकालते समय प्रभु ने चीख मारी आदि सब बातों का वर्णन मनोवैज्ञानिक

---

* हेमचन्द्राचार्य्य ने फिरकर वापस मुड्ने का कथन नहीं है यह कथन अन्यत्र पाया जाता है।

खण्ड में किया जा चुका है, वस भगवान पर आने वाले उपसर्गों में यही सव से अधिक दुखद और अन्तिम उपसर्ग था। इसके पश्चात भगवान् पर कोई उपसर्ग न आया।

कैवल्य प्राप्ति और चतुर्विध संघ की स्थापना

जम्भुक नामक ग्रामों में ऋजु वालिका नदी के तीर पर "शामाक" नामक एक गृहस्थ का क्षेत्र था। वहां पर एक गुप्त चैत्य था, उसके समीप एक शालि वृक्ष के नीचे उत्कृष्टासन लगा कर शुक्लध्यानावस्थावस्थित हो प्रभु आतापना करने लगे। वैसाख सुदी दसमी का सुंदर दिन था। चन्द्रहस्तोत्तरा नक्षत्र था, सुंदर समीर वह रहा था, संसार आनन्द मग्न था, ऐसे शुभ समय में विजय मुहुर्त के अन्तर्गत प्रभु के चार घातिया-कर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय) जीर्ण रस्सी के समान टूट गये, उसी समय भगवान् को सर्वश्रेष्ट केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।

नियमानुसार इंद्र का आसन कम्पायमान हुआ जिससे उसने प्रभु को कैवल्य प्राप्ति का अनुमान कर लिया। इस समाचार को सुनते ही सब देवता अत्यन्त हर्षित चित्त हो वहां आये। उस अवसर पर आनन्द के मारे कोई कूदने लगे, कोई नाचने लगे, कोई घोड़े की तरह हिनहिनाने लगे तो कोई हाथी के समान चिंघाड़ने लगे। मतलब यह है कि हर्षोन्मत्त हो वे सब मनमानी क्रिड़ाएँ करने लगे। पश्चात् देवताओ ने बारह दरवाजो वाला समवशरण मंडप बनाया। भगवान् महावीर ने जानते हुए भी रत्नसिंहासन पर बैठ कर उपदेश देना सर्व विरति को योग्य

नहीं है—अपना कल्प जान कर उस समवशरण मे बैठकर उपदेश * दिया। पर वहां पर उपकार के योग्य लोगो का अभाव देख प्रभु ने अन्यत्र बिहार किया।

वहां से चल कर असंख्य देवताओं से सेवित महावीर प्रभु भव्यजनो का उपकार करने के निमित्त 'अपापा' नामक नगरी में पधारे। उस पुरी के समीप महासेन नामक वन मे देवताओ ने समवशरण की रचना की। उस समवशरण में पूर्व के द्वार से प्रभु ने प्रवेश किया। पश्चात् बत्तीस धनुप ऊंचे रत्न-प्रतिच्छन्द के समान चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा दे "तीर्थायनम!" ऐसा कह प्रभु ने अर्हत धर्म की मर्यादा का पालन किया। तदनन्तर वे पादपीठ युक्त पूर्व सिहासन पर बैठे। उस समय देवताओ ने शेप तीन दिशाओ में भी प्रभु के प्रति रूप स्थापित किये जिससे चारो दिशा वाले आनन्दपूर्वक प्रभु को देख सकें, और उनका उपदेश सुन सकें। इसी अवसर पर सब देवता, मनुष्य तिर्यञ्च आदि अपने अपने नियमित स्थानो पर बैठ कर प्रभु के मुख की ओर अतृप्त दृष्टि से निहारने लगे। तत्पश्चात् इन्द्र ने भक्ति के आवेश मे आ भगवान की एक लम्बी स्तुति की। उनकी स्तुति समाप्त होने पर प्रभु ने—सब लोग अपनी अपनी भाषा में समझ ले—ऐसी विचित्र वाणी मे कहना प्रारम्भ किया :—

"यह ससार समुद्र के समान दारुण है, और वृक्ष के बीज

---

* तीर्थंकर का उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता, ऐसी स्थिति में महावीर के पहले उपदेश का बिलकुल व्यर्थ जाना अत्यन्त आश्चर्य-प्रद बात है, ऐसा जैनशास्त्रों का कथन है।

की तरह उसका मूल कारण कर्म ही है। अपने ही किये हुए कर्मों से विवेक रहित होकर प्राणी कुआ खोदने वाले की तरह अधोगति को पाता है। और शुद्ध हृदय वाले पुरुप अपने ही उपार्जित किये हुए कर्मों से महल बांधने वाले की तरह उर्ध्वगति पाते हैं। अशुभ कर्मों के वन्ध का मूल कारण "हिंसा" है, इस लिए किसी भी प्राणी की हिंसा कभी न करना चाहिये। हमेशा अपने ही प्राण की तरह दूसरो के प्राणो की रक्षा करने में भी तत्पर रहना चाहिये। आत्म पीड़ा के समान दूसरे जीव की पीड़ा को दूर करने की इच्छा रखने वाले प्राणी को कभी असत्य न वोलना चाहिए। मनुष्य के वहि प्राण के समान किसी का विना दिया हुआ द्रव्य भी न लेना चाहिये क्योंकि; उसका द्रव्य हरण करना वाह्य दृष्टि से उसके मारने ही के समान भयंकर है। इसके अतिरिक्त प्राणी को मैथुन से भी वचे रहना चाहिये। क्योंकि इसमे भी वहुत वड़ी हिंसा होती है। प्राज्ञ पुरुपो को तो मोक्ष के देने वाले ब्रह्मचर्य्य का ही सेवन करना चाहिये। परिग्रह का धारण भी न करना चाहिये। परिग्रह धारण करने से मनुष्य वहुत वोझा ढोनेवाले वैल की तरह क्लान्त होकर अधोगति को पाता है। इन पाचों ही वृत्तियों के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद हैं। जो लोग सूक्ष्म को त्याग करने मे असमर्थ हैं उन्हे स्थूल पापो को तो अवश्य त्याग देना चाहिए।"

इस प्रकार प्रभु का उपदेश सुन कर सव लोग आनन्द-मग्न हो गये :—

ठीक उसी अवसर पर अपापा नगरी में "सोमिल" नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण के घर यज्ञ था उसको सम्पन्न कराने के

निमित्त चारों वेद के पाठी भारत प्रसिद्ध ग्यारह ब्राह्मण बुलाये गये थे। इनके नाम निम्नाङ्कित हैं—

१—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त, सुधर्माचार्य्य, मण्डीपुत्र, मौर्य्यपुत्र, अकम्पित, अचलवृत्त, मैत्रेयाचार्य्य और प्रभासाचार्य्य।

ये लोग अपने ज्ञान के बल से सारे भारतवर्ष में मशहूर थे। जब समवशरण में उपदेश सुनने के निमित्त हजारों देव और मानव उस रास्ते से होकर जाने लगे तब यह सोच कर कि ये सब लोग यज्ञ में आ रहे हैं इन पण्डितों ने कहा "इस यज्ञ का प्रभाव तो देखो अपने मंत्रों से बुलाये हुए देवता प्रत्यक्ष होकर इधर आ रहे हैं। पर जब सब लोग वहाँ एक क्षण मात्र भी न ठहरते हुए आगे बढ़ गये तब तो इनको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसके पश्चात् किस प्रकार लोगों से पूछ कर सबसे पहले इन्द्रभूति भगवान् से शास्त्रार्थ करने गये और किस प्रकार पराजित हो उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली ये सब बातें पूर्व खण्ड में लिखी जा चुकी हैं।

इन्द्रभूति की दीक्षा का समाचार सुन अग्निभूति प्रभु से शास्त्रार्थ करने के निमित्त आया। उसके आते ही प्रभु ने उसका स्वागत करते हुए कहा—"हे गौतम गौत्री अग्निभूति! तेरे हृदय मे यह सन्देह है कि कर्म है या नहीं? यदि कर्म है तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य होते हुए भी वे मूर्तिमान हैं। ऐसे मूर्तिमान कर्म अमूर्तिमान जीव को किस प्रकार बाँध लेते हैं? अमूर्तिक जीव को मूर्तिमान कर्म से उपघात और अनुग्रह किस प्रकार होता है? इस प्रकार का संशय तेरे मस्तक में घुस रहा है पर

वह व्यर्थ है। क्योंकि अतिशय ज्ञानी पुरुषों को कर्म प्रत्यक्ष ही मालूम होते हैं। और तेरे समान छद्मस्थ पुरुषों को जीव की विचित्रता देखने से—अनुमान प्रमाण से—ही कर्म मालूम होते हैं। कर्म की विचित्रता से ही प्राणियों को सुख दुःखादि विचित्र भाव प्राप्त होते रहते हैं। इससे कर्म है, तू ऐसा निश्चय समझ। कितने ही जीव राजा होते हैं। और कितने ही हाथी, अश्व आदि वाहन गति को पाते हैं। कोई हज़ारों पुरुषों का पालन करने वाले महापुरुष होते हैं। और कोई भिक्षा माग कर भी भूखों मरने वाले रङ्क होते हैं। एक ही देश एक ही काल, और एक ही परिस्थिति में एक ही व्यापार करने वाले दो मनुष्यों में से एक को तो अत्यन्त लाभ हो जाता है और दूसरे की मूल पूंजी का भी नाश हो जाता है। इसका क्या कारण? इन सब कार्यों का मूल कारण कर्म है। क्योंकि कारण के विना कार्य्य में विचित्रता नहीं होती। मूर्तिमान कर्म का अमूर्तिमान जीव के साथ जो सम्बन्ध है वह आकाश और घोड़े के सम्बन्ध के समान बराबर मिलता हुआ है। नाना प्रकार के मद्य और विविध प्रकार की औषधियों से जिस प्रकार जीव को उपघात और अनुग्रह होता है, उसी प्रकार कर्मों से भी जीव का उपघात और अनुग्रह होता है।" इस प्रकार कह कर प्रभु ने उसका संशय मिटा दिया। अग्निभूति भी ईर्षा छोड़ कर अपने पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षित हो गया।

उसके पश्चात् वायुभूति आया, उसके आते ही प्रभु ने कहा—"वायुभूति तुझे जीव और शरीर के विषय मे बड़ा भ्रम है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण न होने कारण जीव शरीर

से भिन्न मालूम नहीं होता। इस से जल में उत्पन्न हुए भाग की तरह वह शरीर मे उत्पन्न होता है और शरीर ही में नष्ट हो जाता है। ऐसा तेरा आशय है पर वह मिथ्या है। क्योंकि इच्छा वगैरह गुणो के प्रत्यक्ष होने से जीव एक दृष्टि से तो प्रत्यक्ष है। उसे अपना अनुभव स्वयं ही होता है। वह जीव, देह और इन्द्रियों से भिन्न है। और इन्द्रियां जब नष्ट हो जाती हैं तब भी वह इन्द्रियों के द्वारा पूर्व मे भोगे हुए भोगो को स्मरण करता है।" इस प्रकार वायुभूति का समाधान कर प्रभु ने उसे भी अपने धर्म मे दीक्षित किया।

इनके पश्चात् आर्यव्यक्त सुधर्माचार्य्य, आदि सब पण्डित लोग आये। भगवान ने उन सब की शंकाओ का निवारण कर उनके शिष्यों सहित सबको अपने धर्म मे दीक्षित किया।

इस समय शतानिक राजा के घर पर चन्दना ने आकाश मार्ग से जाते हुए देवो को देख अनुमान से प्रभु को केवल ज्ञान होने का समाचार जान लिया, उसी समय उसे व्रत लेने की इच्छा हुई। उसकी ऐसी इच्छा होते ही किसी समीपवर्ती देवता ने उसे समवशरण सभा में पहुँचा दिया। उसने प्रभु को तीन प्रदक्षिणा दे दीक्षा लेने की इच्छा प्रदर्शित की। उसी समय दूसरी भी कई स्त्रियाँ दीक्षा लेने को तैयार हो गई। तब प्रभु ने चन्दना को आगे करके सबको दीक्षा दी।

इसके पश्चात् श्रावक और श्राविका धर्म मे जिन लोगो ने दीक्षित होना चाहा उन्हे अपने २ धर्म का उपदेश दिया। इस प्रकार भगवान् ने मुनि, आर्जिका, श्रावक और श्राविका ऐसे चतुर्विध संघ की रचना की। तदनन्तर प्रभु ने इन्द्रभूति वगैरह

गणधरों को ध्रौव्य, उत्पादक और व्ययात्मक ऐसी त्रिपदी कह सुनाई। उस त्रिपदी के लिए उन्होंने आचाराङ्ग, सूत्र कृताङ्ग, ठाणांग, समवायाङ्ग, भगवती अंग, ज्ञाता धर्म कथा उपासक अन्त कृत, अनुत्तरोप पातिक दशा, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टि वाद इस प्रकार बारह अङ्गों की रचना की, फिर दृष्टिवाद के अंतर्गत चौदह पूर्वो की रचना की। इस रचना के समय सात गण धरो की सूत्र—वांचना परस्पर भिन्न भिन्न हो गई। और अकम्पित तथा अचल भ्राता की एव मैत्रैय और प्रभास की वांचना समान हुई। इस प्रकार प्रभु के ग्यारह गणधर होने पर भी चार गणधरो की वांचना दो प्रकार की होने से गण* नौ कहलाये।

राजा श्रेणिक को सम्यक्त्व और मेघकुमार तथा नन्दीषेण को दीक्षा।

श्रीवीर प्रभु भव्य प्राणियों को बोध करने के निमित्त विहार करते हुए सुर असुरो के परिवार सहित राजगृह नगर मे आये। वहाँ गुण शील चैत्य में बनाये हुए चैत्य वृक्ष से शोभित समवशरण में प्रभु ने प्रवेश किया। वीर प्रभु के पधारने का संवाद सुन राजा श्रेणिक बड़े ठाट बाट के साथ अपने पुत्रों समेत उनकी बन्दना करने को आये। प्रभु को प्रदक्षिणा देकर उन्होंने बड़ी ही भक्ति पूर्वक उनको नमन किया। तत्पश्चात् योग्यस्थान पर बैठ कर बड़ी ही श्रद्धा के साथ उन्होंने भगवान्

* गण मुनिसमुदाय।

की स्तुति की। तब भगवान् ने उन्हें सम्यक्त्व का उपदेश दिया जिसके फल स्वरूप श्रेणिक ने सम्यक्त्व को और अभय कुमार वगैरह ने श्रावक धर्म को ग्रहण किया। देशना समाप्त हो जाने पर सब लोग भगवान् को नमन कर प्रसन्नचित्त से अपने अपने घर गये।

घर जाकर श्रेणिक (बिम्बसार) के पुत्र मेघकुमार ने अपनी माता धारिणी देवी और पिता से प्रार्थना की—"मैं अब इस अनन्त दुःखप्रद संसार को देख कर चकित हो गया हूँ। इस कारण मुझे इस दुःख से छूट कर श्रीवीर प्रभु की शरण में जाने दो"। यह सुनते ही राजा और रानी बड़े दुखित हुए, उन्होंने मेघकुमार को कितना ही समझाया पर वह अपनी प्रतिज्ञा से विचलित न हुआ। अन्त मे श्रेणिक ने कहा कि यदि तुमने दीक्षा लेना ही निश्चय किया है, तो कुछ समय तक राज्य सुख भोग लो तत्पश्चात् दीक्षा ले लेना। बहुत आग्रह करने पर मेघकुमार ने उस बात का स्वीकार किया। तब राजा ने एक बड़ा उत्सव कर मेघकुमार को सिंहासन पर बिठाया। तत्पश्चात् हर्ष के आवेश में आकर राजा ने पूछा, "अब तुझे और किस बात की जरूरत है।" मेघकुमार ने कहा—"पिता जी यदि आप मुझ पर प्रसन्न हुए हैं तो कृपा कर मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दीजिये।" लाचार हो राजा ने मेघकुमार को आज्ञा दी, तब मेघकुमार ने प्रसन्न चित्त हो वीर प्रभु के पास जा कर दीक्षा ली।

दीक्षा की पहली ही रात्रि में मेघकुमार मुनि छोटे बड़े के क्रम से अन्तिम सन्थारे (सोने का स्थान) पर सोये थे, जिससे

बाहर आने जाने वाले तमाम मुनियों के चरण बार बार इनके शरीर से टकराते थे, इससे ये बड़े दुःखी हुए और सोचा कि मेरे वैभव रहित होने ही से ये लोग मेरे ठोकरें मारते जाते हैं। इस-लिये मैं तो प्रातःकाल प्रभु की आज्ञा को लेकर यह व्रत छोड़ दूंगा, प्रातःकाल व्रत छोड़ने की इच्छा से ये प्रभु के पास गये। प्रभु ने केवल ज्ञान के द्वारा इनका हार्दिकभाव जान कर कहा "ओ मेघकुमार! संयम के भार से भग्नचित्त होकर तू तेरे पूर्व जन्म को क्यों नहीं याद करता। सुन इससे पहले भव मे तू विन्ध्याचल पर्वत पर मेरुप्रभ नामक हाथी था। एक बार वन में भयङ्कर दावानल लगा। उसमें तैंने अपने यूथ की रक्षा करने के निमित्त नदी किनारे पर वृक्ष वगैरह उखाड़ कर तीन स्थंडिल बनाए। वन में दावानल को जोर पर देख उससे रक्षा पाने के निमित्त तू स्थंडिलो की ओर गया। पर पहले दो स्थंडिल तो तेरे जाने से पूर्व ही मृगादिक जानवरों से भर चुके थे, तब तू तीसरे स्थंडिल के एक बहुत ही सकीर्ण स्थान में जा कर खड़ा हो गया। वहां खड़े खड़े तूने अपना वदन खुजलाने के निमित्त एक पैर ऊंचा किया, इतने ही में एक भयभीत खरगोश दावानल से रक्षा पाने के लिए तेरे उस ऊंचे किये हुए पैर के नीचे आ कर बैठ गया। उसकी जान को जोखिम में देख तूने दयार्द्र हो अपना पैर ज्यो का ज्यों ऊँचा रहने दिया, और तीन पैर के बल ही खड़ा रहा। ढाई दिन के पश्चात् जब दावानल शान्त हुआ और सब छोटे बड़े प्राणी चले गये। तब भूख प्यास से पीड़ित हो तू पानी की ओर दौड़ने लगा। पर बहुत देर तक तीन पैर पर खड़े रहने से तेरा चौथा पैर जमीन पर न टिका। और तू

धम से गिर पड़ा । भूख और प्यास की यन्त्रणा से तीसरे दिन मृत्यु हो गई, उसी खरगोश पर की गई दया के प्रताप से तू राजपुत्र हुआ है । एक खरगोश की रक्षा के लिये जब तैंने इतना कष्ट सहन किया तो फिर इन साधुओं के चरण-संघर्ष के कष्ट से क्यों खेद पाता है । इसलिये जिस वृत्त को तैंने धारण किया है, उसको पूरा कर और भवसागर से पार हो जा ।"

प्रभु के इस वक्तव्य को सुन कर मेघकुमार शान्त हुआ, उसे अपनी इस कमजोरी का बड़ा पश्चात्ताप हुआ और अब वह बड़े साहस के साथ कठिन से कठिन तपस्या करने में प्रवृत्त हुआ ।

एक दिन प्रभु के उपदेश से प्रतिबोध पाकर श्रेणिक का दूसरा पुत्र नन्दीषेण दीक्षा लेने को तत्पर हुआ । उसे भी उसके पिता ने बहुत समझाया । पर न मानने से लाचार होकर उसे भी आज्ञा दी । जिस समय नन्दीषेण दीक्षा लेने के निमित्त जा रहा था उसी समय उसके अन्तः करण में मानों किसी ने कहा कि "वत्स ! तू व्रत लेने को अभी से क्यों उत्सुक हो रहा है ? अभी तेरे चरित्र पर आवरण डालनेवाला भोग फल कर्म शेष है । जहाँ तक उस कर्म का क्षय न हो जाय वहाँ तक तू घर में रह पश्चात् दीक्षा ले लेना ।" पर नन्दीषेण ने अन्तःकरण के इस प्रबोध की कुछ परवाह न की और वह प्रभु के पास आया । उन्होंने भी उसे उस समय दीक्षा लेने से मना किया । पर उसने अपने हठ को न छोड़ा और क्षणिक आवेश में आकर दीक्षा ग्रहण कर ली । दीक्षा लेते ही उन्होंने अत्यन्त उग्र तपस्या कर अपना शरीर

क्षीण करना आरम्भ किया। पर जिस भोग फल कर्म का उदय टालने में तीर्थंकर भी असमर्थ हैं उसे वे किस प्रकार टाल सकते थे।

एक वार नन्दीषेण मुनि अकेले छट्ट का पारणा करने के निमित्त शहर में गये। अन्त भोग के दोष से प्रेरित होकर उन्होंने एक वैश्या के घर में प्रवेश कर धर्म-लाभ इस शब्द का उच्चारण किया। वैश्या ने उत्तर में कहा, "मुझे तो अर्थ लाभ की जरूरत है। मैं धर्म कर्म को क्या करूं।" ऐसा कह कर विकार युक्त हृदय वाली वह वैश्या हँसने लगी। उस समय यह वैश्या मुझे क्यों हँसती है, इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपनी लब्धि के वल से वहाँ पर रत्नों के ढेर कर दिये। "पहले अर्थ लाभ" ऐसा कह कर नन्दीषेण मुनि चलने लगे। यह देख वैश्या पीछे दौड़ी और कहा—"प्राणनाथ, इस कठिन वृत्त को छोड़ दो; और मेरे साथ स्वर्गीय भोगो को भोगो।" इस प्रकार कह कर उसने उन्हे पकड़ लिया और वार वार व्रत छोड़ने का आग्रह करने लगी। इस समय नन्दीषेण ने व्रत छोड़ने के दोष को जानते हुए भी भोग फल कर्म के वश होकर उसका कथन स्वीकार किया। पर उसके साथ ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि, "जो मैं प्रति दिन दश अथवा इस से अधिक मनुष्यों को वोध न करूँ तो उसी दिन पुनः दीक्षा ग्रहण कर लूँ।"

यह प्रतिज्ञा कर उन्होंने मुनिलिंग, को छोड़ दिया। और वैश्या के साथ भोग भोगते हुए अपने अन्तः करण की उस आवाज का स्मरण करने लगे। वहाँ रहते हुए भी वे प्रति दिन

दस आदमियो को प्रबोध कर दीक्षा लेने के निमित्त वीर प्रभु के पास भेजते रहे। एक दिन जब कि उनका भोग फल कर्म क्षीण हो चुका था, उन्हे केवल नौ ही आदमी दीक्षा ग्रहण करनेवाले मिले। दसवां एक सोनी था, पर वह किसी प्रकार प्रबोध न पाता था, उसी दिन नन्दीषेण मुनि ने उस वैश्या को छोड कर दशमस्थान की पूर्ति की।

कई स्थानों में भ्रमण करते हुए भगवान महावीर "क्षत्रिय कुण्ड" ग्राम मे पधारे। वहाँ समवशरण सभा में बैठ कर उन्होंने उपदेश दिया। प्रभु को पधारे हुए जान नगरनिवासी बड़ी भारी समृद्धि और भक्ति के साथ प्रभु की वन्दना करने को गये थे। तीन प्रदक्षिणा दे, जगद्गुरु को नमस्कार कर वे अपने योग्य स्थान पर बैठ गये। उसी समय भगवान् महावीर के जमाता जमालि उनकी पुत्री प्रियदर्शना सहित प्रभु की वन्दना करने को आये। भगवान् के उपदेश से प्रबोध पाकर उन दोनों पति-पत्नी ने गुरु जनों से दीक्षा लेने की अनुमति ले दीक्षा ग्रहण की। जमालि ने ५०० आदमियो के साथ और प्रियदर्शना ने एक हज़ार स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। अनुक्रम से जमालि मुनि ने ग्यारह अङ्गो का अध्ययन कर लिया। तब प्रभु ने उनको एक हजार मुनियों का आचार्य्य बना दिया। उनके पश्चात् उन्होंने और भी उग्र तपस्या करना प्रारम्भ किया। इधर चन्दना का अनुकरण करती हुई प्रियदर्शना भी उग्र तप करने लगी।

एक बार जमालि ने अपने परिवार सहित प्रभु की वन्दना कर कहा—"भगवन् यदि आपकी आज्ञा हो तो अब हम स्वत-

न्त्रता पूर्वक विचरण करें।" पर भगवान् महावीर ने ज्ञान चक्षुओं के द्वारा भविष्य में उनके द्वारा होने वाले अनर्थ को जान लिया। इस कारण उन्होंने उनकी वात का कुछ उत्तर न देकर मौन ग्रहण कर लिया। इधर जमालि "मौनं सम्मति लक्षणं" समझ कर परिवार सहित विहार करने को निकल पड़े। विहार करते करते अनुक्रम से वे श्रावस्ती नगरी में आये। वहाँ कोष्टक नामक उद्यान मे वे ठहरे। यहाँ पर विरस, शीतल, रूखे, तुच्छ, और ठण्डे अन्नपान का व्यवहार करने से उनके शरीर मे पित्तज्वर की पीड़ा उत्पन्न हो गई। इस पीड़ा के कारण वे अधिक समय तक खड़े नहीं रह सकते थे। इस कारण पास ही के एक मुनि से उन्होंने संथारा (आसन) करने को कहा। मुनियों ने तुरन्त सथारा करना प्रारम्भ किया। पित्त की अत्यन्त पीड़ा से व्याकुल होकर जमालि वार २ मुनियों से पूछने लगे कि—"अरे साधुओं। क्या संथारा प्रसारित कर दिया।" साधुओं ने कहा कि—"सथारा हो गया।" यह सुन जमालि तुरन्त उनके पास गये, वहाँ उनको संथारा विछाते देख वे जमीन पर वैठ गये। उसी समय मिथ्यात्व के उदय से क्रोधित हो उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

"अरे साधुओं! हम वहुत समय से भ्रम में पड़े हुए हैं। चिरकाल के पश्चात् अव मेरे ध्यान में यह वात आई है कि जो कार्य किया जा रहा हो उसे कर डालो" ऐसा नहीं कह सकते। संथारा विछाया जा रहा था। ऐसी हालत में तुमने "विछा दिया" यह कर असत्य भाषण किया है। इस प्रकार असत्य वोलना अयुक्त है। जो उत्पन्न हो रहा हो, उसे उत्पन्न हुआ

कह देना और "किया जा रहा हो" उसे "कर डाला" कह देना ऐसा जो अरिहन्त प्रभु कहते हैं वह ठीक नहीं मालूम होता। इसमें प्रत्येक्ष विरोध मालूम होता है। वर्तमान और भविष्य क्षणों के व्यूह के योग निष्पन्न होते हुए एक कार्य के विषय मे "किया" ऐसा कैसे कहा जा सकता है। जो अर्थ और क्रिया का विधान करता है—उसी में वस्तुत्व रहता है। कार्य यदि आरम्भ से ही "किया" ऐसा कहलाने लग जाय तो फिर शेष क्षणों में किये हुए कार्य्य में अवश्य अनवस्था दोष की उत्पत्ति होती है। युक्ति से यही सिद्ध होता है कि कार्य पूर्ण हो चुका है, वही स्पष्ट रूप से किया हुआ कहा जा सकता है। इसलिये हे मुनियों ! जो मैं कहता हूँ वही प्रत्यक्ष सत्य है। उसे अङ्गीकार करो। जो युक्ति से सिद्ध होता हो उसी को ग्रहण करना बुद्धिमानों का काम है। सर्वज्ञ नाम से प्रसिद्ध अरिहंत प्रभु मिथ्या बोलते ही नहीं है ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि महान् पुरुषों का भी कभी कभी स्खलित हो जाया करते हैं।"

जमालि के इस वक्तव्य को सुन कर मुनि बोले—"जमालि ! तुम यह विपरीत कथन क्यो करते हो ! राग-द्वेष से रहित अर्हत प्रभु कभी असत्य नहीं बोलते। उनकी वाणी मे प्रत्यक्ष तथा प्रमुख दोष का एक अंश भी नहीं होता। आध समय में यदि वस्तु निष्पन्न हुई न कहलाय तो समय के अवशेष पन से दूसरे समय में भी उसकी उत्पत्ति हुई ऐसा कैसे कहा जा सकता है। अर्थ और क्रिया का साधकपन वस्तु का लक्षण है। किसी को भी कोई कार्य्य करते हुए देख कर यदि हम उसे पूछें कि "क्या

कर रहे हो"। उसके उत्तर में यदि वह कहे कि "मैं अमुक वस्तु बना रहा हूँ" तो इसमें वह किसी प्रकार की भूल नहीं कर रहा है। क्योंकि उसके गर्भ में कार्य का साधन बना हुआ है।" तुम्हारे समान छद्मस्थ को युक्त और अयुक्त का पूर्ण ज्ञान कैसे हो सकता है। और तुमने यह कहा कि "महान् पुरुषों का भी स्खलन हो जाता है" सो तुम्हारा यह कथन बिल्कुल मत्त प्रमत्त और उन्मत्त के समान है। जो किया जा रहा हो उसे किया हुआ कह देना *"ऐसा जो सर्वज्ञ का कथन है वह बिल्कुल ठीक है।" इसके पश्चात् उनके आपस में और भी गर्मागर्म बहस हुई। अन्त में वे सब लोग जमालि को छोड़ कर श्रीवीर प्रभु के पास चले गये। प्रियदर्शना ने अपने परिवार सहित पूर्व स्नेह के कारण जमालि का पक्ष ग्रहण किया। जमालि कुछ दिनों पश्चात् उन्मत्त हो गया और वह साधारण लोगों में अपने मत का प्रचार करता हुआ घूमने लगा।

एक बार अपने ज्ञान के मद में मदोन्मत्त हो जमालि चम्पा-नगरी के समीपवर्त्ती पूर्णभद्र नाम के वन में गया। उस समय वहां पर प्रभु का समावशरण रचा हुआ था। वह समवशरण सभा में गया और बोला—"भगवन्! तुम्हारे बहुत से शिष्य केवल ज्ञान को पाये बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो गये। पर मैं ऐसा नहीं हूँ, मुझे तो केवल ज्ञान और केवल दर्शन अक्षत रूप मे प्राप्त हुए हैं। इससे मै भी इस पृथ्वी पर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी

---

* यह विषय बहुत गहरे तत्वज्ञान से सम्बन्ध रखता है। बहुत गम्भीर विचार और अध्ययन किये बिना इसका समझना कठिन है। किसी तर्कशास्त्र के पास जा कर इस विषय के जिज्ञासुओं को इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

अर्हन्त हूँ।" उसके इन मिथ्या वचनों को सुन गौतम स्वामी बोले "जमालि ! यदि तू सचमुच मे ज्ञानी है तो बतला कि जीव और लोक शाश्वत है या अशाश्वत ?" इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ जमालि कौवे के समान मुख पसार कर चुपचाप बैठा रहा। तब भगवान ने कहा—"जमालि, यह लोक भिन्न भिन्न तत्वों से शाश्वत और अशाश्वत है। उसी प्रकार जीव भी शाश्वत और अशाश्वत है। द्रव्य रूप से यह लोक और जीव दोनों शाश्वत अर्थात् अविनाशी हैं पर प्रतिक्षण बदलते हुए पर्याय के रूप से वे अशाश्वत और विनाशी हैं। जिस प्रकार एक घड़ा मिट्टी की अपेक्षा से अविनाशी और घड़े की पर्याय अवस्था से विनाशी है—उसी प्रकार लोक और जीव को समझना चाहिये।"

प्रभु के इस यथार्थ कथन को उसने सुना पर मिथ्यात्व के उदय से उसका ज्ञान नष्ट हो रहा था इसलिए वह इस पर कुछ ध्यान न दे समवशरण से बाहर चला गया। एक बार विहार करता हुआ जमालि "श्रावस्ती" नगरी में गया। प्रिय दर्शना भी एक हजार आर्जिकाओं के साथ वहीं "टक" नामक कुम्हार की शाला मे उतरी हुई थी। यह कुम्हार परम श्रावक था। उसने प्रियदर्शना को भ्रम में पडी हुई देख कर विचार किया "किसी भी उपाय से यदि मैं इसे ठीक रास्ते पर लगा दूँ तो बड़ा अच्छा हो।" यह सोच कर उसने एक समय वाड़े में से पात्रो को इकट्ठे करते समय एक जलता हुआ तिनका बहुत ही गुप्त रीति से प्रियदर्शना के कपड़ों में डाल दिया। कुछ समय पश्चात् वस्त्र को जलता हुआ देख प्रियदर्शना बोली "अरे ढंक देख तेरे प्रमाद से मेरा यह वस्त्र जल गया।" ढंक ने कहा—

"साध्वी ! तुम झूँठ मत बोलो। तुम्हारे मत के अनुसार जब सारा वस्त्र जल कर राख हो जाय तभी उसे "जला" ऐसा कह सकते हैं। जलते हुए को जल गया कहना यह तो श्री अर्हन्त का वचन है।" यह सुनते ही प्रियदर्शना को शुद्ध बुद्धि उत्पन्न हुई। उसी समय वह बोली "ढङ्क ! तेरा कहना यथार्थ है। चिरकाल से मेरी बुद्धि नष्ट हो रही थी। तैंने मुझे अच्छा बोध किया। अब मुझे अपने किये का बड़ा पश्चात्ताप है।" ढङ्क ने कहा—"साध्वी ! तुम्हारा हृदय शुद्ध और साफ है, तुम शीघ्र ही वीर प्रभु के पास जाकर इसका पश्चात्ताप कर लो।" यह सुन कर प्रियदर्शना जमालि का साथ छोड़ अपने परिवार सहित वीर प्रभु की शरण में आई। उसके साथ ही साथ जमालि के दूसरे शिष्य भी उसे छोड़ कर भगवान् की शरण में आ गये। केवल मिथ्यात्व से खदेड़ा हुआ, अकेला जमालि कई वर्षों तक पृथ्वी पर भ्रमण करता रहा। अन्त में एक बार पन्द्रह दिन का अनशन कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

उस समय गौतम प्रभु ने भगवान् से पूछा—"हे प्रभु ! जमालि कौन सी गति में गया ?" वीर प्रभु ने कहा—"गौतम ! तपोधन जमालि लातङ्क देवलोक में किल्विषिक देवता हुआ है। वहाँ से भयंकर पांच २ भव नरक, तिर्यंच, और मनुष्य गति में भ्रमण करके निर्वाण को प्राप्त होगा। जो लोग धर्माचार्य्य का विरोध करते हैं उनकी ऐसी ही गति होती है।" इस प्रकार उपदेश देकर प्रभु ने वहाँ से अन्यत्र विहार किया।

उस समय अवन्ति नगरी में परम पराक्रमी राजा चण्ड-प्रद्योत राज्य करता था, वह सुन्दर स्त्रियों का बड़ा लोलुपी था।

एक दिन वह अपने सामन्तो के साथ राज सभा मे बैठा था। उस समय एक प्रसिद्ध चित्रकार ने राजसभा मे प्रवेश कर उसका अभिवादन किया। और उपहार स्वरूप एक बड़ी सुन्दर रमणी का मनोहर चित्र उसको भेंट किया। उस चित्र को देखते ही राजा चण्डप्रद्योत ने कहा—"कुशल चित्रकार। तेरा चित्र-कौशल सचमुच विधाता के समान है। ऐसा स्वरूप मानव लोक के अन्तर्गत कभी देखने मे न आया, इसलिए तेरी की हुई इस चित्र कल्पना को धन्य है, यह सुन चित्रकार ने कहा:—

"राजन्! यह केवल कल्पना ही नहीं है। इस चित्र में उल्लिखित रमणी इस समय भी कौशाम्बी के राजा शतानिक के अन्तपुर में विद्यमान हैं। इसका नाम मृगावती है। यह मृगाक्षी राजा शतानिक की पटरानी है उसका यथार्थ रूप चित्रित करने मे तो विश्वकर्म्मा भी असमर्थ हैं। मैंने तो उस रूप का किञ्चित आभास मात्र इस चित्र में अंकित किया है। उसका वास्तविक रूप तो वाणी के भी अगोचर है।"

इस बात को सुनते ही रमणी लोलुप चण्डप्रद्योत कामान्ध हो गया। उस समय वह नीति और अनीति के विचार को बिलकुल भूल गया। उसने उसी समय कहा कि—"मृग को देखते हुए सिंह जिस प्रकार मृगी को पकड़ लेता है, उसी प्रकार शतानिक के देखते देखते मैं मृगावती को ग्रहण कर लूँगा।" ऐसा विचार कर उसने पहले एक दूत को राजा शतानिक के समीप भेजा। उस दूत ने शतानिक को जाकर कहा—"हे शता-निक राजा! अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत तुम्हे आज्ञा करता है कि मृगावती के समान रत्न-जो कि दैव योग से तुम्हारे समान

अयोग्य के हाथ में आ पड़ा है इसको रखने का तुम्हे कोई अधिकार नहीं है, इसलिए यदि तुम्हे अपना राज्य एवं प्राण प्रिय है तो तुरन्त उसे मेरे अन्तः पुर में भेज दो।"

दूत के इन भयङ्कर वचनों को सुन कर राजा शतानिक क्रोध से अधीर हो उठा। उसने कहा—"अरे अधम दूत! तेरे मुख से इस प्रकार की वातें सुन मैं अवश्य तुझे भयङ्कर दण्ड देता, पर तू दूत है और दूत को मारना राजनीति के विरुद्ध है, इस लिए मैं तुझे छोड़ देता हूँ। तू उस अधम राजा को कह देना कि शतानिक तुम्हारे समान चाण्डालो से नहीं डरता"। इस प्रकार कह कर उसने तिरस्कार पूर्वक दूत को वहाँ से निकाल दिया। इसने वे सव बातें अवन्ति (उज्जैनी) आ कर राजा चण्डप्रद्योत से कहीं, जिन्हे सुन कर वह अत्यन्त क्रोधित हो उठा। उसने उसी समय अपनी असंख्य सेना को कौशाम्बी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी और स्वयं भी उसके साथ चला। इधर अपने को चण्डप्रद्योत का सामना करने में असमर्थ समझ शतानिक अत्यन्त दुखी हुआ, यहां तक कि इस दुख के मारे उसके प्राण भी निकल गये।

ऐसे निकट समय में मृगावती की जो स्थिति हुई उसे वतलाना अशक्य है। पर फिर भी एक वीर स्त्री की तरह उसने सोचा कि मेरे पति की तो मृत्यु हो गई और "उदयन कुमार" अभी तक वालक ही है। ऐसे विकट समय मे बिना किसी प्रकार का कपट जाल रचे काम नहीं चल सकता। यह सोच उसनें एक दूत को चण्डप्रद्योत के पास भेज कर यह कहलाया "मेरे पति तो स्वर्ग चले गये, इसलिए अब तो मुझे आप ही

भगवान महावीरको मौन धारण करते देख उस ग्वालेने क्रोधित होकर उनके कानोंमें शरंग वृक्षकी कील ठोक दी।

Blocks & Printing by the Bani Pre , Cal

की शरण है। पर इस समय मेरा पुत्र बिलकुल बलहीन बालक है, इससे यदि मैं इसके हाथ राज्य भार दे चली जाऊँ तो निश्चय है कि आसपास के राजा इसका पराभव कर सारा राज्य हड़प जायँगे। यद्यपि आप के सम्मुख कोई राजा ऐसा साहस नहीं कर सकता, पर आप हमेशा तो यहां रहेंगे ही नहीं, रहेंगे सु दूरवर्ती उज्जयिनी नगरी में। ऐसी हालत में "सांप तो सिर पर और बूटी पहाड़ पर" वाली कहावत चरितार्थ होगी, इसलिये यदि आप उज्जियिनी से इटे मँगवा कर कौशाम्बी के चारों तरफ़ एक मजबूत किला बधवा दें तो फिर मुझे आपके साथ चलने में कोई आपत्ति न रह जाय।"

यह सुनते ही राजा चण्डप्रद्योत ने हर्षित चित्त से उसी समय किला बंधवाने की आज्ञा दे दी। भारी आयोजन के साथ किला बाँधना शुरू हो गया, कुछ दिन बीतने पर क़िला बिल्कुल तैयार हो गया,।" उसके—पश्चात् मृगावती ने दूसरा दूत भेज कर प्रद्योत से कहलाया—"राजन्! अब तुम अन्न, धान्य, और इंधनादिक से नगरी को भरपूर कर दो, काम लोलुप चण्डप्रद्योत इतने पर भी मृगावती का मतलब न समझा और उसने बहुत शीघ्र उसकी आज्ञानुसार सब काम करवा दिया।

इतना सब हो जाने पर मृगावती ने चतुराई के साथ नगर के सब दरवाजों को बन्द करवा दिये। और किले पर अपनी सेना के बहादुर सुभटों को चुन कर चढ़ा दिये। अब तो चण्ड-प्रद्योत राजा शाखा भ्रष्ट बन्दर की तरह नगरी को घेर कर बैठ गया। वह हत बुद्धि हो मृगावती की बुद्धि पर आश्चर्य करने लगा।

एक दिन मृगावती के हृदय में संसार के प्रति बड़ा वैराग्य हो आया, उसने सोचा कि यदि वीर प्रभु मेरे भाग्य से इधर पधार जांय तो मैं उनके समीप जाकर दीक्षा ले लूँ। भगवान् महावीर ने ज्ञान के द्वारा मृगावती का यह संकल्प जान लिया और वे तत्काल उसकी मनोवांछा पूर्ण करने के निमित्त वहां पधारे। प्रभु के आने का समाचार सुन मृगावती तत्काल नगर का द्वार खोल भगवान् की वन्दना करने को समवशरण में गई! राजा चण्डप्रद्योत भी वीर प्रभु का भक्त था, अतएव वह भी पारस्परिक शत्रुता को भूल कर प्रभु की वन्दना को गया। तब प्रभु ने अपना सार्वभाषिक उपदेश प्रारम्भ किया।

उपदेश समाप्त होने पर मृगावती ने प्रभु को नमस्कार कर कहा कि—चण्डप्रद्योत राजा की आज्ञा लेकर मै दीक्षा ग्रहण करूंगी। पश्चात् चण्डप्रद्योत के पास जाकर उसने कहा—यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं दीक्षा ग्रहण कर लू। क्योंकि मुझे संसार से अब घृणा हो गई है।" प्रभु के प्रभाव से चण्डप्रद्योत का वैर तो शान्त हो ही गया था, इस लिए उसने मृगावती के पुत्र "उदयन" को तो कौशाम्बी का राजा बना दिया, और मृगावती को दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा दी। मृगावती के साथ साथ चण्डप्रद्योत की अङ्गारवती आदि आठ रानियो ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

यहां से विहार कर सुरासुरों से सेवित महावीर प्रभु वाणिज-ग्राम नामक प्रसिद्ध नगर में पधारे। उस नगर के पुतिपलाश नामक उद्यान मे देवताओ ने समवशरण की रचना की। उस नगर में पितृवत् प्रजा का पालन करने वाला जितशत्रु नामक

राजा राज्य करता था। और "आनन्द" नामक गृहपति वहां का नगर श्रेष्टि था, उसके "शिवानन्दा" नामक परम रुपवती पत्नी थी, वह बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी था। वीर प्रभु को वहां पधारे हुए जान वह हर्षोत्फुल्ल हो उनकी वंदना करने को गया, और उपदेश श्रवण किये, पश्चात उसने बारह प्रकार के गृहस्थ धर्मों को अङ्गीकार किया। उसके गये पश्चात् उसकी स्त्री शिवानन्दा ने भी आकर इन्हीं बारह धर्मों को ग्रहण किया। इसके पश्चात् प्रभु ने चम्पा नामक नगरी में कुलपतिनामक गृहस्थ को उसकी भद्रा नामक पत्नी सहित और काशी नगरी में चुलनीपिता नामक गृहस्थ को उसकी श्यामा नामक स्त्री सहित श्रावक धर्म में दीक्षित किये। ये दोनों गृहस्थ क्रम से अठारह करोड़ और चौबीस करोड़ स्वर्ण मुद्राओं के अधिपति थे। तदनन्तर काशी में सुरादेव को, आलम्भिका में चुल्लशतक को काम्पील्य-पुर मे कुण्डकोलिक को गृहस्थ धर्म मे दीक्षित किया ये सब लोग असंख्य सम्पत्ति के मालिक थे।

पलाशपुर नामक नगर में शब्दालपुत्र नामक एक कुम्हार रहता था। यह कुम्हार आजीविक—सम्प्रदाय के संस्थापक "गौशाला" का अनुयायी था। उसके अग्निमित्रा नामक स्त्री थी। यह तीन करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी था। पलाशपुर के बाहर इसकी मिट्टी के बर्तनों का बेंचने की पांच सौ दुकानें चलती थीं। एक दिन किसी ने आकर उससे कहा कि कल प्रातः काल महाब्रह्म त्रैलोक्य पूजितसर्वज्ञ प्रभु यहाँ पर पधारेंगे। शब्दाल-पुत्र ने इससे यह समझा कि जरूर इसने यह कथन मेरे धर्म गुरु गौशाला के विषय में किया है। यह बात सुन वह दूसरे

दिन प्रभु के समवशरण में गया। प्रभु ने दर्शन दिये के पश्चात् कहा—हे शब्दालपुत्र ! कल किसी ने आकर तुझे कहा था कि "कल प्रातःकाल सर्वज्ञ प्रभु यहां पर आएंगे, इस पर तेने गौशाला के आने का अनुमान किया था, ।" यह सुन उस कुम्हार ने सोचा कि "अहो, ये तो सर्वज्ञ महाब्राह्मण अर्हन्त श्रीवीर प्रभु हैं। ऐसा सोच उसने पुनः उनको नमस्कार किया। पश्चात प्रभु ने बड़े ही मधुर शब्दों में उसे "नियतिवाद" की कमजोरियां बतला कर उसे अपना अनुयायी बना लिया। उसने उसी समय प्रभु से श्रावकधर्म को ग्रहण किया।

जब गौशाला ने यह घटना सुनी तो वह शब्दालपुत्र को पुनः अपने मत में मिलाने के निमित्त वहां आया। पर जब शब्दालपुत्र ने उसे दृष्टि से भी मान न दिया तो लाचार होकर वह वहां से वापस चला गया।

यहां से चल कर प्रभु राजगृह नगर के बाहर स्थित गुणशील नामक चैत्य में पधारे ! उस नगर मे "महाशतक" नामक चौबीस करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का अधिपति एक सेठ रहता था, उसके रेवती वगैरह तेरह रानियां थीं। इन सबो ने भगवान् महावीर से श्रावक धर्म ग्रहण किया। वहां से विहार कर प्रभु श्रावस्ती पुरी में आये, वहां पर नन्दिनीयिता नामक एक गृहस्थ रहता था। इसके "आश्विनी" नामक स्त्री थी। यह बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का अधिपति था। इसको भी श्री वीर प्रभु ने सकुटुम्ब श्रावक धर्म में दीक्षित किया। इस प्रकार प्रभु के दस "मुख्य श्रावक" हो गये।

कई स्थानों पर भ्रमण करते हुए प्रभु एक बार पुनः श्रावस्ती-

पुरी में आये। वहां के कोष्ठक नामक उद्यान में देवताओं ने उनका समवशरण बनाया। इसी स्थान पर "तेजोलेश्या" के बल से अपने विरोधियों का नाश करने वाला "अष्टांगनिमित्त" के ज्ञान से लोगों के मन की बातें कहने वाला और अपने आपको "जिन" कहने वाला गोशाला पहले ही से आया हुआ था। यह "हालाहला" नामक किसी कुम्हार की दुकान में उतरा था। अर्हन्त के समान उसकी ख्याति को सुन कर सैकड़ो मुग्ध लोग उसके पास आते और उसके मत को ग्रहण करते थे। एक बार जब गौतमस्वामी प्रभु की आज्ञा से अहार लेने के निमित्त नगर में गये तब वहां उन्होंने सुना कि "यहां पर गोशाला अर्हन्त और सर्वज्ञ के नाम से विख्यात् होकर आया हुआ है। इस बात को सुन कर गौतमस्वामी खेद पाते हुए प्रभु के पास आये। उन्होंने सब लोगों के सम्मुख स्वच्छ बुद्धि से पूछा भगवन्! इस नगरी के लोग गोशाला को सर्वज्ञ कहते हैं। क्या यह बात सत्य है? "प्रभु ने कहा" मंखली का पुत्र गोशाला है। अजिन होते हुए भी यह अपने को जिन मानता है। गौतम! मैंने ही उसको दीक्षा दी है। शिक्षा भी इसको मैंने ही दी है। पर पीछे से मिथ्यात्वी होकर यह मुझ से अलग हो गया है। यह सर्वज्ञ नहीं है।

एक बार प्रभु के शिष्य श्री "आनन्द मुनि" आहार लेने के निमित्त नगरी में गये, मार्ग में उन्हें गोशाला ने बुला कर कहा— "अरे आनन्द! तेरा धर्माचार्य्य लोगों में अपना सत्कार करवाने की इच्छा से सभा के बीच में अपनी प्रशंसा और मेरी निन्दा करता है और कहता है कि यह गोशाला मंखली पुत्र है।

अर्हन्त तथा सर्वज्ञ नहीं। पर वह अब तक शत्रु के दहन करने में समर्थ मेरी तेजोलेश्या को नहीं जानता है। तू निश्चय रख मैं उसे परिवार समेत नष्ट कर दूंगा। हां यदि तैने मेरा विरोध न किया तो तुझे छोड़ दूंगा।

आनन्द मुनि ने यह बात प्रभु के आगे आकर कही। फिर उन्होंने शङ्कित होकर पूछा "स्वामी! गौशाला ने भस्म कर देने की बात कही है। वह वास्तविक है या उसका प्रलाप मात्र है? प्रभु ने कहा—"अर्हन्त के सिवाय दूसरे को भस्म कर देने मे वह समर्थ है। इसलिये आनन्द! तू गौतम वगैरह सब मुनियों को जाकर कहदे कि उसके साथ कोई भाषण न करे।" आनन्द मुनि ने सब लोगों को यह बात जाकर कह दी। इतने ही मे गौशाला वहाँ आया और उसने प्रभु को देख कर कहा—"ओ काश्यप! तू मुझे मंखली पुत्र और अपना शिष्य बतलाता है। यह बिल्कुल मिथ्या है। क्योंकि तेरा शिष्य गौशाला तो शुक्कुल का था। वह तो धर्म ध्यान से मृत्यु पाकर देवगति में उत्पन्न हो गया है उसके शरीर को उपसर्ग और परिषह सहने में समर्थ जान—मैंने अपनी आत्मा को अपने शरीर से निकाल कर उसमें डाल दिया है। मेरा नाम तो "उदाय मुनि" है। मुझे बिना जाने ही तू अपना शिष्य किस प्रकार कहता है? महावीर ने कहा—"पुलिस की निगाह में पड़ा हुआ चोर कहीं छिपने का स्थान न पाकर जिस प्रकार रुई, सन, या ऊन से ही अपने शरीर को ढंकने की चेष्टा करता है उसी प्रकार तू भी क्यों असत्य बोल कर अपने को धोखा देता है।" प्रभु के इन वचनों को सुन गौशाला बोला "अरे काश्यप! आज तू

भ्रष्ट हो जायगा, नष्ट हो जायगा।" उसके इन वचनों को सुन कर प्रभु के शिष्य सर्वानुभूति मुनि अपने को न सम्हाल सके। वे बोले-"अरे गौशाला। जिस गुरु ने तुझे दीक्षा और शिक्षा दी, उसी का तू इस प्रकार तिरस्कार कैसे करता है।" यह सुनते ही क्रोधित हो गौशाला ने दृष्टि विष 'सर्प की ज्वाला की तरह उन पर तेजोलेश्या का प्रहार किया। सर्वानुभूति मुनि उस ज्वाला से दग्ध होकर शुभ ध्यान मे मरण पा स्वर्ग गये। अपनी लेश्या की शक्ति से गर्वित होकर गौशाला फिर प्रभु का तिरस्कार करने लगा। तब सुनक्षत्र नामक शिष्य ने प्रभु की निन्दा से क्रोधित हो गौशाला को कठोर वचन कहे। गौशाला ने उन्हें भी सर्वानुभूति की तरह भस्म कर डाला। इस से और भी गर्वित हो वह प्रभु को कटुक्तिया कहने लगा।

तब प्रभु ने अत्यन्त शान्ति पूर्वक कहा—"गौशाला! मैंने ही तुझे शिक्षा और दीक्षा देकर शास्त्र का पात्र किया है। और मेरे ही प्रति तू ऐसे शब्द बोल रहा है। यह क्या तुझे योग्य है।" इन वचनों से अत्यन्त क्रोधित हो गौशाला ने कुछ समीप आ प्रभु पर भी तेजोलेश्या का प्रहार किया। पर जिस प्रकार भयङ्कर ववण्डर पर्वत से टकरा कर वापस लौट जाता है, उसी प्रकार वह लेश्या भी प्रभु को भस्म करने में असमर्थ हो वापस लौट गई। और फिर अकार्य प्रेरित करने से क्रोधित हो उसने वापस गौशाला के ही शरीर पर प्रहार किया। जिससे गौशाला का सारा शरीर अन्दर से जलने लगा। पर जलते जलते भी ढीठ हो कर उसने प्रभु से कहा—"अरे काश्यप! मेरी तेजोलेश्या के प्रभाव से इस समय तू बच गया है। पर इससे उत्पन्न हुए

पित्तज्वर के कारण आज से छः मास के पश्चात् तू छद्मस्थ अवस्था मे ही मर जायगा।" महावीर ने कहा—गोशाला! तेरा यह कथन व्यर्थ है। मैं तो अभी इसी कैवल्य अवस्था में सोलह वर्ष तक और विहार करूगा पर तू आज से सातवें दिन तेरी तेजोलेश्या से उत्पन्न हुए पित्तज्वर के कारण मृत्यु को प्राप्त होगा।" फिर कुछ समय के पश्चात् तेजोलेश्या की भयङ्कर जलन से पीड़ित हो गोशाला वहीं पड़ गया। तब अपने गुरु की अवज्ञा से क्रोधित हुए गौतम वगैरह मुनि उससे कहने लगे—"अरे मूर्ख! जो कोई अपने धर्म्माचार्य्य के प्रतिकूल होता है, उसकी ऐसी ही दशा होती है। तेरी धर्म्माचार्य पर फेंकी हुई वह तेजोलेश्या कहां गई?" उस समय गोशाला ने गड्ढे में पड़े हुए सिंह की तरह अत्यन्त क्रोधित दृष्टि से उनकी ओर देखा। पर अपने आप को असमर्थ देख वह क्रोध के मारे उछाले मारने लगा और फिर अत्यन्त कष्ट पूर्वक उठ कर हाय हाय करता हुआ वह अपने स्थान पर गया।

छः दिन व्यतीत होने पर जब सातवे दिन उसका अन्त समय उपस्थित हुआ तो उसको सत्य ज्ञान का उदय हुआ। उसका हृदय पश्चाताप की अग्नि में भस्म होने लगा। तब उसने अपने सब शिष्यों को बुला कर कहा "हे शिष्यों! सुनो मैं अर्हन्त नहीं—केवली नहीं—मैं वीर प्रभु का शिष्य मंखली पुत्र गोशाला हूँ। आश्रय को ही भक्षण करनेवाली अग्नि के समान मैं श्री गुरु का प्रतिद्वन्दी हुआ हूँ। इतने काल तक दम्भ के मारे मैंने अपनी आत्मा और संसार को धोखा दिया है, इसके लिए तुम मुझे क्षमा करना" ऐसा कह कर वह मृत्यु पा स्वर्गलोक को गया।

अनुक्रम से विहार करते करते प्रभु "पोतनपुर" पधारे। इस नगर के समीपवर्ती मनोरम नामक उद्यान में देवताओं ने समवशरण की रचना की। वहां का राजा प्रसन्नचन्द्र उसी समय प्रभु की वन्दना करने के निमित्त आया। प्रभु की देशना सुन उसको उसी समय संसार के प्रति वैराग्य हो आया, तब अपने पुत्र को राज्य का भार दे उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। उग्र तपस्या करते हुए राजर्षि प्रसन्नचन्द्र भगवान् के साथ विहार करने लगे कुछ समय पश्चात् भगवान् महावीर के साथ वे राजगृही नामक नगरी में आये यह सुनते ही कि भगवान् महावीर राजगृह के समीपवर्ती वन में आये हुए हैं। राजा श्रेणिक अत्यन्त उत्कण्ठित चित्त से ,अपने परिवार के साथ उनकी वन्दना करने गया। उसकी सेना के आगे चलने वाले सुमुख और दुर्मुख दो सेनापति मिथ्यादृष्टि थे। वे आपस में कई प्रकार की बातें करते हुए जा रहे थे, मार्ग में उनको प्रसन्न-चन्द्र मुनि दिखलाई दिये। वे एक पैर से खड़े होकर ऊंचे हाथ किये हुए आतापना कर रहे थे! उनको देख कर सुमुख बोला। "ऐसी आतापना करने वाले मुनि के लिए स्वर्ग और मोक्ष कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं।" यह सुन कर दुर्मुख बोला "अरे यह तो पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र है, इसने अपने छोटे से लड़के को इतना बड़ा राज्य देकर उसके प्राणों पर कैसी विपत्ति खड़ी कर दी है। उसके मंत्री अब चम्पानगरी के राजा दधिवाहन से मिल कर उस लड़के को राजभ्रष्ट करने की कोशिश में लगे हुए हैं। इसी प्रकार इसकी पत्नियां भी कहीं चली गई हैं। यह कोई धर्म है। प्रसन्नचन्द्र के ध्यान-रूपी पर्वत पर इन वचनों ने वज्र

का काम किया। वे सोचने लगे—"मेरे उन अकृतज्ञ मंत्रियों को धिक्कार है। आज तक मैंने उनके आदर में किसी प्रकार की कमी नहीं की, इस कृतज्ञता का उन्होंने यही बदला दिया। यदि इस समय में वहां होता तो उनको अत्यन्त कठिन सज़ा देता।" ऐसे संकल्प विकल्पों से व्याकुल होकर प्रसन्नचन्द्र मुनि अपने ग्रहण किये हुए व्रत को भूल गये। और अपने को राजा ही समझ कर वे मन ही मन मंत्रियों के साथ युद्ध करके लगे। इतने में श्रेणिक राजा वहां आया और उसने विनय पूर्वक उनकी वन्दना की, वहां से चल कर वह वीर प्रभु के समीप आया और वन्दना कर उसने पूछा "हे प्रभु मैंने प्रसन्नचन्द्र मुनि को—उनकी पूर्ण ध्यानावस्था में वन्दना की है। भगवन्! मैं यह जानना चाहता हूँ कि यदि वे उसी स्थिति में मृत्यु को प्राप्त हो तो कौनसी गति में जायगे। प्रभु ने कहा "सातवें नरक में जायंगे" यह सुन कर श्रेणिक बड़े विचार मे पड़ गया, क्योंकि उसे यह मालूम था कि मुनि नरक गामी नहीं होते, अतएव उसे अपने कानों पर विश्वास न हुआ और उसने फिर दूसरी बार पूछा "भगवन्! यदि प्रसन्नचन्द्र मुनि इस समय मृत्यु पा जायं तो कौनसी गति में जायंगे।" प्रभु ने कहा—सर्वार्थ सिद्धि विमान में जायगे।

श्रेणिक ने पूछा भगवन् आपने एक ही क्षण के अन्तर पर दो बातें एक दूसरी से विपरीत कहीं इसका क्या कारण है।

प्रभु ने कहा—ध्यान के भेद में प्रसन्नचन्द्र मुनि की अवस्था दो प्रकार की हो गई है। इसी से मैंने ऐसी बात कही है। पहले दुर्मुख के वचनों से प्रसन्नमुनि अत्यन्त क्रोधित हो गये थे। और अपने मन्त्रियो और सामन्तो से मन ही मन युद्ध

कर रहे थे। उसी समय तुमने उनकी वन्दना की थी, इससे उस समय उनकी स्थिति नरक गति के योग्य थी। उसके पश्चात् वहाँ से तुम्हारे आने पर उन्होंने मन में विचार किया कि अब तो मेरे सब आयुध व्यतीत हो चुके हैं। इसलिये अब मैं शिरस्त्राण ही से शत्रु को मारूँगा। "ऐसा सोच उन्होंने अपना हाथ शिर पर रक्खा। वहां अपने लोच किये हुए नगे शिर को देख कर उन्हें तत्काल अपने वृत्त का स्मरण हो आया, जिस से तत्काल उन्हे अपने किये का भयङ्कर पश्चाताप हुआ। अपने इस कृत्य की खूब आलोचना कर फिर ध्यानमग्न हो गये उसी समय तुमने यह दूसरा प्रश्न किया। और इसी कारण मैंने तुम्हारे दूसरे प्रश्न का दूसरा उत्तर दिया।"

इस प्रकार की बात चल रही थी कि इतने में प्रसन्नचन्द्र मुनि के समीप देव दुन्दुभि वगैरह का कोलाहल होने लगा। उसको सुन कर श्रेणिक ने प्रभु से पूछा—

श्रेणिक—स्वामी यह क्या हुआ ?

प्रभु—"ने कहा ध्यान में स्थिर प्रसन्नचन्द्र मुनि को इसी क्षण केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई है। देवता उसी केवल ज्ञान की महिमा कर रहे हैं।"

"तदन्तर श्रेणिक ने पूछा—भगवन् ! अगले जन्म में मेरी क्या गति होवेगी ?"

महावीर ने उत्तर दिया—"श्रेणिक यहां से मृत्यु पाकर तू पहले नरक को जायगा। और वहाँ अपनी अवधि को पूरी कर तू इसी भरत-क्षेत्र की अगली चौबीसी में "पद्मनाथ" नाम का पहला तीर्थ-कर होगा—

श्रेणिक ने तब प्रभु को नमस्कार कर कहा—भगवन्! आपके समान जगदुद्धारक स्वामी के होते हुए भी मेरी गति नरक मे क्यों कर होगी ?"

"वीर प्रभु ने कहा—राजन् तेने पूर्व में नरक का आयु उपार्जन कर रक्खा है इस लिये तू अवश्य नरक में जायगा। क्योंकि पूर्व के बँधे हुए शुभ और अशुभ कर्म के फल अवश्य भोगने ही पड़ते हैं उसको कोई अन्यथा नहीं कर सकता।"

श्रेणिक ने कहा—हे नाथ! क्या कोई ऐसा भी उपाय है जिससे इस भयङ्कर गति से मेरी रक्षा हो जाय!"

प्रभु ने कहा—हे राजन्। यदि तू तेरे नगर में बसने वाली कपिला ब्राह्मणी के पास से सहर्ष साधुओं को भिक्षा दिला दे और "कालसौकरिक" नामक कसाई से जीवहिंसा छुड़वा,दे तो नरक से तेरा छुटकारा हो सकता है, अन्यथा नहीं।" इस प्रकार प्रभु के वचनों को हृदय में धारण कर राजा श्रेणिक अपने स्थान पर गया।

श्रेणिक ने वहाँ जाकर पहिले कपिला ब्राह्मणी को बुलवाई और कहा—"भद्रे तू श्रद्धापूर्वक साधुओं को भिक्षा दे, मैं तुझे धन और सम्पत्ति से निहाल कर दूंगा।"

कपिला ने कहा—यदि तुम मुझे सोने मे भी गाड़ दो या सारा राज्य ही मेरे सुपुर्द कर दो, तो भी मैं यह अकृत्य कदापि नहीं कर सकती।"

तत्पश्चात् राजा ने "कालसोकरिक" को बुलाया और कहा-यदि तू इस कसाई के धन्धे को छोड़ दे तो मैं तुझे बहुत सा द्रव्य देकर निहाल कर दूं। तुझे इसमें कुछ हानि भी नहीं, क्योंकि द्रव्य की ही इच्छा से तो तू यह कार्य्य करता है।"

"कालसौकरिक" ने कहा—इस काम में क्या दोष है ? जिससे अनेक मनुष्यो के जीवन की रक्षा होती हैं, ऐसे कसाई के धन्धे को मैं कदापि नहीं छोड़ सकता। "यह सुन करके क्रोधित हो राजा ने कहा:-देखें तू अब किस प्रकार यह धन्धा कर लेता है ? यह कह कर श्रेणिक ने उसे अन्धेरे कूप मे क़ैद कर दिया।" तत्पश्चात् वीर प्रभु के पास आकर उसने कहा—

श्रेणिक-भगवन् मैंने "कालसौकरिक" से एक दिन और रात्रि के लिये कसाई का काम छुड़वा दिया है।" यह सुन कर प्रभु ने कहा—

प्रभु-हे राजन्! उसने उस अन्ध कूप में भी पांच सौ भैंसे मिट्टी के बना बना कर मारे है।" उसी समय श्रेणिक राजा ने वहां जाकर देखा तो सचमुच उसे वही दृश्य दिखलाई दिया। उससे उसे बड़ा अनुताप हुआ और वह अपने पूर्व उपार्जित कर्मों को धिक्कारने लगा।"

श्रीवीर प्रभु वहाँ से विहार कर पृष्ट चम्पा नगरी को पधारे। वहाँ के राजा "साल" और उनके लघु भ्राता "महासाल" प्रभु की वन्दना करने के निमित्त वहां आये। प्रभु की देशना सुन कर उन्हें संसार से वैराग्य हो आया। इससे उन्होंने अपनी बहन यशोमती के पुत्र "गागली" को राज्य का भार दे दीक्षा ग्रहण करली। कुछ दिनों पश्चात् वीर प्रभु को आज्ञा ले साल और महा-साल के साथ गौतम स्वामी पुनः पृष्ठ चम्पा को गये। वहां के राजा गागली ने उनकी देशना सुन कर, अपने पुत्र को राज्य गद्दी दे दीक्षा ग्रहण कर ली। गौतम स्वामी तब वहाँ से चलकर वीर प्रभु के पास आने लगे, मार्ग ही मे शुभ भावनाओं

के कारण साल, महासाल, गागली आदि को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। जब वे लोग प्रभु के पास गये तो प्रभु को प्रदक्षिणा दे; गौतम स्वामी को प्रणाम कर और तीर्थ को नमस्कर पर्षदा में जाने लगे। तब गौतम स्वामी ने उनको कहा—प्रभु की वन्दना करो। प्रभु ने कहा—गौतम। केवली की आशातना मत करो। तत्काल गौतम ने अपने किये का पश्चाताप कर उनसे क्षमा मांगी।

पश्चात् गौतम दुखी होकर सोचने लगे—क्या मुझे केवल ज्ञान प्राप्त न होगा, क्या मैं इस भव में सिद्ध न हो सकूंगा?" वे ऐसा विचार कर ही रहे थे कि वीर प्रभु ने अपनी देशना में कहा कि जो अपनी लब्धि के द्वारा अष्टापद पर जाकर एक रात्रि वहाँ रहे, वह इसी भव में सिद्धि को प्राप्त हो।" यह सुनते ही गौतम स्वामी प्रभु की आज्ञा लेकर वहाँ जाने के लिए निकल पड़े। वहाँ की यात्रा कर जब वे वापिस लौट रहे थे तब मार्ग में पाँच सौ मुनि उनको मिले उन सबों ने गौतम स्वामी के शिष्य होना चाहा। पर गौतम ने कहा कि—सर्वज्ञ परमेश्वर जो भगवान् महावीर हैं वे ही तुम्हारे गुरु हो ओ। यह सुन उन मुनियों ने सोचा कि "जगद्गुरु श्री वीर परमात्मा हमें गुरु रूप में मिले हैं, इसी प्रकार पिता के समान ये मुनि हमें बोध करने के लिये मिले हैं सचमुच हम बड़े पुण्यवान हैं।" इस प्रकार शुभ भावनाओं का उदय होने से उन पाँच सौं ही मुनियों को कैवल्य की प्राप्ति हो गई। समवशरण में आकर वे वीर-प्रभु की प्रदक्षिणा कर केवलियों की सभा की ओर चले। यह देख गौतम स्वामी बोले "वीर प्रभु की वन्दना करो।" यह सुन प्रभु

ने कहा—गौतम केवली की आशातना मत करो।" यह सुन गौतम ने उनसे भी इसके लिए क्षमा मांगी।

गौतम फिर सोचने लगे—"अवश्य मैं इस भव में सिद्धि न पा सकूंगा। क्योंकि मैं गुरु कर्मी हूँ। इन महात्माओं को धन्य है जिनको कि क्षणमात्र में कैल्य प्राप्ति हो गई।" गौतम के मन की स्थिति को अपने ज्ञान द्वारा जान कर प्रभु ने उससे कहा गौतम्! तीर्थंकरों का वचन सत्य होता है अथवा देवता का? गौतम ने कहा–तीर्थंकर का।

प्रभु ने कहा–तब अधीर मत हो, स्त्रिओं, शिष्यों पर गुरु का स्नेह द्विदल (वह अन्न जिसकी दाल बनती है) के ऊपर के तृण के समान होता है। जो कि तत्काल दूर हो जाता है। पर गुरु पर शिष्य का स्नेह ऊन की चटाई के समान दृढ़ होता है। चिरकाल के संसर्ग से हमारे पर तुम्हारा स्नेह बहुत दृढ़ हो गया है। यह स्नेह का जब अभाव होगा तभी तुम्हें कैवल्य की प्राप्ति होगी।

राजगृह नगर के समीप वर्ती "शालि" नामक ग्राम में धन्या नामक एक स्त्री आकर रही थी, उसकी सारी सम्पत्ति और वंश नष्ट हो गया था। केवल सङ्गमक नामक एक पुत्र बचा हुआ था। उसको साथ लेकर वह वहां रहती थीं। सङ्गमक वहाँ के निवासियों के बछड़ों को चराता था। एक बार किसी पर्वोत्सव का दिन आया। घर घर खीर खाण्ड के भोजन बनने लगे, संगमक ने भी इस प्रकार का भोजन बनाते हुए देखा। उन भोजनों को देख कर उसकी इच्छा भी खीर खाने की हुई तब उसने घर जाकर अपनी दीन-माता से खीर बनाने

के लिये कहा। वह बोली पुत्र ! मैं दरिद्री हूँ, मैं खीर के पैसे कहां से लाऊँ ?" पर जब बालक ने हठ पकड़ ली तब धन्या अपनी पूर्व स्मृति को स्मरण करके रोने लगी। उसको रुदन करते देख उसकी पड़ोसियों ने इसका कारण पूछा। धन्या ने गद्गद स्वर से अपने दुख का कारण कहा। तब सबों ने मिल कर दयार्द्र हो उसको दूध वगैरह सामान ला दिया। सब सामान पाकर धन्या ने खीर बनाई और एक थाली में परोस वह किसी गृह कार्य्य में संलग्न हो गई। इसी समय कोई मास क्षपण धारी मुनिराज उधर आहार लेने के निमित्त निकले। उन्हे देखते ही सङ्गमक के हृदय में भक्ति का उद्रेक हो आया और उसने वह खीर स्वयं न खा, मुनि को खिला दी। कुछ समय पश्चात् जब उसकी माता आई और उसने पुत्र की थाली मे खीर न देखी तो उसने और बहुत सी खीर उसकी थाली मे परोस दी। अतृप्त सङ्गमक ने उस खीर को कण्ठ तक खाया, जिससे उसे भयङ्कर अजीर्ण हो गया। और वह उस रोग से उसी रात को उन मुनि का स्मरण करते करते परलोक गामी हो गया।

मुनि दान के प्रभाव से सङ्गमक का जीव राजगृह नगर मे गोभद्र सेठ की भद्रा नामक स्त्री के उदर मे अवतरित हुआ। भद्रा ने स्वप्न में पका हुआ शालि-क्षेत्र देखा, उसने वह बात अपने पति से कही, तब पति ने कहा कि 'तुम्हे पुत्र प्राप्ति होगी' गर्भ जब चार मास का हो गया, तब भद्रा को दान धर्म और सुकृत करने का दोहला हुआ। भद्र बुद्धि गौ भद्र ने वह दोहला बड़े ही उत्साह के साथ पूर्ण किया। स्थिति काल पूर्ण हो;

जाने पर भद्रा ने दिशाओं के मुख को उज्ज्वल करने वाले एक सर्वांङ्ग सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। नामकरण के दिन माता पिता ने हर्षित हो स्वप्नानुसार उसका नाम "शालिभद्र" रक्खा। पाँच धात्रियों की गोद में पलता हुआ शालिभद्र अनुक्रम से बड़ा हुआ। सात वर्ष का होने पर उसकी शिक्षा प्रारम्भ की गई। कुछ समय में वह सर्व कला-पारङ्गत हो गया। बालकपन व्यतीत होने पर क्रमश. यौवन का प्रादुर्भाव हुआ। तब वहाँ के नगर श्रेष्टि ने अपनी बत्तीस कन्याओं का विवाह उसके साथ करने का प्रस्ताव गोभद्र सेठ के पास भेजा। जिसे उसने सहर्ष स्वीकार किया। तदनन्तर सर्व लक्षण संयुक्त बत्तीस कन्याएँ बड़े ही उत्सव समारोह के साथ शालिभद्र को व्याही गई। अब शालिभद्र विमान के समान रमणीक विलास मन्दिर में अपनी बत्तीसों पत्नियो के साथ रमण करने लगा। आनन्द में वह इतना मग्न हो गया कि उसे सूर्य्योदय और सूर्य्यास्त का भान भी न रहता था। उसके माता पिता उसके भोग की सब सामग्रियों की पूर्ति कर देते थे। कुछ समय पश्चात् गोभद्र सेठ ने श्री वीर प्रभु के पास से दीक्षा ग्रहण करली और विधि पूर्वक अनशनादिक करके वह स्वर्ग गया। वहाँ से अवधि ज्ञान के द्वारा अपने पुत्र को देख उसके पुण्य के वश हो कर वह पुत्र वात्सल्य में तत्पर हुआ। कल्पवृक्ष की तरह वह उसकी पत्नियो सहित उसको प्रति दिन दिव्य वस्त्र और दूसरी सामग्री देने लगा। इधर पुरुष के योग्य जो काम होते उन सब को भद्रा पूर्ण करती थी, शालिभद्र तो पूर्व दान के प्रभाव से केवल भोगों को भोगता था।

एक समय एक व्यापारी "रत्न कम्बल" लेकर श्रेणिक राजा के पास बेचने आया। पर उनका मूल्य बहुत होने से श्रेणिक ने उन्हें न खरीदा। तब वह फिरता फिरता शालिभद्र के घर गया। वहाँ भद्रा ने उसको मुंह मांगा मूल्य देकर सब कम्बल खरीद लिये। इधर रानी चेलना ने श्रेणिक से कहा कि मेरे लिए एक रत्न कम्बल मगवादो। तब श्रेणिक ने उस व्यापारी को बुलवाया। व्यापारी ने आ कर कहा—"राजन्! रत्न कम्बल तो सब भद्रा सेठानी ने खरीद लिये हैं।" यह सुन श्रेणिक राजा ने एक चतुर मनुष्य को उचित मूल्य देकर रत्न कम्बल लेने के लिए भद्रा के पास भेजा। उसने भद्रा से आकर कम्बल माँगा, पर भद्रा ने कहा कि मैंने उन कम्बलों के टुकड़े कर शालिभद्र की स्त्रियों को पैर पोंछने के लिये दे दिये हैं, यदि श्रेणिक राजा को उन जीर्ण कम्बलों की आवश्यकता हो तो ले जाओ। वह बात ज्यों की त्यों आकर उस व्यक्ति ने राजा श्रेणिक को कही। यह सुन चेलना ने कहा—देखो तुम्हारे में और उस वणिक् में पीतल और सोने के समान अन्तर है। तब राजा ने कौतुक वश होकर शालिभद्र को बुलाने के लिये उसी पुरुष को भेजा। लेकिन उसके उत्तर में भद्रा ने राजा के पास आकर कहा—"मेरा पुत्र कभी घर के बाहर नहीं निकलता इसलिये अच्छा हो यदि आपही मेरे घर पधारने की कृपा करें।" श्रेणिक ने कौतुक वश हो वैसा ही करना स्वीकार किया। तब भद्रा ने अपने महल से लेकर राजमहल तक मार्ग को विचित्र वस्त्र और माणिक्यादि से सुशोभित करवा दिया। उस सुंदर शोभा को आश्चर्य-पूर्वक देखता हुआ श्रेणिक शालिभद्र के घर आया।

उस मकान में स्वर्ण के स्तम्भ पर इन्द्रनील मणि के तोरण झूल रहे थे, द्वार की भूमि पर मोतियों के साथिये बनाये हुए थे, स्थान स्थान पर दिव्य वस्त्रों के चन्दवे तने हुए थे। इन सबों को अत्यन्त विस्मय पूर्वक देखते देखते राजा ने मकान में प्रवेश किया, और चौथे मंजिल पर चढ़ कर सुशोभित-सिंहासन को अलङ्कृत किया। तत्पश्चात् भद्रा ने सातवीं मंजिल पर जाकर शालिभद्र से कहा—"वत्स, श्रेणिक यहाँ पर आये हुए हैं। इसलिये तू उनको देखने के लिये चल।" शालिभद्र ने कहा—माता ! इस विषय में तुम सब जानती हो इसलिये जो कुछ मूल्य देना हो वह तुम्हीं दे दो। मेरे वहाँ चलने की क्या आवश्यकता है? भद्रा ने कहा—"वत्स श्रेणिक कोई खरीदने की सामग्री नहीं हैं। वे तो सब लोगों के और तेरे भी मालिक हैं।" यह सुन कर शालिभद्र ने खेद पूर्वक सोचा—"मेरे इस सांसारिक ऐश्वर्य्य को धिक्कार है जिसमें मेरा भी कोई दूसरा स्वामी है। इसलिए अब तो मैं इन सब भोग को सर्प के फण के समान छोड़ कर श्री वीरप्रभु की शरण लूंगा।" इस प्रकार सोच कर वह बड़ा व्यथित हुआ, पर माता के आग्रह से वह अपनी स्त्रियों सहित श्रेणिक के पास आया और विनय पूर्वक उनसे प्रणाम किया। राजा श्रेणिक ने उसे आलिङ्गन कर अपने पुत्र की तरह गोद में बिठलाया। कुछ समय पश्चात् भद्रा ने कहा—"देव ! अब इसे छोड़ दीजिए। यह मनुष्य होते हुए भी मनुष्य की गंध से बाधा पाता है। इसके पिता देवता हुए हैं। वे इसे और इसकी स्त्रियों को प्रतिदिन दिव्य वेष, वस्त्र तथा अङ्गराग वगैरह देते हैं।" यह सुन राजा ने उसे उसी समय विदा कर दिया।

पश्चात् भद्रा ने राजा से निवेदन किया कि "आज तो यहीं भोजन करने की कृपा कीजिए।" भद्रा के आग्रह से राजा ने उसकी बात स्वीकार की। उसी समय भद्रा ने सब प्रकार के पकवान तैयार करवाये। तदनन्तर राजा ने स्नान के योग्य तैलचूर्णादि द्रव्यों के साथ शुद्धजल से स्नान किया। स्नान करते समय उसकी उँगली मे से एक अंगूठी गृह वापिका के जल में गिर गई। राजा इधर उधर उसे ढूढने लगा। यह देख भद्रा ने दासी को आज्ञा दी कि इस वापिका का जल दूसरी ओर से निकाल डाल। दासी के ऐसा करते ही उस वापिका का जल खाली हो गया, और उस वापिका में अनेक दिव्य आभरणों के बीच में वह ज्योति हीन अगूठी दृष्टि गोचर होने लगी। उन आभरणों को देख आश्चर्यान्वित हो राजा ने पूछा "यह सब क्या है?" दासी ने कहा—"प्रति दिन शालिभद्र के और उनकी स्त्रियों के निर्माल्य आभूषण निकाल निकाल कर इसमें डाल दिये जाते हैं। ये सब वे ही हैं।" यह सुन कर राजा ने मन ही मन कहा "इस शालिभद्र के पुण्य कर्मों को धन्य है, और उसके साथ साथ मुझे भी धन्य है, जिसके राज्य मे ऐसे धनाढ्य लोग वास करते हैं।" तत्पश्चात् श्रेणिक राजा सपरिवार भोजन वगैरह करके राजमहल में गये।

उसी दिन से शलिभद्र ससार से मुक्त होने का विचार करता रहा। एक दिन उसके एक मित्र ने आकर कहा—"चारों ज्ञान के धारी और सुरासुरों से सेवित धर्मघोष नामक मुनि उद्यान में पधारे हैं।" यह सुन शालिभद्र हर्षान्वित हो उनकी वन्दना करने के लिये गया। उनकी देशना समाप्त हो जाने पर उसने पूछा—"भगवन् कौनसा कर्म करने से राजा अपना स्वामी न हो।"

मुनि ने कहा—"जो दीक्षा ग्रहण करते हैं वे सारे जगत के स्वामी होते हैं।" शालिभद्र ने कहा—"यदि ऐसा है तो मैं भी अपनी माता की आज्ञा ले कर दीक्षा लूंगा।" ऐसा कह वह घर गया। और माता को नमस्कार कर कहा—"हे माता! आज श्री धर्म-घोप मुनि के मुख से मैने संसार के सब दुखों से छुड़ा देने वाले धर्म की परिभाषा सुनी है। उसके कारण मुझे संसार से विरक्ति हो गई है। इसलिए तुम मुझे आज्ञा दो जिससे मै व्रत लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करू।" भद्रा ने कहा—वत्स! तेरा यह कथन बिल्कुल उपयुक्त है। पर व्रत को निभाहना लोहे के चने चवाने से भी अधिक कष्टप्रद है। उसमें भी तेरे समान सुकोमल और दिव्य भोगों से लालित पुरुप के लिए तो यह बहुत ही कठिन है। इसलिए यदि तेरा यही विचार है तो धीरे धीरे थोड़े थोड़े भोगों का त्याग कर अपने अभ्यास को बढ़ाले। पश्चात् तेरी इच्छा हो तो दीक्षा ग्रहण कर लेना।" शालिभद्रने माता के इस कथन को स्वीकार किया और उसी दिन से वह एक एक शय्या और एक एक स्त्री का त्याग करने लगा।

कुछ समय पश्चात् जब वीरप्रभु वैभारगिरि पर पधारे तब शालिभद्रने जाकर उनसे मुनि व्रत ग्रहण किया। उग्र तपश्चर्य्या करते करते शालिभद्र मुनि मनुष्य आयु के व्यतीत हो जाने पर मानवीय देह को छोड़ कर सर्वार्थ सिद्धि विमान में देवता हुए।

× × × × ×

राजा चण्डप्रद्योत को उसकी अङ्गारवती रानी से वासव दत्ता नामक एक सर्व लक्षण युक्त पुत्री थी। चण्डप्रद्योत उस कन्या का बड़ा आदर करता था। उसने उसे सर्व कलानिधान

कर दी थी। केवल वह सङ्गीत कला की शिक्षा अभी तक उसे न दे सका था। वह सङ्गीत कला मे पारङ्गत एक अध्यापक की खोज में था। कुछ समय पश्चात् उसे पता लगा कि कौशाम्बीपति राजा "उदयन" सङ्गीत कला में अत्यन्त निपुण हैं। यह सुन उसने कई कौशलो से राजा उदयन को हरण कर मंगवा लिया और उसे कहा कि मेरे एक आँख वाली एक पुत्री है। उसे तुम सङ्गीत कला मे निपुण कर दो। यदि तुम इस बात को स्वीकार करने मे आनाकानी करोगे तो "मैं तुम्हे कठिन वन्धन मे डाल दूंगा।" राजा उदयन ने भी उस समय की परिस्थिति को देख प्रद्योत का कथन स्वीकार किया। तव प्रद्योत ने उसे कहा—"मेरी कन्या एकाक्षी है इसलिए तुम उसकी ओर कभी मत देखना क्योकि तुम्हारे देखने से वह अत्यन्त लज्जित होगी।" इस प्रकार उदयन को कह कर वह अन्तःपुर को गया। वहाँ जाकर उसने वासवदत्ता से कहा—"तेरे लिये गन्धर्व-विद्या विशारद एक गुरु बुलवाया है वह तुझे सङ्गीत-शास्त्र की शिक्षा देगा। पर वह कुष्टी है इसलिये तू कभी उसके सम्मुख न देखना।" कन्या ने पिता की बात को स्वीकार किया। तत्पश्चात् वत्सराज उदयन ने उसको गन्धर्व विद्या की शिक्षा देना प्रारम्भ किया। प्रद्योत राजा के किये हुए कौशल से कुछ दिनो तक दोनो ने एक दूसरे की ओर न देखा। पर एक दिन वासवदत्ता के मन में उदयन को देखने की इच्छा हुई। जिससे वह जान वूझ कर हत बुद्धि सी हो गई। तव उदयन ने उसको डाट कर कहा—"अरी एकाक्षी! पढ़ने में ध्यान न देकर तू क्यों गंधर्व विद्या का नाश करती है।" इस तिरस्कार से

क्रोधित हो उसने वत्सराज से कहा—"तुम खुद कुष्टी हो, उसको न देख कर मुझे व्यर्थ हो क्यों एकाक्षी कहते हो ?" यह सुन कर वत्सराज को बड़ा आश्चर्य्य हुआ उसने सोचा कि जैसा मैं कुष्टी हूँ वैसीही यह एकाक्षी होगी। ऐसा मालूम होता है कि प्रद्योत राजा ने यह सब जाल किसी विशेष उद्देश्य सिद्धि के लिये बनाया है। यह सोच उसने वासवदत्ता को देखने की इच्छा से बीच का परदा हटा दिया।

बादलों से मुक्त होकर शरद पूर्णिमा का चन्द्रमा जिस प्रकार अपनी कला का विस्तार करता है, उसी प्रकार परदे में से मुक्त होकर चन्द्रकला की तरह वासवदत्ता उदयन के देखने में आई। इधर वासवदत्ता ने भी लोचन विस्तार कर साक्षात् कामदेव के समान वत्सराज उदयन को देखा। दोनों की चार आखें हुई। दोनों यौवन के मध्यान्ह झूले में झूल रहे थे—दोनों ही सौन्दर्य्य के नन्दन कानन में विचरण कर रहे थे। दोनों ही एक दूसरे को देख कर प्रसन्न हुए। दो बांसो के सघर्ष से जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार चारों आँखों के संघर्ष से प्रमोत्पत्ति हुई। उसी समय वासवदत्ता ने उदयन-राज को आत्म-समर्पण कर दिया।

एक दिन अवसर देख कर उदयन राज अपने मत्री की सहायता से—जो कि अपने राजा को छुड़ाने के निमित्त गुप्त रूप से वहां आया हुआ था—वासवदत्ता को लेकर उज्जयिनी से निकल गया। चण्डप्रद्योत ने उसको पकड़ने के लिये लाख सिर पीटा पर कुछ फल न हुआ। अन्त में उसने भी उसे अपना जमाता स्वीकार किया।

वासवदत्ता के साथ बहुत समय तक विलास कर एक दिन उद-यन ने संसार से विरक्त हो वीर प्रभु के पास से दीक्षा ग्रहण कर ली।

× × × × ×

एक दिन "अभय कुमार" ने अपने पिता श्रेणिक राजा से दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी। इसमे श्रेणिक बड़े दुखी हुए क्योंकि वे अभय कुमार को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। पर बुद्धिमान् अभय कुमार ने उनको कई प्रकार से समझा बुझा कर शान्त किया और दीक्षा लेने की आज्ञा ले ली। तदन्तर वीर प्रभु के पास जाकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेने के पूर्व उन्होंने वीर प्रभु की बड़ी ही तत्त्वपूर्ण स्तुति की थी। उसका सार हम नीचे देते हैं।

"हे स्वामी! यदि जीव को हम एकान्त–नित्य–मानें तो कृत नाश और अकृतागम का दोष आता है। इसी प्रकार यदि जीव को एकान्त–अनित्य मानें तो भी उपरोक्त दोनों दोष आते हैं। यदि आत्मा को एकान्त–अनित्य मानें तो सुख और दुख का भोग नहीं रह जाता। पुण्य और पाप एवं बन्ध तथा मोक्ष जीव को एकान्त नित्य-और एकान्त अनित्य मानने वाले दर्शन में कभी सम्भव नहीं हो सकते। इससे हे भगवन्! तुम्हारे कथनानुसार वस्तु का नित्यानित्य स्वरूप ही सब दृष्टियो से ठीक और दोष रहित हैं। गुड़ कफ को उत्पन्न करता है और सोंठ पित्त को पैदा करती है। पर यदि ये दोनों औषधियाँ मिश्रित हो तो कुछ दोष उत्पन्न नहीं हो सकता। असत् प्रमाण की प्रसिद्धि के लिये "दो विरुद्ध भाव एक स्थान पर नहीं हो सकते" यह कहना मिथ्या है। क्योंकि चितकबरी वस्त में

विरुद्ध वर्णों का योग एक स्थान पर दिखलाई देता है। "विज्ञान का एक आकार विविध आकारों के संयोग से उत्पन्न हुआ है" इस प्रकार मानने वाला बौद्ध-दर्शन अनेकान्तदर्शन का खण्डन नहीं कर सकता। पृथ्वी को परमाणु स्वरूप से नित्य और स्थूल रूप से अनित्य मानने वाला तथा द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व आदि गुणों को सामान्य और विशेष रूप से स्वीकार करने वाला वैशेषिक दर्शन भी उसका खण्डन नहीं कर सकता। इसी प्रकार सत्व, रज, तम, आदि विरुद्ध गुणों से आत्मा को गुंथी हुई मानने वाला सांख्य-दर्शन भी इसका खण्डन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त चार्वाक का खण्डन और मण्डन देखने की तो आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि उसकी बुद्धि तो परलोक, आत्मा और मोक्ष के सम्बन्ध मे मूढ़ हो गई है। इससे हे स्वामी! उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के अनुसार सिद्ध की हुई वस्तु मे ही वस्तुत्व रह सकता है, आप का यह कथन बिल्कुल मान्य है।"

❀ ❀ ❀ ❀

अभय कुमार के दीक्षा लिए पश्चात श्रेणिकपुत्र कुणिक ने षड्यन्त्र करके श्रेणिक को जेल मे डाल दिया और स्वयं राजा बन बैठा। अत्यन्त कष्टो से त्रसित हो श्रेणिक ने एक दिन आत्म-हत्या करली। तदनन्तर कुछ समय पश्चात कुणिक का वैशालीपति चेटक के साथ बड़ा ही भयङ्कर युद्ध हुआ। जिसमें कुछ दिनों तक तो चेटक की विजय होती रही। पर अन्त मे कुणिक ने उनको पराजित कर वैशाली की दुर्गति करदी। तत्पश्चात दिग्विजय करने की आशा से कुणिक सेना सहित निकला।

पर रास्ते मे एक स्थान पर मारा गया। कुणिकराज के पश्चात् राज्य के प्रधान पुरुषों ने उसके पुत्र "उदायी" को सिंहासन पर बैठाया। उसने प्रजा का बड़े ही न्यायपूर्वक पालन किया, इसके द्वारा जैन धर्म की बहुत तरक्की हुई।

❀ ❀ ❀ ❀

केवल ज्ञान की उत्पत्ति से लेकर निर्वाण प्राप्ति के पूर्व तक भगवान् महावीर के परिवार में चौदह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्जिकाएँ, तीन सौ चौदहपूर्व धारी मुनि, तेरह सौ अवधिज्ञानी मुनि, सात सौ वैक्रियिक लब्धि के धारक, उतने ही केवली, उतने ही अनुत्तर विमान में जाने वाले, पाँच सौ मनः पर्यय ज्ञान के धारक, चौदह सौ वादी, एक लाख उनसठ हजार श्रावक, और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएं हो गईं।

इन्द्रभूति गौतम और सुधर्माचार्य्य के सिवाय शेष नौ गणधर मोक्ष गये। तत्पश्चात् भगवान् महावीर अपापा नगरी में पधारे।

प्रभु का अन्तिम उपदेश

अपापा नगरी में रचे हुए समवशरण के अन्तर्गत भगवान् महावीर प्रतिष्ठित हुए। उस समय इन्द्र ने नमस्कार करके स्तुति करना प्रारम्भ की। इन्द्र की स्तुति समाप्त होने पर अपापा के राजा ने अपनी स्तुति प्रारम्भ की, उसके पश्चात् भगवान् ने अपना निम्नाङ्कित अन्तिम उपदेश देना प्रारम्भ किया :—

"इस संसार में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें काम और अर्थ तो प्राणियों के नाम से ही अर्थ रूप है, चारों पुरुषार्थों में वास्तविक अर्थ रखने वाला तो एक

मोक्ष है और उसका मूल कारण धर्म है। वह धर्म संयम वगैरह दस प्रकार का है। यह धर्म संसार सागर से पार लगाने वाला है। अनन्त दुख रूप संसार है, और अनन्त सुख रूप मोक्ष है। संसार के त्याग का और मोक्ष प्राप्ति का मुख्य हेतु धर्म के सिवाय दूसरा कोई नहीं। लङ्गड़ा मनुष्य भी जिस प्रकार वाहन के आश्रय से पार हो सकता है उसी प्रकार धन-कर्मी भी धर्म के आश्रय से मोक्ष पा सकता है।"

इस प्रकार देशना देकर प्रभु स्थिर हुए, तत्पश्चात् अपापा के राजा हस्तिपाल ने अपने आठ स्वप्नों का फल प्रभु से पूछा, जिसका अलग अलग उत्तर प्रभु ने दिया। उसके पश्चात् गौतम स्वामी के पूछने पर उन्होंने अवसर्पिणी काल के पाँचवें और छठे काल की स्थिति बतलाई। जिसका विस्तृत वर्णन करना यहां आवश्यक नहीं जान पड़ता।

उसी दिन की रात्रि को अपना मोक्ष जान प्रभु ने विचार किया कि—"गौतम का मुझ पर बहुत स्नेह है और वही उस की कैवल्योत्पत्ति मे बाधा देता है। इस कारण उस स्नेह का उच्छेद करना आवश्यक है।" यह सोच उन्होंने गौतम से कहा—"गौतम। इस समीपवर्ती ग्राम मे देवशर्मा नामक एक ब्राह्मण है, वह तुम से प्रतिबोध पावेगा, इसलिये तुम वहाँ जाओ।" प्रभु की आज्ञा मस्तक पर धारण कर गौतम वहाँ गये और उन्होंने उस ब्राह्मण को उपदेश देकर राह पर लगाया। इधर कार्तिक मास की अमावस्या को पिछली रात्रि के समय स्वाति नक्षत्र के चन्द्रमा में श्री वीर प्रभु ने पचपन अध्ययन पुण्य फल विपाक सम्बन्धी और उतने ही पाप फल विपाक सम्बन्धी कहे। उसके

पश्चात् छत्तीस अध्ययन अप्रश्न व्याकरण अर्थात् बिना किसी के पूछे ही कहे, जिस समय वे अन्तिम "प्रधान" नामक अध्ययन कहने लगे, उस समय इन्द्र आसनकम्प से उनका मोक्ष समय जान सर्व परिवार सहित वहाँ आया। उसने प्रभु को नमस्कार कर गद्गद् कण्ठ से निवेदन किया:—

"नाथ! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और कैवल्य में हस्तोत्तर नक्षत्र था। इस समय उसमें "भस्मक" गृह संक्रान्त होने वाला है। आपके जन्म नक्षत्र में सक्रमण हुआ यह ग्रह दो हजार वर्ष तक आपके भावी अनुयायियों को बाधा पहुँचायगा। इस-लिए जब तक यह ग्रह आपके जन्म-नक्षत्र में सक्रान्त हो तब तक आप ठहरिये। यदि आपके सम्मुख ही यह संक्रान्त हो गया तो आपके प्रभाव से वह निष्फल हो जायगा।"

प्रभु ने कहा—"हे शक्रेन्द्र! आयुष्य को बढ़ाने में कोई समर्थ नहीं। इस बात को जानते हुए भी तू क्यों मोह के वश होकर इस प्रकार बोलता है? आगामी पंचमकाल की प्रवृत्ति से ही तीर्थ को बाधा होने वाली है। उसी भवितव्यता के अनुसार इस ग्रह का उदय हुआ है।"

इस प्रकार इन्द्र को समझा कर प्रभु ने स्थूल मनोयोग और वचनयोग को रोका, फिर सूक्ष्म काययोग में स्थिर होकर प्रभु ने स्थूल काययोग को भी रोका, पश्चात् वाणी और मनके सूक्ष्म योग को भी उन्होंने रोके। इस प्रकार प्रभु ने शुक्लध्यान की तीसरी स्थिति को प्राप्त की। तदनन्तर सूक्ष्म काययोग को भी रोक कर समुच्छिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान की चौथी स्थिति को धारण की। बाद में पाँच ह्रस्वाक्षरों का उच्चारण कर, शुक्ल

ध्यान की चौथी स्थिति में एरएड के बीज के समान कर्म बन्ध रहित हो ऋजुगति के साथ उर्ध्वगमन कर प्रभु मोक्ष को गये। उस समय उन नारकियों को भी—जिनको कि एक निमेष का सुख भी दुर्लभ है—एक क्षण के लिये सुख प्राप्त हुआ। प्रभु के निर्वाण को जान उस समय के सब राजाओं ने द्रव्य-दीपकों की रोशनी की। प्रभु के निर्वाण पर देवताओं ने भी निर्वाणोत्सव मनाया, तभी से लोक मे दीपावलि पर्वका आरम्भ हुआ। जिस समय प्रभु का निर्वाण हुआ उस समय चतुर्थ काल मे तीन मास और साढ़े सात दिन शेष थे।

इधर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध दे गौतम स्वामी वापस लौटे, मार्ग ही में प्रभु के निर्वाण का संवाद सुन वे बड़े दुखी हुए। इसी समय प्रभु के प्रति रहा हुआ उनकी ममता का भाव टूट गया, उसके टूटते ही इन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई। पश्चात् बारह वर्ष तक भ्रमण कर अनेक भव्यजनों को राह पर लगा कर वे मोक्ष को गये। उनके पश्चात् पाँचवें गणधर सुधर्माचार्य्य कितने ही समय तक भ्रमण करते रहे, पश्चात् अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामी को सघ का भार दे वे भी निर्वाण को प्राप्त हुए।

लेखक की अन्य पुस्तकें

आदर्श देश भक्त ([illegible] उपन्यास)	१।)
गांधी दर्शन (मनोवैज्ञानिक जीवनी)	१)
भक्तियोग (अध्यात्मक)	१॥)
सिद्धार्थ कुमार (नविन नाटक)	१)
सम्राट अशोक (" ")	१॥)
नैतिक जीवन (नीति विषयक)	१)
भारत के हिन्दू सम्राट (ऐतिहासिक)	१॥।)
नाट्य कला दर्शन (यन्त्रस्थ)	

मिलने के पतेः—

साहित्य-उद्यान कार्यालय, लाखन कोटड़ी, अजमेर।	गांधी हिन्दी मंदिर, अजमेर, (ब्रांच) भानपुरा। (हो० रा०)

दार्शनिक खण्ड

दार्शनिक खण्ड

पहला अध्याय

जैन-धर्म और अहिंसा

अब हम पाठकों के सम्मुख भगवान् महावीर के उस महत् सिद्धान्त को रखना चाहते हैं जो जैन धर्म का प्राण है। वह सिद्धान्त अहिंसा का है। जैन धर्म के तमाम आचार विचार अहिंसा की नींव पर रचे गये हैं। यों तो भारतवर्ष के ब्राह्मण, बौद्धादि सभी प्रसिद्ध धर्म अहिंसा को "सर्व श्रेष्ठ धर्म" मानते हैं। इन धर्मों के प्रायः सभी महापुरुषों ने अहिंसा के महत्व तथा उस के उपादेयत्व को बतलाया है। पर इस तत्व की जितनी विस्तृत, जितनी सूक्ष्म, और जितनी गहन मीमांसा जैन-धर्म में की गई है उतनी शायद दूसरे किसी भी धर्म में न की गई होगी। जैन-धर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसा-तत्व को उसकी चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। वे केवल अहिंसा की इतनी विस्तृत मीमांसा करके ही चुप नहीं हो गये हैं प्रत्युत् उसको आचरण में लाकर, उसे व्यवहारिक रूप देकर भी इन्होंने बतला दिया है। दूसरे धर्मों में, अहिंसा का तत्व

केवल कायिक रूप (शारीरिक) बन कर ही समाप्त हो गया है, पर जैन-धर्म का अहिंसातत्व उससे बहुत आगे वाचिक और मानसिक होकर आत्मिक रूप तक चला गया है। दूसरे धर्मों की अहिंसा की मर्यादा मनुष्य जाति तक ही अथवा बहुत आगे गई है तो पशु और पक्षियों के जगत् में जाकर समाप्त हो गई है, पर जैन अहिंसा की कोई मर्य्यादा ही नहीं है। उसकी मर्यादा में तमाम चराचर जीवों का समावेश हो जाने पर भी वह अपरिमित ही रहती है। यह अहिंसा विश्व की तरह अमर्यादित और आकाश की तरह अनन्त है।

लेकिन जैन-धर्म के इस महान तत्व के यथार्थ रहस्य को समझने का प्रयास बहुत ही कम लोगों ने किया है। जैनियों की इस अहिसा के विषय में जनता के अन्तर्गत बहुत अज्ञान और भ्रम फैला हुआ है। बहुत से बड़े बड़े प्रतिष्ठित विद्वान् इसको अव्यवहार्य्य, अनाचरणीय, आत्मघातकी, एवं कायरता की जननी समझ कर इसको राष्ट्रनाशक बतलाते हैं। उन लोगों के दिल और दिमाग़ में यह बात जोरों से ठसी हुई है कि जैनियों की इस अहिंसा ने देश को कायर, और निर्वीर्य बना दिया है और इसका प्रधान कारण यह है कि आधुनिक जैन समाज में अहिंसा का जो अर्थ किया जाता है वह वास्तव में ही ऐसा है। जैन-धर्म की असली अहिंसा के तत्व ने आधुनिक जैन समाज में अवश्य कायरता का रूप धारण कर लिया है। इसी आधुनिक अहिंसा के रूप को देख कर यदि विद्वान् लोग भी उसको कायरता-प्रधान धर्म मानने लग जायँ तो आश्चर्य नहीं।

परन्तु जैन अहिंसा का वास्तविक रूप यह नहीं है जो आधुनिक जैन समाज में प्रचलित है। यह तो उसका बहुत ही विकृत रूप है। समाज में जब दैवी सम्पद् का ह्रास और आसुरी सम्पद् का आधिक्य होने लगता है तो प्रायः सभी उत्कृष्ट तत्वों के ऐसे ही विकृत रूप हो जाते हैं। आसुरी सम्पद् का आधिक्य भारतीय समाज में हो जाने के कारण ही क्या अहिंसा और क्या अन्य तत्व सभी के विकृत रूप हो गये हैं। ये रूप इतने भयङ्कर हो गये हैं कि उन्हें स्पर्श करने तक का साहस भी नहीं होता।

जैन अहिंसा के इस विकृत रूप को छोड़ कर यदि हम उसके शुद्ध और असली रूप को देखें तो ऊपर के सब आक्षेपों का निराकरण हो जाता है। इस स्थान पर हम उन चन्द आक्षेपों के निराकरण करने की चेष्टा करते हैं जो आधुनिक विद्वानों के द्वारा जैन अहिंसा पर लगाये जाते हैं। इस निराकरण से हम समझते हैं कि आक्षेपों की निवृत्ति के साथ साथ जैन अहिंसा का संक्षिप्त स्वरूप भी समझ में आ जायगा। *

जैन अहिंसा पर सब से पहला आक्षेप यह किया जाता है कि जैनधर्म के प्रवर्तकों ने अहिंसा की मर्य्यादा को इतनी सूक्ष्म कोटि पर पहुँचा दी है कि जहाँ पर जाकर वह करीब करीब अव्यवहार्य्य हो गई है। जैन अहिंसा का जो कोई पूर्ण रूपेण पालन करना चाहे, उसको जीवन की तमाम क्रियाओं को बन्द

---

* यह लेख मुनि जिनविजय जी द्वारा लिखित "जैनधर्म नु अहिंसा तत्व" नामक लेख के आधार पर लिखा गया है।

कर देना पड़ेगा और निश्चेष्ट होकर देह को त्यागना पड़ेगा। मतलब यह है कि जीवन व्यवहार को प्रारम्भ रखना और जैन अहिंसा का पालन करना ये दोनो बातें परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अतः मनुष्य-प्रकृति के लिए यह कदापि सम्भव नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि जैन अहिंसा की मर्यादा बहुत ही विस्तृत है और उसका पालन करना सर्वसाधरण के लिए बहुत ही कठिन है और इसी कारण जैनधर्म के अतर्गत पूर्ण अहिंसा के अधिकारी केवल मुनि ही माने गये हैं, साधारण गृहस्थ नहीं। पर इसके लिए यह कहना कि यह सर्वथा अव्य-वहार्य्य है अथवा आत्म-घातक है, बिल्कुल भ्रममूलक है। इस बात को प्रायः सब लोग मानते तथा जानते हैं कि अहिंसा-तत्व के प्रवर्तको ने अपने जीवन में इस तत्व का पूर्ण अमल किया था। अपने जीवन में पूरी तरह पालन करते हुए भी वे कितने ही वर्षों तक जीवित रहे थे। उनके उपदेश से प्रेरित हो कर लाखों आदमी उनके अनुयायी हुए थे जो कि आज तक उनके उपदेश का पालन करते चले आ रहे हैं। पर फिर भी हम देखते हैं कि किसी को इस तत्व का पालन करने के निमित्त आत्मघात करने की आवश्यकता नहीं हुई। इस पर यह बात तो स्वयं-सिद्ध हो जाती है कि जैन अहिंसा अव्यवहार्य्य नहीं है। इतना अवश्य है कि जो लोग अपने जीवन का सद्व्यय करने को तैयार नहीं हैं, जो अपने स्वार्थों का भोग देने में हिचकते हैं, उन लोगों के लिये यह तत्व अवश्य अव्यवहार्य्य है। क्योकि अहिंसा का तत्व आत्मा के उद्धार से बहुत सम्बन्ध रखता है। आत्मा को संसार और कर्मबन्धन से स्वतन्त्र करने और दुख

के झगड़ों से मुक्त करने लिए तमाम मायावी सुखों की सामग्री को त्याग देने की आवश्यकता होती है। इसलिए जो लोग मुमुक्षु हैं, अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिये इच्छुक हैं, उनको तो जैन अहिंसा कभी आत्मनाशक या अव्यवहार्य्य मालूम नहीं हो सकती। स्वार्थलोलुप और विलासी आदमियों को तो बात ही दूसरी है।

जैन अहिंसा पर दूसरा सब से बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि इस अहिंसा के प्रचार ने भारतवर्ष को कायर और गुलाम बना दिया है। इस आक्षेप के करनेवालों का कथन है कि अहिंसा-जन्य पापों से डरकर भारतीय लोगों ने मांस खाना छोड़ दिया एवं यह निश्चय है कि मांस-भक्षण के बिना शरीर में बल और मन में शौर्य्य नहीं रह सकता। शौर्य्य और बल की कमी हो जाने के कारण यहाँ की प्रजा के हृदय से युद्ध की भावना बिलकुल नष्ट हो गई जिससे विदेशी लोगों ने लगातार इस देश पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार अहिंसा के प्रचार से भारतवर्ष गुलाम हो गया और यहाँ की प्रजा पराक्रम-रहित हो गई।

अहिंसा पर किया गया यह आक्षेप बिलकुल प्रमाण-रहित और युक्ति-शून्य है। इस कल्पना की जड़ में बहुत बड़ा अज्ञान भरा हुआ है। सब से पहले हम ऐतिहासिक-दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करेंगे। भारत का प्राचीन इतिहास डङ्के की चोट इस बात को बतला रहा है कि जब तक इस देश पर अहिंसा-प्रधान जातियों का राज्य रहा तब तक यहाँ की प्रजा में शान्ति, शौर्य्य, सुख और सन्तोष यथेष्टरूप से व्याप्त थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त और

अशोक अहिंसा-धर्म के सब से बड़े उपासक और प्रचारक थे। पर उनके काल में भारत कभी पराधीन नहीं हुआ। उस समय यहाँ की प्रजा में जो वीर्य्य, शान्ति और साहस था, वह आज कल की दुनिया में कहीं नसीब नहीं हो सकता। दक्षिण भारत के पल्लव और चालुक्य वंश के प्रतापी राजा अहिंसा-धर्म के अनुयायी थे, पर इनके राज्य-काल में किसी भी विदेशी ने आकर भारत को सताने का साहस नहीं किया। इतिहास खुले खुले शब्दों में कह रहा है कि भारतवर्ष के लिये अहिंसा-प्रधान युग ही स्वर्णयुग रहा है। जब तक यहां पर बौद्ध और जैन-धर्म का जोर रहा, जबतक ये धर्म राष्ट्रीयधर्म की तरह भारत मे प्रचलित रहे तब तक भारतवर्ष में स्वतन्त्रता, शान्ति और सम्पत्ति यथेष्ट-रूप में विद्यमान थी। अहिंसाधर्म के श्रेष्ठ उपासक उपरोक्त नृपतियो ने अहिंसाधर्म का पालन करते हुए भी अनेक युद्ध किये और अनेक शत्रुओ को पराजित किया था। जिन लोगों को गुजरात और राजपूताने के इतिहास का कुछ भी ज्ञान है, वे इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि इन देशों को स्वतंत्र, समुन्नत और सुखी रखने के निमित्त जैनियो ने कितने बड़े बड़े पराक्रम-युक्त कार्य्य किये थे। गुजरात के सारे इतिहास मे वही भाग सब से अधिक चमक रहा है जिसमे जैन राजाओं के शासन का वर्णन है। उस समय गुजरात का ऐश्वर्य्य चरम सीमा पर पहुँच चुका था। वहाँ के सिंहासन का तेज दिगदिगन्त में व्याप्त था, गुजरात के इतिहास मे दण्ड-नायक विमल शाह, मंत्री मुजाल, मंत्री शान्तु, महामात्य उदयन और वाहड़, वस्तुपाल और तेजपाल, आमु और जगडू इत्यादि

जैन राज्याधिकारियों को जो स्थान प्राप्त है, वह शायद दूसरों को न होगा। केवल गुजरात ही में नहीं प्रत्युत् भारत के इतिहास में भी बहुत से अहिंसक राजाओं की वीरता के दृष्टान्त देखने को मिलते हैं।

जिस धर्म के अनुयायी इतने पराक्रमशील और शूर वीर थे और जिन्होंने अपने पराक्रम से देश को तथा अपने राज्य को इतना समृद्ध और सत्त्वशील बनाया था उस धर्म के प्रचार से देश और प्रजा की अधोगति किस प्रकार हो सकती है। कायरता या गुलामी का मूल कारण अहिंसा कभी नहीं हो सकती। जिन देशों में हिंसा खूब जोर शोर से प्रचलित है, जिस देश के निवासी अहिंसा का नाम तक नहीं जानते, केवल मांस ही जिनका प्रधान अहार है और जिनकी वृत्तियां हिंसक पशुओं से भी अधिक क्रूर है, क्या वे देश हमेशा आज़ाद रहते हैं? रोमन साम्राज्य ने किस दिन अहिंसा का नाम सुना था? उसने कब मांस-भक्षण का त्याग किया था? फिर वह कौन सा कारण था जिससे उसका नाम दुनिया के परदे से बिल्कुल मिट गया? तुर्क प्रजा ने कब अपनी हिंसक और क्रूर वृत्तियों को छोड़ा था; फिर क्या कारण है कि आज वह इतनी मरणोन्मुख दशा में अपने दिन बिता रही है? स्वयं भारतवर्ष का ही उदाहरण लीजिए। मुगल सम्राटों ने किस दिन अहिंसा की आराधना की थी, उन्होंने कब पशु-वध को छोड़ा था; फिर क्या कारण है कि उनका अस्तित्व नष्ट हो गया? इन उदाहरणों से स्पष्ट जाहिर होता है कि देश की राजनैतिक उन्नति और अवनति में हिंसा अथवा अहिंसा कोई कारणभूत नहीं है।

देश क्यों गुलाम होते हैं, जातियां क्यों नष्ट हो जाती हैं, साम्राज्य क्यों बिखर जाते हैं, इन घटनाओं के मूल कारण हिंसा और अहिंसा में ढूँढ़ने से नहीं मिल सकते। इनके कारण तो मनोविज्ञान और साम्राज्य के भीतरी रहस्यों में ढूँढ़ने से मिल सकते हैं। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि मनोविज्ञान के उन तत्वों को—जिनके ऊपर देश और जाति की आजादी मुनहसर है—अहिंसा के भाव बहुत सहायता प्रदान करते हैं।

मनस्तत्व के वेत्ता और समाजशास्त्र के पण्डित इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि जब तक मनुष्य के जीवन में नैतिकता का विकास होता रहता है, जब तक समाज में दैवी सम्पद् का आधिक्य रहता है, तब तक उस जाति का तथा समाज का कोई भी बाह्य अनिष्ट नहीं हो सकता। गरीबी और गुलामी उसके पास नहीं फटक सकती। जितनी भी जातियां अथवा देश गुलाम होते हैं वे सब नैतिक कमजोरी के कारण अथवा यों कहिए कि आसुरी सम्पद के आधिक्य के कारण होते हैं। दैवी सम्पद् और नैतिक जीवन का मूल कारण सतो-गुण का विकास होने से उत्पन्न होता है। सत्वशाली प्रजा का जीवन ही श्रेष्ठ और नैतिकता से युक्त हो सकता है। अहिंसा इसी सतोगुण की जननी है। जब तक मनुष्य के अन्त-र्गत यह तत्व जागृत रहता है, तब तक उसके अन्तर्गत सतोगुण का आधिक्य रहता है, और जब तक सतोगुण का प्राधान्य रहता है तब तक उसका कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। हिंसा की क्रूर भावनाओं से ही मनुष्य की तामसिक वृत्ति का उदय होता है, जो कि व्यष्टि और

समष्टि दोनों की घातक है। अतः सिद्ध हुआ कि "अहिंसा ही वह मूल तत्व है, जहां से शान्ति, शक्ति, स्वाधीनता, क्षमा, पवित्रता, और सहिष्णुता की धाराएँ शतधा और सहस्रधा होकर वहती रहती हैं। जब तक मनुष्य के हृदय से अहिंसा का उज्वल प्रकाश रहता है, तब तक उसके हृदय में वैर विरोध की भावनाएं प्रविष्ट नहीं हो सकतीं और जब तक वैर विरोध की भावनाओं का समावेश नहीं हो जाता तब तक संगठन-शक्ति मे किसी प्रकार की विश्रृंखलता उत्पन्न नहीं हो सकती। एवं प्रायः निश्चय ही है संगठन-शक्ति से युक्त जातियां वाहरी आपत्तियों से रक्षित रहती हैं।

अहिंसा का अर्थ—

"हिंसा शब्द हननार्थक "हिंसी" धातु पर से बना है। इससे हिंसा का अर्थ "किसी प्राणी को मारना या सताना" होता है। भारतीय ऋषियों ने हिंसा शब्द की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार की है—

"प्राण वियोग-प्रयोजन व्यापार" अथवा "प्राणी दुख साधन व्यापारो हिंसा।" अर्थात् प्राणी को प्राण से रहित करने के निमित्त, अथवा प्राणी को किसी प्रकार का दुःख देने के निमित्त जो प्रयत्न किया जाता है उसे हिंसा कहते हैं। इसके विपरीत किसी भी जीव को दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाना इसी को "अहिंसा" कहते हैं। पातञ्जलि कृत योग के भाष्यकार अहिंसा का लक्षण लिखते हुए कहते हैं—

"सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनार्थ द्रोह अहिंसा" अर्थात् सब प्रकार से, सब समयों में, सब प्राणियों के साथ मैत्री भाव

से व्यवहार करना—उनसे प्रेम भाव रखना इसी को अहिंसा कहते हैं। ईश्वर ने गीता में कहा है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वं भूतेपु सर्वदा।
अक्लेश जननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्पिभिः॥

अर्थात्, मन, वचन, तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना इसी को महर्पियों ने अहिंसा कहा है।

इस प्रकार की अहिंसा के पालन की क्या आवश्यकता है इस विषय को सिद्ध करते हुए श्रीहेमचन्द्राचार्य्य कहते हैं :—

आत्मवत् सर्वं भूतेपु सुख' दुखे प्रिया प्रिये।
चिन्त यन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसा मन्यस्य नाचरेत्॥

जिस प्रकार अपने को सुख प्रिय और दुख अप्रिय लगता है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी मालूम होता है। इस कारण हमारा कर्तव्य है कि हमारी आत्मा की ही तरह दूसरों की आत्मा को समझ कर उनके प्रति कोई अनिष्टमूलक आचरण न करें।

इसी विषय को लेकर स्वयं भगवान् महावीर कहते हैं—

"सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया, दुह पडिकूला अप्पिय, वहा।
पिय जीविणो, जीवि उकामा, (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचणं॥"

सब प्राणियों को आयु प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुख सब के प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, सब जीने की इच्छा रखते हैं, इससे किसी को मारना, अथवा कष्ट न पहुँचाना चाहिये।

इस स्थान पर एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। वह यह कि

इस प्रकार की अहिंसा का पालन मनुष्य किस प्रकार कर सकता है। क्योंकि शास्त्रानुसार कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहां पर जीव न हों।

जले जीवा स्थले जीवाः जीवा पर्वत मस्तके।
ज्वालमाला कुले जीवाः सर्व जीव मयं जगत्॥

जल में, स्थल में, पर्वत के शिखर पर, अग्नि मे आदि सारे जगत् में जीव भरे हुए हैं। मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार में, खाने में, पीने में, चलने में, बैठने में, व्यापार में, विहार में आदि तमाम व्यवहारों में जीव-हिंसा होती है। किसी प्रकार आदमी हिंसा से बच ही नहीं सकता। हाँ, यदि वह अपनी तमाम जीवन-क्रियाओं को बन्द कर दे तो अलबत्तह बच सकता है। पर ऐसा करना मनुष्य के लिये असम्भव है।

यह बात बिल्कुल ठीक है, हमारे जैनाचार्य्यों ने भी मनुष्य-प्रकृति की इस कमजोरी को सोचा था। खूब अध्ययन के पश्चात् उन्होंने इस अहिंसा को बिल्कुल मनुष्य-प्रकृति के अनुकूल रूप दे दिया है। उन्होंने इस अहिंसा को कई भेदों में विभक्त कर दिया है। उन भेदों को ध्यान-पूर्वक मनन करने से यह सब विषय स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगा।

अहिंसा के भेद

जैनाचार्य्यों ने अहिंसा को कई भेदों में विभक्त कर दिया है। पहिले तो उन्होंने हिंसा के चार भेद बतलाये हैं। १—संकल्पी हिंसा, २—आरम्भी हिंसा, ३—व्यवहारी हिंसा और ४—विरोधी हिंसा।

१—किसी भी प्राणी को संकल्प करके मारना, उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं—जैसे कोई चिउँटी जा रही है, बिना ही कारण केवल हिंसक भावना से जान बूझ कर उसे मार डालना उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं ।

२—गृह कार्य्य में, स्नान में, भोजन बनाने में, झाड़ू देने मे ,जल पीने आदि में जो अप्रत्यक्ष जीव हिंसा हो जाती है. उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं ।

३—व्यापार में, व्यवहार में, चलने में, फिरने में जो हिंसा होती है उसे व्यवहारी हिंसा कहते हैं ।

४—विरोधी से अपनी आत्म-रक्षा करने के निमित्त अथवा किसी आततायी से अपने राज्य, देश अथवा कुटुम्ब की रक्षा करने के निमित्त जो हिंसा करनी पड़ती है उसे विरोधी हिंसा कहते है ।

इसके पश्चात् स्थूल अहिंसा और सूक्ष्म अहिंसा, द्रव्य अहिंसा और भाव अहिंसा, देश अहिंसा और सर्व अहिंसा इत्यादि और भी कई भेद किये गये हैं ।

१—किसी भी चलन वलन वाले प्राणी को प्रतिज्ञापूर्वक न मारने को स्थूल अहिंसा कहते हैं । यह संकल्पी अहिंसा का ही दूसरा रूप है ।

२—सब प्रकार के प्राणियों को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाने को सूक्ष्म अहिंसा कहते हैं ।

१—किसी भी प्रकार के जीव को अपने शरीर से कष्ट न पहुँचाना उसको द्रव्य अहिंसा कहते हैं ।

२—किसी भी प्रकार के जीव को भावों से कष्ट न पहुँचाने को भाव अहिंसा कहते हैं।

१—किसी भी प्रकार की आंशिक अहिंसा की प्रतिज्ञा को देश अहिंसा कहते हैं।

२—सार्वदेशिक अहिंसा की प्रतिज्ञा को सर्व-अहिंसा कहते हैं।

उपरोक्त भेदों में गृहस्थ द्वारा आचरणीय और मुनि के द्वारा आचरणीय अहिंसा में भेद हैं—उनका खुलासा करने से जैन-अहिंसा तत्व का और भी स्पष्टीकरण हो जायगा।

गृहस्थ का स्थूल-अहिंसा धर्म

यद्यपि आत्मा के अमरत्व की प्राप्ति के लिये और संसार के सर्व बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन करना आवश्यक है तथापि संसार निवासी तमाम मनुष्यों में इतनी योग्यता और इतनी शक्ति एक दम कदापि नहीं हो सकती। इस कारण न्यूनाधिक योग्यतावाले मनुष्यों के लिये तत्वज्ञों ने उपरोक्त अहिंसा के भेद कर उनके मार्ग को आसान कर दिया है।

अहिंसा के इन भेदों की तरह उनके अधिकारियों के भी जुदे जुदे भेद किये हैं। जो लोग पूर्ण रीति से अहिंसा का पालन नहीं कर सकते वे गृहस्थ-श्रावक-उपासक-अणुव्रती-देशव्रती इत्यादि नामों से सम्बोधित किये गये हैं।

उपरोक्त चार प्रकार की हिंसाओं में गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है अथवा यों कहिये कि भाव हिंसा

और स्थूल हिंसा का त्यागी हो सकता है। शेष हिंसाएँ गृहस्थ के लिये क्षम्य होती हैं। गृह कार्य में होने वाली आरम्भी हिंसा, व्यापार में होने वाली व्यवहारिक हिंसा तथा आत्म-रक्षा के निमित्त होने वाली विरोधी हिंसा में यदि उसकी मनोभावनाएं शुद्ध और पवित्र हैं तो वह दोष का भागी नहीं हो सकता। वल्कि कभी कभी तो इस प्रकार की हिंसा जैन-दृष्टि से भी कर्तव्य का रूप धारण कर लेती है। मान लीजिए एक राजा है, वह न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन कर रहा है। प्रजा राजा से खुश है और राजा प्रजा से खुश है। ऐसी हालत में यदि कोई अत्याचारी आततायी आकर उसके शान्तिमय राज्य पर आक्रमण करता है अथवा उसकी शान्ति में वाधा डालता है तो उस राजा का कर्तव्य होगा कि देश की शान्ति रक्षा के निमित्त वह पूरी शक्ति के साथ उस आततायी का सामना करे, उस समय वह युद्ध में होने वाली हिंसा की परवाह न करे। इतना अवश्य है कि वह अपने भावों में हिंसक प्रवृति को प्रविष्ट न होने दे। उस युद्ध के समय भी वह कीचड़ के कमल की तरह अपने को निर्लिप्त रक्खे—उस भयंकर मार काट में भी वह आततायी के कल्याण ही की चिन्ता करे। यदि शुद्ध और सात्विक मनोभावों के रखते हुए वह हिंसाकाण्ड भी करता है तो हिंसा के पाप का भागी नहीं गिना जा सकता। विपरीत इसके यदि ऐसे भयंकर समय में वह अहिंसा का नाम लेकर हाथ पर हाथ धर कर कायर की तरह वैठ जाता है, तो अपने राज्य धर्म से एवं मनुष्यत्व से च्युत होता है। इसी प्रकार मान लीजिए कोई गृहस्थ है उसके घर में एक कुलीन, साध्वी, और

रूपवती पत्नी है। यदि कोई दुष्ट विकार।या सत्ता के वशीभूत होकर दुष्ट भावना से उस स्त्री पर अत्याचार करने की कोशिश करता है तो उस गृहस्थ का परम कर्त्तव्य होगा कि वह अपनी पूर्ण शक्ति के साथ उस दुष्ट से अपनी स्त्री की रक्षा करे, यदि ऐसे कठिन समय में उसके धर्म की रक्षा करने के निमित्त उसे उस आततायी की हत्या भी कर देना पड़े तो उसके व्रत में कोई भी वाधा नहीं पड़ सकती। पर शर्त्त यह है कि हत्या करते समय भी उसकी वृत्तियां शुद्ध और पवित्र हों। यदि ऐसे समय में अहिंसा के वशीभूत होकर वह उस आततायी का प्रतिकार करने में हिच-किचाता है तो उसका भयङ्कर नैतिक अधःपात हो जाता है जो कि हिंसा का जनक है। क्योंकि इसमे आत्मा की उच्च वृत्ति का घात हो जाता है। अहिंसा के उपासक के लिए अपनी स्वार्थवृत्ति के निमित्त की जाने वाली स्थूल या सङ्कल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग करना, अत्यन्त आवश्यक है जो लोग अपनी क्षुद्र वासनाओं की तृप्ति के निमित्त दूसरे जीवों को क्लेश पहुँचाते हैं—उनका हनन करते हैं—वे कदापि अहिंसा धर्म का पालन नहीं कर सकते। अहिंसक गृहस्थों के लिए वही हिंसा कर्त्तव्य का रूप धारण कर सकती है जो देश जाति अथवा आत्म-रक्षा के निमित्त शुद्ध भावनाओं को रखते हुए मजबूरन की गई हो। इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा व्रत पालन करते हुए भी मनुष्य युद्ध कर सकता है, आत्म-रक्षा के निमित्त हिंसक पशुओं का वध कर सकता है, यदि ऐसे समय में वह अहिंसा धर्म की आड़ लेता है तो अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। इसी बात को और भी स्पष्ट करने के निमित्त हम

यहां पर इसी विषय का एक ऐतिहासिक उदाहरण पाठकों के सम्मुख पेश करते हैं।

गुजरात के अन्तिम सोलंकी राजा दूसरे भीमदेव के समय मे एकबार उनकी राजधानी "अनहिलपुर" पर मुसलमानो का आक्रमण हुआ। राजा उस समय राजधानी मे उपस्थित न था केवल रानी वहां मौजूद थी। मुसलमानो के आक्रमण से राज्य की किस प्रकार रक्षा की जाय इसके लिये राज्य के तमाम अधिकारियों को बड़ी चिन्ता हुई। उस समय दण्डनायक अथवा सेनाध्यक्ष के पद पर "आभू" नामक एक श्रीमाली वणिक था। वह उस समय उस पद पर नवीन ही आया था। यह व्यक्ति पक्का धर्माचरणी था। इस कारण इसकी रण चतुरता पर किसी को पक्का विश्वास न था, एक तो राजा उस समय वहां उपस्थित न था, दूसरे कोई ऐसा पराक्रमी पुरुष न था जो राज्य की रक्षा का विश्वास दिला सके और तीसरे राज्य में युद्ध के लिये पूरी सेना भी न थी। इससे रानी को और दूसरे अधिकारियों को अत्यन्त चिन्ता हो गई। अन्त मे बहुत विचार करने के पश्चात रानी ने "आभू" को अपने पास बुलाकर शहर पर आने वाले भयंकर सकट की—सूचना दी और उसकी निवृति के लिये उससे सलाह पूछी। दण्ड नायक ने अत्यन्त नम्र शब्दों में उत्तर दिया कि यदि महारानी साहिबा मुझ पर विश्वास करके युद्ध सम्बन्धी पूर्ण सत्ता मुझे सौंप देगी तो मुझे विश्वास है कि मैं अपने देश की दुश्मनों के हाथों से पूरी तरह रक्षा कर लूंगा। आभू के इस उत्साह दायक कथन से आनन्दित हो रानो ने उसी समय युद्ध

सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्ता उसके हाथ में सौंप कर युद्ध की घोषणा कर दी, सेनाध्यक्ष "आभू" ने उसी दम सैनिक सङ्गठन कर लडाई के मैदान में पडाव डाल दिया। दूसरे दिन प्रात.काल युद्ध प्रारम्भ होनेवाला था। पहले दिन सेनाध्यक्ष को अपनी सेना की व्यवस्था करते करते संध्या हो गई। यह व्रतधारी श्रावक था। दोनों वक्त प्रतिक्रमण करने का इसे नियम था। सध्या होते ही प्रतिक्रमण का समय समीप जान इसने कहीं एकान्त मे जाकर प्रतिक्रमण करने का निश्चय किया। परन्तु उसी समय उसे मालूम हुआ कि यदि वह युद्ध-स्थल को छोड कर बाहर जायगा तो सेना में विशृखला होने की संभावना है। यह मालूम होते ही उसने अन्यत्र जाने का विचार छोड़ दिया और हाथी के हौदे पर ही बैठे २ प्रतिक्रमण प्रारम्भ कर दिया। जिस समय वह प्रतिक्रमण में आये हुए "जे मे जीवा विराहिया—एगिदिया वेंगिदिया" इत्यादि शब्दों का उच्चारण कर रहा था। उसी समय किसी सैनिक ने इन शब्दों को सुन लिया। उस सैनिक ने एक दूसरे सरदार के पास जाकर कहा'—देखिये साहब ! हमारे सेनापति साहब इस युद्ध के मैदान में जहाँ पर की "मार मार" की पुकार और शस्त्रों की खन खनाहट के सिवाय कुछ भी सुनाई नहीं पड़ता है—"एगिदिया वेंगिदिया" कर रहे हैं। नरम नरम हलवे के खानेवाले ये श्रावक साहब क्या बहादुरी बतलावेंगे ? शनैः शनै. यह बात रानी के कानों तक पहुँच गई, जिससे वह बड़ी चिन्तित हो गई, पर इस समय और कोई दूसरा उपाय न था इस कारण भविष्य पर सब भार छोड़ कर वह चुप हो गई। दूसरे

दिन प्रातःकाल युद्ध आरम्भ हुआ, योग्य अवसर ढूंढ कर सेना-पति ने इतने पराक्रम और शौर्य्य के साथ शत्रु पर आक्रमण किया कि जिससे कुछ ही घड़ियों में शत्रु सेना का भयङ्कर संहार हो गया और मुसलमानों के सेनापति ने हथियारों को नीचे रख युद्ध बन्द करने की प्रार्थना की। आभू की विजय हुई। अनहिलपुर की सारी प्रजा में उसका जय जयकार होने लगा। रानी ने बड़े सम्मान के साथ उसका स्वागत किया। पश्चात् एक बड़ा दरबार करके राजा और प्रजा की ओर से उसे उचित सम्मान प्रदान किया गया। इस प्रसङ्ग पर रानी ने हँस कर कहा "दण्ड नायक! जिस समय युद्ध में व्यूह रचना करते समय तुम "एंगि दिया" का पाठ करने लग गये थे उस समय तो अपने सैनिको को तुम्हारी ओर से बड़ी ही निराशा हो गई थी। पर आज तुम्हारी वीरता को देख कर तो सभी लोग आश्चर्य्यान्वित हो रहे हैं।" यह सुन कर दण्डनायक ने नम्र शब्दों में उत्तर दिया—"महारानी! मेरा अहिंसा-व्रत मेरी आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है। 'एंगिदिया वेंगि-दिया' में वध न करने का जो नियम मैंने ले रक्खा है वह मेरे व्यक्ति गत स्वार्थ की अपेक्षा से है। देश की रक्षा के लिये अथवा राज्य की आज्ञा के लिये यदि मुझे वध अथवा हिंसा करने की आवश्यकता पड़े तो वैसा करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। मेरा यह शरीर राष्ट्र की सम्पत्ति है इस कारण राष्ट्र की आज्ञा और आवश्यकता के अनुसार इसका उपयोग होना आवश्यक है। शरीरस्थ आत्मा और मन मेरी निज की सम्पत्ति है; इन दोनों को हिंसा भाव

से अलग रखना यही मेरे अहिंसा व्रत का लक्षण है।

इस ऐतिहासिक उदाहरण से यह भली प्रकार समझ में आ जायगा कि जैन गृहस्थ के पालने योग्य अहिंसा व्रत का यथार्थ स्वरूप क्या है।

मुनियों की सूक्ष्म अहिंसा

जो मनुष्य अहिंसा व्रत का पूर्ण अर्थात् सूक्ष्म रीति से पालन करता है उसको जैन-शास्त्रों मे मुनि, भिक्षु, श्रमण अथवा संन्यासी शब्दों से सम्बोधित किया गया है। ऐसे लोग ससार के सब कामो से दूर और अलिप्त रहते हैं। उनका कर्तव्य केवल आत्मकल्याण करना तथा मुमुक्षु जनो को आत्मकल्याण का मार्ग बताना रहता है। उनकी आत्मा विषयविकार तथा कषाय भाव से बिल्कुल परे रहती है। उनकी दृष्टि में जगत् के तमाम प्राणी आत्मवत् दृष्टिगोचर होते हैं। अपने और पराये का द्वेष भाव उनके हृदय में से नष्ट हो जाता है। उनके मन वचन और काय तीनो एक रूप हो जाते है। सुख, दुख, हर्ष और शोक इन सबो मे उनकी भावनाएं सम रहती है। जो पुरुष इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे महाव्रती कहलाते हैं। वे पूर्ण अहिंसा का पालन करने में समर्थ होते हैं। ऐसे महाव्रती के लिए स्वार्थ हिंसा और परार्थ-हिंसा दोनों वर्जनीय हैं। वे सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार की हिंसाओं से मुक्त रहते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है, कि इस प्रकार के महाव्रतियो से भी खाने, पीने, उठने, बैठने में तो जीव-हिंसा का होना अनिवार्य्य है। फिर वे हिंसाजन्य पाप से कैसे बच सकते है?

यद्यपि यह बात सत्य है कि इस प्रकार के महाव्रतियों से भी उक्त क्रियाएं करने में सूक्ष्म जीव हिंसा होती रहती है। पर उनकी उच्च मनोदशा के कारण उनको हिंसाजन्य पाप का तनिक भी स्पर्श नहीं होने पाता और इस कारण उनकी आत्मा इस प्रकार के पाप बन्धन से मुक्त ही रहती है। जब तक आत्मा इस स्थूल शरीर के संसर्ग मे रहती है, तब तक इस शरीर से इस प्रकार की हिंसा का होते रहना अनिवार्य्य है। परन्तु इस हिंसा में आत्मा का किसी भी प्रकार का संकल्प व विकल्प न होने से वह उससे अलिप्त ही रहती है। महावृत्तियों के शरीर से होने वाली यह हिंसा द्रव्य अर्थात् स्वरूप हिंसा कहलाती है। भावहिंसा अथवा परमार्थ हिंसा नहीं। क्योंकि उस हिंसा का भावों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। हिंसा-जन्य पाप से वही आत्मा बद्ध होती है जो कि हिंसक भाव से हिंसा करती है। हिंसा का लक्षण बतलाते हुए जैनियों के तत्वार्थ सूत्र नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

"प्रमत्तयोगा प्राणव्य परोपणं हिंसा"

अर्थात् प्रमत्त भाव से जो प्राणियों के प्राणों का नाश किया जाता है, उसी को हिंसा कहते हैं। जो प्राणी विषय अथवा कषाय के वशीभूत होकर किसी प्राणी को कष्ट पहुँ-चाता है वही हिंसाजन्य पाप का भागी होता है। इस हिंसा की व्याप्ति केवल शरीर जन्य कष्ट तक ही नहीं पर मन और वचन जन्य कष्ट तक है। जो विषय तथा कषाय के वशीभूत होकर दूसरों के प्रति अनिष्ट चिन्तन या अनिष्ट भाषण करता है वह भी भाव हिंसा का दोषी माना जाता

है। इसके विपरीत विषय और कषाय से विरक्त मनुष्य के द्वारा किसी प्रकार की हिंसा भी हो जाय तो उसकी वह हिंसा परमार्थहिंसा नहीं कहलाती। मान लीजिये कि एक बालक है उसके अन्तर्गत किसी प्रकार की खराब प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्ति से रुष्ट होकर उसका पिता अथवा गुरु केवल मात्र उसकी कल्याण कामना से प्रेरित होकर कठोर वचनों से उसका ताड़न करते हैं, अथवा उसे शारीरिक दण्ड भी देते हैं, तो इसके लिए कोई भी उस गुरु अथवा पिता को दण्डनीय अथवा निन्दनीय नहीं मान सकता, क्योंकि वह दण्ड देते समय पिता तथा गुरु की वृत्तियों में किसी प्रकार की मलिनता के भाव न थे, उनके हृदय में उस समय भी उज्वल अहिंसक और कल्याण कारक भाव कार्य्य कर रहे थे। इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य द्वेषभाव के वश में होकर किसी दूसरे व्यक्ति को मारता है अथवा गालियां देता है तो समाज मे निन्दनीय और राज्य से दण्डनीय होता है। क्योंकि उस व्यवहार में उसकी भावनाएँ कलुषित रहती हैं—उसका आशय दुष्ट रहता है। यद्यपि उपरोक्त दोनो प्रकार के व्यवहारो का वाह्य स्वरूप एक ही प्रकार का है तथापि भावनाओं के भेद से उनका अन्तर्रूप बिल्कुल एक दूसरे से विपरीत है। इसी प्रकार का भेद द्रव्य और भाव हिंसा के स्वरूप में होता है।

वास्तव मे यदि देखा जाय तो हिंसा और अहिंसा का रहस्य मनुष्य की मनोभावना पर अवलम्बित है। किसी भी कर्म के शुभाशुभ वन्ध का आधार कर्त्ता के मनोभाव पर अवलम्बित है। जिस भाव से प्रेरित होकर मनुष्य जो कर्म करता है उसी के

अनुसार उसे उसका फल मिलता है। कर्म की शुभाशुभता उसके स्वरूप पर नहीं, प्रत्युत्त कर्त्ता की मनो भावनाओं पर निर्भर है। जिस कर्म के करने में कर्त्ता का विचार शुभ है वह शुभ कर्म कहलाता है और जिसके करने में उसके विचार अशुभ हैं वह कर्म्म अशुभकर्म कहलाता है। एक डाक्टर किसी प्रकार की अस्त्र क्रिया करने के निमित्त बीमार को क्लोरोफार्म सुंघाकर वेहोश करता है, और एक चोर अथवा खूनी उसका धन अथवा प्राण हरने के निमित्त वेहोश करता है। क्रिया की दृष्टि से दोनों कर्म बिल्कुल एक हैं। पर फल की दृष्टि से यदि देखा जाय तो डाक्टर को उस कार्य के बदले में सम्मान मिलता है और चोर तथा खूनी को सजा तथा फांसी मिलती है। कर्म के स्वरूप में कुछ भी अन्तर न होते हुए भी फल के स्वरूप में इतना अन्तर क्यों पड़ता है इसका एक मात्र कारण यही है कि कर्म करने वाले के भाव में बिल्कुल विपरीतता होने से उसके फल में भी विपरीतता दृष्टि गोचर होती है। इसी फल के परिणाम पर से कर्त्ता के मनोभावों का निष्कर्ष निकाला जाता है, इसी मनोभाव के प्रमाण से कर्म की शुभाशुभता का निश्चय किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप का मूल भूत केवल "मन" है भागवत धर्म के "नारद पंचरत्न" नामक ग्रन्थ में एक स्थल पर कहा है कि—

"मानसं प्राणिनामेव सर्वकर्मैक कारणम्।
मनोऽरूपं वाक्यं च वाक्येन प्रस्फुटं मन. ॥"

अर्थात्—प्राणियों के तमाम कर्मों का मूल एक मात्र मन ही है। मन के अनुरूप ही मनुष्य की वचन आदि प्रवृत्तियाँ

होती हैं और इन्हीं प्रवृत्तियो के द्वारा मन का रूप प्रकट होता है।

इस प्रकार तमाम कर्मों के अन्तर्गत मन की ही प्रधानता रहती है। इस कारण आत्मिक विकास में सब से प्रथम मन को शुद्ध और सयत बनाने की आवश्यकता है। जिसका मन इस प्रकार शुद्ध और संयत बन गया है, यद्यपि वह जब तक देह धारण करता है तब तक कर्मों से अलग नहीं रह सकता, तथापि उनमें निर्लिप्त अवश्य रहता है। गीता मे कहा है कि—

"नाहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्मण्य शेषत
योग युक्तो भूतात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः
सर्व भूतात्म भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।

गीता के इस कथनानुसार जो योगयुक्त विशुद्धात्मा, जितेन्द्रिय और सब जीवों में आत्म-बुद्धि रखने वाला पुरुष है वह कर्म करता हुआ भी उससे निर्लिप्त रहता है।

उपरोक्त सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट होजाती है कि जो सर्व व्रती और पूर्ण त्यागी मनुष्य है, उससे यदि सूक्ष्म कायिक हिंसा होती भी है तो वह उसके फल का भोक्ता नहीं हो सकता। क्योंकि उससे होनेवाली उस हिंसा मे उसके भाव रंच-मात्र भी अशुद्ध नहीं होने पाते और हिंसक भावो से रहित होनेवाली हिंसा हिंसा नहीं कहलाती। "आवश्यक महाभाष्य" नामक जैन ग्रन्थ मे कहा है कि—

"असुभ परिणाम हेउ जीवा वाहो त्तितो मयं हिंसा
जस्स उन सो निमित्तं संतो विन तस्स सा हिंसा।"

अर्थात् किसी जीव को कष्ट पहुँचाने में जो अशुभ परिणाम

निमित्त भूत होते हैं, उन्हीं को हिंसा कहते हैं। और बाह्य दृष्टि से हिंसा मालूम होने पर भी जिसके अन्तर्परिणाम शुद्ध रहते हैं वह हिंसा नहीं कहलाती।

धर्मरत्न मंजूषा में कहा है कि—

जंन हु भणि ओ वंधो जीवस्स वहेवि समिइ गुत्ताणं
भावो तत्थ पमाणं न पनाणं काय वा वारो।

अर्थात् समिति गुप्त युक्त महावृत्तियो से किसी जीव का वध हो जाने पर भी उन्हे उसका वन्ध नहीं होता, क्योंकि वन्ध में मानसिक भाव ही कारण भूत होते हैं। कायिक व्यापार नहीं।

इससे विपरीत जिसका मन शुद्ध अथवा संयत नहीं है, जो विषय तथा कषाय से लिप्त है वह वाह्य स्वरूप में अहिंसक दिखाई देने पर भी हिंसक ही है। उसके लिए स्पष्ट कहा गया है कि :—

"अहणं तो विहिंसों दुदत्ताण ओमओ अहिंम रोव्व"

जिसका मन दुष्ट भावों से भरा हुआ है वह यदि कायिक रूप से किसी को न भी मारता है, तो भी हिंसक ही है।

यही जैन-धर्म की अहिंसा का संक्षिप्त स्वरूप है।

जैन-अहिंसा और मनुष्य-प्रकृति

अब इस स्थान पर हम जैन-अहिंसा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी कुछ विचार करना आवश्यक समझते हैं। क्योंकि कोई भी सिद्धान्त या तत्त्व तब तक मनुष्य समाज मे समष्टिगत नहीं हो सकता जब तक कि उसका मनस्तत्व अथवा मनोविज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध न हो जाय।

आदर्श और व्यवहार में कभी २ बड़ा अन्तर हो जाया करता है। यह अवश्य है कि आदर्श हमेशा पवित्र और आत्मा को उन्नति के मार्ग में लेजाने वाला होता है पर यह आवश्यक नहीं कि वह हमेशा मनुष्य-प्रकृति के अनुकूल हो। हम यह जानते हैं कि अहिंसा और क्षमा दोनों वस्तुएं बहुत ही उज्वल एव मनुष्यजाति को उन्नति के पथ में लेजाने वाली हैं। यदि इन दोनो का आदर्श रूप संसार मे प्रचलित हो जाय तो ससार मे आज ही युद्ध, रक्तपात और जीवन-कलह के दृश्य मिट जांय और शान्ति की सुन्दर तरिङ्गिणी वहने लगे। पर यदि कोई इस आशा से कि ये तत्व ससार में समष्टिगत हो जायं प्रयत्न करना प्रारम्भ करे तो यह कभी सम्भव नहीं कि वह सफल हो जाय। इसका मूल कारण यह है कि समाज की समष्टिगत प्रकृति इन तत्वो को एकान्त रूप से स्वीकार नहीं कर सकती।

प्रकृति ने मनुष्य स्वभाव की रचना ही कुछ ऐसे ढङ्ग से की है कि जिससे वह शुद्ध आदर्श को ग्रहण करने मे असमर्थ रहता है। मनुष्य प्रकृति की वनावट ही पाप और पुण्य, गुण और दोष एव प्रकाश और अन्धकार के मिश्रण से की गई है। चाहे आप इसे प्रकृति कहे, चाहे विकृति पर एक तत्व ऐसा मनुष्य स्वभाव में मिश्रित है कि जिससे उसके अन्तर्गत उत्साह के साथ प्रमाद का, क्षमा के साथ क्रोध का, बन्धुत्व के साथ अहङ्कार का और अहिंसा के साथ हिंसक-प्रवृति का समावेश अनिवार्य रूपसे पाया जाता है। कोई भी मनस्तत्व का वेत्ता मनुष्य हृदय की इस प्रकृति या विकृति की उपेक्षा नहीं कर सकता। यह

अवश्य है कि मनुष्य-हृदय की यह विकृति जब अपनी सीमा से बाहर होने लगती है, जब यह व्यष्टिगत से समष्टिगत होने लगती है तब कोई महापुरुष अवतीर्ण होकर इसको पुनः सीमाबद्ध कर देते हैं। पर यह तो कभी सम्भव नहीं कि मनुष्य-प्रकृति की इस कुप्रवृति को बिल्कुल ही नष्ट कर दिया जाय। आज तक संसार के किसी भी अतीत इतिहास में इस प्रकार का दृश्य देखने को नहीं मिलता। जिस प्रकार शुद्ध ऑक्सिजन वायु से वायुमण्डल का कार्य्य नहीं चल सकता उसी प्रकार केवल आदर्श से भी समाज का व्यवहार बराबर नहीं चल सकता। बिना व्यवहार की उचित मात्रा के मिलाए वह समष्टिगत उपयोगी नहीं हो सकता। अतएव सिद्ध हुआ कि अहिंसा, क्षमा, दया आदि के भाव उसी सीमा तक मनुष्य समाज के लिए उपयोगी और अमलयात्मा हो सकते हैं जब तक मनोविज्ञान से उनका दृढ़ सम्बन्ध बना रहता है।

आधुनिक संसार के अन्तर्गत दो परस्पर विरुद्ध मार्ग एक साथ प्रचलित हो रहे हैं। एक मार्ग तो अहिंसा, क्षमा, दया आदि को केवल मनुष्य के काल्पनिक भाव बतलाता हुआ एवं उनका मखौल उड़ाता हुआ, हिंसा, युद्ध, बन्धु-विद्रोह आदि का समर्थन कर "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत का अनुगामी हो रहा है। उसका आदर्श इहलोकिक सुख की पूर्णता ही में समाप्त होता है। और दूसरा पक्ष ऐसा है जो मनुष्य जाति को बिल्कुल शुद्ध आदर्श का सन्देशा देना चाहता है। वह मनुष्य जाति को उस ऊंचे आदर्श पर ले जाकर स्थित करना चाहता है जिस स्थान पर जाकर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता-

देवता हो जाता है। पहले पथ के पथिक यूरोप के आधुनिक राजनीतिज्ञ हैं और दूसरे के टालस्टाय, रस्किन और महात्मा गांधी के समान मानवातीत (Superhuman) श्रेणी के महापुरुष।

इन आधुनिक महापुरुषों ने अहिंसा आदि का बहुत ही उज्वल स्वरूप मानवजाति के सम्मुख रक्खा है। यह उज्वलरूप इतना सुन्दर है कि यदि मनुष्यजाति में इसका समष्टि रूप से प्रचार हो जाय तो यह निश्चय है कि संसार स्वर्ग हो जाय और मनुष्य देवता। पर हमारी नाकिस राय में यह जंचता है कि मनुष्यत्व का इतना उज्वल सौन्दर्य देखने के लिए मनुष्यजाति तैयार नहीं। सम्भव है इस स्थान पर हमारा कई विद्वानों से मतानैक्य हो जाय पर हम तो नम्रता-पूर्वक यही कहेंगे कि कुछ मानवातीत महापुरुषों को छोड़ कर सारी मानवजाति के लिए यह रूप व्यवहारिक नहीं हो सकता। मनुष्य की प्रकृति में जो विकृति छिपी हुई है वह इसे सफल नहीं होने दे सकती और इसीलिए मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे हम कुछ अव्यवहारिक भी कहें तो अनुचित न होगा।

पर भगवान् महावीर की अहिंसा में यह दोष या अतिरेक कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे यह न समझना चाहिए कि महावीर ने अहिंसा का ऐसा उज्वल रूप निर्मित ही नहीं किया, उन्होंने इससे भी बहुत ऊंचे और महत रूप की रचना की है। पर वह रूप केवल उन्हीं थोड़े से महान् पुरुषों के लिए रक्खा है जो उसके बिल्कुल योग्य हैं, जो संसार और गार्हस्थ्य से अपना सम्बन्ध छोड़ चुके हैं। और जो साधारण मनुष्य-प्रकृति

से बहुत ऊपर उठ गये हैं। महावीर भली प्रकार इस बात को जानते थे कि साधारण मनुष्यजाति इस उज्वल रूप को ग्रहण करने में असमर्थ है, वह इस आदर्श को अमल में ला नहीं सकती और इसीलिए उन्होंने साधारण गृहस्थों के लिए उसका उतना ही अंश रक्खा जिसका वे स्वभावतय: ही पालन करसकें और वहां से क्रमशः अपनी उन्नति करते हुए अपने मंजिले मकसूद पर पहुँच जायं।

किस सीमा तक मनुष्य अपनी हिंसक-प्रवृत्ति पर अधिकार रख सकता है और उस सीमा से अधिक कन्ट्रोल अनधिकार अवस्था में रखने से किस प्रकार उसका नैतिक अध:पात हो जाता है एवं किस सीमा पर जाकर उसकी यह हिंसक-प्रवृत्ति क्रूर रूप धारण कर लेती है और उसपर कैसे संयम किया जा सकता है आदि सब बातों का समाधान जैन-अहिंसा का सूक्ष्म अध्ययन करने से हो सकता है। यह विषय ऐसा गहन है कि संक्षिप्त में इसको बतलाना असम्भव है। हमारा मतलब केवल इतना ही है कि महावीर की जैन-अहिंसा मनोविज्ञान की कसौटी पर भी बिल्कुल खरी उतरती है। जो जिज्ञासु तुलनात्मक ढङ्ग से इसका विस्तृत अध्ययन करना चाहे उन्हें आधुनिक महात्माओं की अहिंसा और जैन-अहिंसा का सूक्ष्म-दृष्टि से अवश्य अध्ययन करना चाहिए।

दूसरा अध्याय

स्याद्वाद-दर्शन

अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर "थामस" का कथन है। कि "न्याय-शास्त्र में जैन-न्याय का स्थान बहुत ऊँचा है इसके कितने ही तर्क पाश्चात्य तर्क-शास्त्र के नियमों से बिल्कुल मिलते हुए हैं। स्याद्वाद का सिद्धान्त बड़ा ही गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।"

इटालियन विद्वान् डा० टेसीटोरी का कथन है कि जैन-दर्शन के मुख्य तत्व विज्ञान-शास्त्र के आधार पर स्थित हैं। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि ज्यो ज्यो पदार्थ विज्ञान् की उन्नति होती जायगी, त्यों त्यों जैन-धर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक प्रमाणित होते जायँगे।

जैन-तत्व-ज्ञान की प्रधान नींव स्याद्वाद-दर्शन पर स्थित है। डाक्टर हर्मन जेकोबी का कथन है कि इसी स्याद्वाद के ही प्रताप से महावीर ने अपने प्रतिद्वन्द्वियो को परास्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। सञ्जय के "अज्ञेयवाद" के बिल्कुल प्रतिकूल इसकी रचना की गई थी।

जो कुछ हो यह तो निश्चय है कि स्याद्वाद-दर्शन संसार के तत्वज्ञान में अपना एक खास स्थान रखता है। स्याद्वाद का अर्थ है—वस्तु का भिन्न भिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करना, देखना या कहना। स्याद्वाद का एक ही शब्द मे हम अर्थ करना चाहे तो उसे "अपेक्षावाद" कह सकते हैं। एक ही वस्तु में अमुक अमुक अपेक्षा से भिन्न भिन्न धर्मों को स्वीकार करने ही का नाम स्याद्वाद है। जैसे एक ही पुरुष भिन्न भिन्न लोगों की अपेक्षा से पिता, पुत्र, चाचा, भतीजा, पति, मामा, भानेज आदि माना जाता है। उसी प्रकार एक ही वस्तु मे भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न भिन्न धर्म माने जाते हैं। एक ही घट में नित्यत्व और अनित्यत्व आदि विरुद्ध रूप में दिखाई देनेवाले धर्मों को अपेक्षा-दृष्टि से स्वीकार करने ही का नाम "स्याद्वाद-दर्शन" है।

वस्तु का स्वरूप ही कुछ ऐसे ढङ्ग का है कि वह एक ही समयमे एक ही शब्द के द्वारा पूर्णतया नहीं कहा जा सकता। एक ही पुरुष अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता, अपने भतीजे की अपेक्षा से चचा, और अपने चचा की अपेक्षा से भतीजा होता है। इस प्रकार परस्पर दिखाई देनेवाली बातें भी भिन्न २ अपेक्षाओं से एक ही मनुष्य में स्थित रहती हैं। यही हालत प्रायः सभी वस्तुओं की है। भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से सभी वस्तुओं में सत्, असत् नित्य और अनित्य आदि गुण पाये जाते हैं।

मान लीजिए एक घड़ा है, हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घड़ा बनता है उसी से और भी कई प्रकार के बर्तन बनते हैं।

पर यदि उस घड़े को फोड़ कर हम उसी मिट्टी का बनाया हुआ कोई दूसरा पदार्थ किसी को दिखलावे तो वह कदापि उसको घड़ा नहीं कहेगा। उसी मिट्टी और द्रव्य के होते हुए भी उसको घड़ा न कहने का कारण यह है कि उसका आकार उस घड़े का सा नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि घडा मिट्टी का एक आकार विशेष है। मगर यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि आकार विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता, आकार परिवर्तित की हुई मिट्टी ही जब घड़ा, सिकोरा, मटका आदि नामों से सम्बोधित होती है, तो ऐसी स्थिति में ये आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं कहे जा सकते। इससे साफ जाहिर है कि घड़े का आकार और मिट्टी ये दोनों घडे के स्वरूप हैं। अब देखना यह है कि इन दोनों रूपों में विनाशी रूप कौन सा है और ध्रुव कौन सा? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घड़े का आकार स्वरूप विनाशी है। क्योंकि घड़ा फूट जाता है—उसका रूप नष्ट हो जाता है। पर घडे का जो दूसरा स्वरूप मिट्टी है वह अविनाशी है क्योंकि उसका नाश होता ही नहीं, उसके कई पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं।

इतने विवेचन से हम इस बात को स्पष्ट समझ सकते हैं कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा ध्रुव। इसी बात को यदि हम यों कहें कि विनाशी रूप से घड़ा अनित्य है, और ध्रुव रूप से नित्य है तो कोई अनुचित न होगा, इसी तरह एक ही वस्तु में नित्यता और अनित्यता सिद्ध करनेवाले सिद्धान्त ही को स्याद्वाद कहते हैं।

स्याद्वाद की सीमा केवल नित्य और अनित्य इन्हीं दो बातों

में समाप्त नहीं हो जाती, सत् और असत् आदि दूसरे विरुद्ध-रूप में दिखलाई देनेवाली बातें भी इस तत्त्व-ज्ञान के अन्दर सम्मिलित हो जाती हैं। घड़ा आंखों से स्पष्ट दिखलाई देता है। इससे हर कोई सहज ही कह सकता है कि "वह सत् है।" मगर न्याय कहता है कि अमुक दृष्टि से वह "असत्" भी है। यह बात बड़ी गम्भीरता के साथ मनन करने योग्य है कि प्रत्येक पदार्थ किन बातों के कारण "सत्" कहलाता है। रूप, रस, गन्ध आकारादि अपने ही गुणों और अपने ही धर्मों से प्रत्येक पदार्थ "सत्" होता है। दूसरे के गुणों से कोई पदार्थ "सत्" नहीं कहला सकता। एक स्कूल का मास्टर अपने विद्यार्थी की दृष्टि से "मास्टर" कहला सकता है। एक पिता अपने पुत्र की दृष्टि से पिता कहला सकता है। पर वही मास्टर और वही पिता दूसरे की दृष्टि से मास्टर या पिता नहीं कहला सकता। जैसे स्वपुत्र की अपेक्षा से जो पिता होता है वही पर पुत्र की अपेक्षा से पिता नहीं होता है उसी तरह अपने गुणों से, अपने धर्मों से, अपने स्वरूप से जो पदार्थ सत् है, वही दूसरे पदार्थ के धर्मों से, गुणों से और स्वरूप से "सत्" नहीं हो सकता है *। जो वस्तु "सत्" नहीं है, उसे "असत्" कहने में कोई दोष उत्पन्न नहीं हो सकता।

---

* इसी विषय को अनेकान्त जयपताका में श्री हरिभद्रसूरि इस प्रकार कहते हैं —

"यद्वस्तुतः स्व-द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण सद् वर्तते, परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण चासत्। ततश्च सच्चासच्च भवति। अन्यथा तदभाव-प्रसङ्गात् ([illegible] वस्तुनोऽभावप्रसङ्गात्) इत्यादि। अनेकान्त जयपताका पृष्ठ ३०।

इस प्रकार भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से वस्तु को "सत्" और "असत्" कहने में विचारशील विद्वानों को कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। एक कुम्हार है, वह यदि कहे कि "मैं सुनार नहीं हूँ" तो इस बात में वह कुछ भी अनुचित नहीं कह रहा है। मनुष्य की दृष्टि से यद्यपि वह "सत्" है तथापि सुनार की दृष्टि से वह "असत्" है। इस प्रकार अनुसन्धान करने से एक ही व्यक्ति में "सत्" और "असत्" का स्याद्वाद बराबर सिद्ध हो जाता है। किसी वस्तु को "असत्" कहने से यह मतलब नहीं है कि हम उसके "सत्" धर्म के विरुद्ध कुछ बोल रहे हैं। प्रत्युत हम तो दूसरी अपेक्षा से उसका वर्णन कर रहे हैं। इसी बात को Dialogues of Plato में प्लेटो इस प्रकार लिखते हैं—

When we speak of not being we speak, I suppose not of something opposed to being but only different

जगत के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीन धर्मों से युक्त हैं। उदाहरण के लिये एक लोहे की तलवार ले लीजिए। उसको गला कर उसकी "कटारी" बना ली। इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि तलवार का विनाश होकर कटारी की उत्पत्ति हो गई। लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि तलवार बिल्कुल ही नष्ट हो गई अथवा कटारी बिल्कुल नई बन गई। क्योंकि तलवार और कटारी का जो मूल तत्व है वह तो अपनी उसी स्थिति में मौजूद है। विनाश और उत्पत्ति तो केवल आकार की हुई। इस उदाहरण से—तलवार को तोड़ कर कटारी बनाने में—तलवार के आकार का नाश, कटारी के आकार की उत्पत्ति और लोहे की स्थिति ये तीनों बातें भली भांति सिद्ध

हो जाती हैं। वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ये तीन गुण स्वभावतया ही रहते हैं। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है तो इससे यह न समझना चाहिये कि उसके मूल तत्व ही नष्ट हो गये। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप का होता है। सूक्ष्म परमाणु तो हमेशा स्थित रहते हैं, वे सूक्ष्म परमाणु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर नवीन रूपों का प्रादुर्भाव करते रहते हैं। सूर्य्य की किरणों से पानी सूख जाता है पर इससे यह समझ लेना मूर्खता है कि पानी का अभाव हो गया है। पानी चाहे किसी रूप में क्यों न हो, बराबर स्थित है। यह हो सकता है, उसका वह सूक्ष्म रूप हमें दिखाई न दे पर यह तो कभी सम्भव नहीं कि उसका अभाव हो जाय। यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई मूल वस्तु नष्ट ही होती है और न नवीन ही उत्पन्न होती है। इन मूल तत्वों में जो अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं वह विनाश और उत्पाद हैं। इससे सारे पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीन गुणों वाले सिद्ध होते हैं।

आधुनिक पदार्थ-विज्ञान का भी यही मत है वह कहता है कि "मूल प्रकृति ध्रुव स्थिर है और उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ उसके रूपान्तर-परिणामान्तर मात्र हैं।" इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के जैन-सिद्धान्त का विज्ञान भी पूर्ण समर्थन करता है।

इन तीनों गुणों में से जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है उसे जैन-शास्त्र द्रव्य कहते हैं, एवं जिसकी उत्पत्ति और नाश होता है उसको पर्याय कहते हैं। द्रव्य की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ नित्य हैं और पर्याय से अनित्य हैं। इस प्रकार प्रत्येक

पदार्थ को न एकान्त-नित्य और न एकान्त-अनित्य बल्कि नित्यानित्य रूप से मानना ही "स्याद्वाद" है।

इसके सिवाय एक वस्तु के प्रति "सत्" और "असत्" का सम्बन्ध भी ध्यान में रखना चाहिए। हम ऊपर लिख आये हैं कि एक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से "सत्" है और दूसरी वस्तु के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वही असत् है। जैसे वर्षा ऋतु में इन्दौर के अन्तर्गत मिट्टी का बना हुआ लाल घड़ा है। वह द्रव्य से मिट्टी का है, मृत्तिका रूप है, जल रूप नहीं। क्षेत्र से इन्दौर का है, दूसरे क्षेत्रों का नहीं। काल से वर्षा ऋतु का है, दूसरे समय का नहीं। और भाव से लालवर्ण वाला है, दूसरे वर्ण का नहीं। संक्षिप्त में प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप ही से "अस्ति" कही जा सकती है। दूसरे के स्वरूप से वह "नास्ति" ही कहलायगी।

किसी भी वस्तु को हम यदि केवल "सत्" ही कह दें, या केवल "असत्" कहें तो इससे उसका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। इस बात को स्पष्ट करते हुए हरिभद्र सूरि कहते हैं :—

"सद सद्रूपस्य वस्तुनो व्यवस्थापितत्वात्। सवेदन स्यापिंच वस्तुत्वात्। तथा युक्ति सिद्धश्च। तथाहि सवेदनं पुरोऽव्यवस्थित घटादौ तदभावेत् रा भावाध्यवसायरूप मेवो पजायते।" नचसदसद्रूपेवस्तुति सन्मात्र प्रात भी स्वये तत्वन् स्तत् प्रतिभा स्येत्र, सम्पूर्णार्थो प्रतिभा सनात्। नरसिंह-सिंह सवेदनवत्। नचेत उभय प्रतिभासिन संवेद्यते तदन्य विविक्तता विशिष्ट स्यैव संवित्तै। तदन्य विविक्तत्ता च भावः।

अनेकान्त जयपताका पृष्ठ ६३

मतलब यह कि "सदसद्रूप वस्तु का केवल सदात्मक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान नहीं है। क्योंकि वह सम्पूर्ण अर्थ को प्रतिभासित नहीं कर सकता। जिस प्रकार केवल सिंह के ज्ञान ही से नरसिंह का ज्ञान पूरा नहीं होता उसी प्रकार एक कथन से वस्तु का पूर्णाभास नहीं हो सकता। क्योंकि संवित्ति तदन्य विविक्तता से विशिष्ट है। तदन्य विविक्तता अर्थात् अभाव"*।

वस्तुमात्र में सामान्य और विशेष ये दो धर्म पाये जाते हैं। सामान्य धर्म उसके "सत्" गुण का सूचक है। और विशेष

---

* इसी बात को जहान केर्ड निम्न प्रकार से कहते हैं—

Nor, again, can you reach this unity mere'y by predication or affirmation, by asserting that is, of each part or member that it is and what it is ! On the contrary, in order to apprehend it, with your thought of what it is you must inseparably connect that also of what it is not You cannot determine the particular number or organ save by reference to that which is its limit or egatism. It does not exist in and by itseif . . It can exist only as it denies or gives up any seperate self-indexical being and life only as it finds its life in the larger life ana being of the whole you cannot apprehend its true nature under the category of being alone for at every moment of its existence it at once is and is not; it is in giving up or losing itself, its true being is in ceasing to be its notion includes negation as well as affirmation "

An Introduction to the Philosophy of Religion P. 219.

उसके "असत्" गुण का सूचक है। सौ घड़े हैं, सामान्य दृष्टि से वे सब घड़े हैं; इसलिये "सत्" हैं। मगर लोग उनमें से भिन्न भिन्न घड़ो को पहचान कर जब उठा लेते हैं तब यह मालूम होता है कि प्रत्येक घड़े में कुछ न कुछ विशेषता है या भिन्नता है। यह भिन्नता ही उनका विशेष गुण है। जब कोई मनुष्य अकस्मात् दूसरे घड़े को उठा लेता है और यह कह कर कि "यह मेरा नहीं है" वापस रख देता है। उस समय उस घड़े का नास्तित्व प्रमाणित होता है। "मेरा" के आगे जो "नहीं" शब्द है वही नास्तित्व का सूचक है। यह घड़ा है इस सामान्य धर्म से घड़े का अस्तित्व साबित होता है। मगर "यह घड़ा मेरा नहीं है" इस विशेष धर्म से उसका नास्तित्व भी साबित होता है। अत. सामान्य और विशेष धर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु को "सत्" और "असत्" समझना ही स्याद्वाद * है।

शंकराचार्य्य का आक्षेप

जगद्गुरु शङ्कराचार्य्य ने स्याद्वाद का विशेष पृथक्करण किये बिना ही इस तत्वज्ञान का खण्डन कर डाला है। खण्डन करते समय उन्होंने पूर्व पक्ष का पूर्ण विवेचन भी नहीं किया है। सप्तभङ्गी का—"स्यादस्ति" वर्णन करते समय उन्होंने "स्वरू-

* यह विषय बहुत ही गहन है। इसकी विशेष जानकारी के लिये कुन्दकुन्दाचार्य्य का प्रवचन सार, समय सार आदि और हरिभद्र सूरि की अनेकान्त जय पताका आदि पढना चाहिये।

पेण" और "पररूपेण" इन दो अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्दों की बिल्कुल उपेक्षा कर दी है। उन्होंने इन शब्दो पर लेश मात्र भी लक्ष्य नही किया है। और इसी भयङ्कर भूल की जड़ पर उनके खण्डन की इमारत खड़ी हुई है। वे कहते हैं:—

न हये कस्मिन धर्मिणि युगपत्सद्सत्वादि
विरुद्ध धर्म समावेशः स भवति शीतोष्णवत ॥

(शाङ्कर भाष्य २-२-२२,)

अर्थात्—"जिस प्रकार एक ही वस्तु मे शीत और उष्ण एक साथ नहीं हो सकते उसी प्रकार एक वस्तु मे एक साथ सद सदात्मक धर्म का समावेश होना असम्भव है।

यदि शङ्कराचार्य्य "स्वरुपेण" और "पर रुपेण" इन दो शब्दों को ध्यान मे रखते और सत् एवं असत् शब्द को पूर्व पक्ष के अर्थ मे समझने का प्रयत्न करते तो उनको मालूम होता कि सत् और असत् ये दोनों धर्म शीत और उष्ण की तरह विरोधी नही है प्रत्युत अपेक्षाकृत हैं। इसका खुलासा एक अंग्रेजी कोटेशन के साथ हम पहले कर चुके हैं।

इस तत्वज्ञान पर उनका दूसरा आक्षेप यह है कि जिसका स्वरूप अनिर्धारित है, वह ज्ञान संशय की तरह प्रमाण भूत नहीं हो सकता। (अनिर्धारित रुपं ज्ञानं सशय ज्ञानवन् प्रमाण मेव न स्यात्) यह आक्षेप और इसी तरह के किये हुए दूसरे लोगो के आक्षेप "अनेकान्तता" को संशयवाद गिनने की की भयङ्कर भूल के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए हैं। जो लोग स्याद्वाद को संशयवाद समझते हैं वे भारी भ्रम में है। काली रात के अन्तर्गत किसी रस्सी को देख कर यह कहना कि "यह

रस्सी है या सर्प" अवश्य संशयवाद है। क्योंकि इसमें निश्चय कुछ भी मालूम नहीं होता, पर स्याद्वाद में इस प्रकार का संशय कहीं भी नहीं पाया जाता। स्याद्वाद तो कहता है कि एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न अपेक्षा से देखना चाहिये। लोहे का कड़ा लोहे की अपेक्षा से "नित्य" है यह निश्चित और ध्रुव है। इसी प्रकार वह "कडे" की अपेक्षा से अनित्य है यह भी निश्चित है और कड़े की दृष्टि से वह सत् एवं तलवारों को दृष्टि से वह "असत्" है यह भी निश्चित है, इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं। फिर यह संशय वाद कैसा? प्रोफेसर आनन्द शङ्कर ध्रुव लिखते हैं कि—

"स्याद्वाद का सिद्धान्त अनेक सिद्धान्तों को देख कर उनका समन्वय करने के लिये प्रकट किया गया है। स्याद्वाद हमारे सम्मुख एकीभाव की दृष्टि उपस्थित करता है। शङ्कराचार्य्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किया है उसका मूल तत्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टि-विन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना किसी वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। इसलिये स्याद्वाद उपयोगी और सार्थक है। महावीर के सिद्धान्तों में बताये गये स्याद्वाद को कोई संशयवाद बतलाते हैं मगर मैं यह बात नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है। वह हमको एक मार्ग बतलाता है, वह हमें सिखलाता है कि विश्व का अवलोकन किस प्रकार करना चाहिए।"

शङ्कराचार्य्य और जैन मत के बीच में जो विरोध है, वह वस्तु स्वभाव के ख़याल से सम्बन्ध रखता है। शङ्कराचार्य्य जगत् को एक मात्र ब्रह्ममय मानते हैं। जब कि जैनमत अने-

कान्ततत्व का प्रतिपादन करता है। यदि शङ्कराचार्य्य इस दृष्टि से खण्डन करने का प्रयत्न करते तो उनके लिये ठीक भी था। पर उनका किया हुआ यह खण्डन तो बिल्कुल भ्रम-मूलक है।

"स्यात्" शब्द का अर्थ "कदाचित्" "शायद" आदि संशय मूलक शब्दों में न करना चाहिये। इसका वास्तविक अर्थ है "अमुक अपेक्षा से।" इस प्रकार वास्तविक अर्थ करने मे इसे कोई संशयवाद नहीं कह सकता।

विशाल दृष्टि से दर्शन-शास्त्रों का अवलोकन करने पर हमें मालूम होता है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी तरह से प्रत्येक दर्शनकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। सत्व, रज और तम इन विरुद्ध गुण वाली तीन प्रकृतियों को माननेवाला सांख्य-दर्शन, पृथ्वी को परमाणु रूप से नित्य और स्थूल रूप से अनित्य मानने वाला नैयायिक तथा द्रव्यत्व, पृथ्वीत्व, आदि धर्मों का सामान्य और विशेष रूप से स्वीकार करने वाला और वैशेषिक दर्शन, अनेक वर्णयुक्त वस्तु के अनेक वर्णाकार वाले एक चित्र ज्ञान को जिसमे अनेक विरुद्ध वर्ण प्रतिभासित होते हैं, मानने वाला बौद्ध-दर्शन, प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय आकार वाले एक ज्ञान को जो उन तीन पदार्थों का प्रतिभास रूप है, मंजूर करने वाला मीमांसक-दर्शन और अन्य प्रकार से दूसरे दर्शन भी स्याद्वाद को अर्थतः स्वीकार करते हैं।

एक प्राचीन लेखक लिखते हैं—"जाति और व्यक्ति इन दो रूपों से वस्तु को बताने वाले भट्ट स्याद्वाद की उपेक्षा नहीं कर सकते। आत्मा को व्यवहार से बद्ध और परमार्थ से अबद्ध

मानने वाले ब्रह्मवादी स्याद्वाद का तिरस्कार नहीं कर सकते। भिन्न भिन्न नयों की अपेक्षा से भिन्न भिन्न अर्थों का प्रति पादन करने वाले वेद भी सर्वतन्त्र सिद्ध स्याद्वाद को धिक्कार नहीं दे सकते।"

सप्त भङ्गी

वस्तुत्व के स्वरूप का सम्पूर्ण विचार प्रदर्शित करने के लिए जैनाचार्यों ने सात प्रकार के वाक्यों की योजना की है—वह इस प्रकार है—

१	स्यादस्ति	कथंचित है
२	स्यान्नास्ति	" नहीं है
३	स्यादस्तिनास्ति	" है और नहीं है।
४	स्यादवक्तव्यम्	कथंचित अवाच्य है
५	स्यादस्ति अवक्तव्यमृच	" है और अवाच्य है।
६	स्यान्नास्ति अवक्तव्यमृच	" नहीं और अवाच्य है।
७	स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यंच	" है नहीं और अवाच्य है।

१—प्रथम शब्द प्रयोग—'यह निश्चित है कि घट "सत्" है मगर "अमुक अपेक्षा से" इस वाक्य से अमुक दृष्टि से घट में मुख्यतया अस्तित्व धर्म का विधान होता है। (स्यादस्ति)

२—दूसरा शब्द प्रयोग—यह निश्चित है कि घट "असत्" है, मगर अमुक अपेक्षा से। इस वाक्य द्वारा घट में अमुक अपेक्षा से मुख्यतया नास्तित्व धर्म का विधान होता है। (स्यान्नास्ति)

३—तीसरा शब्द प्रयोग—किसी ने पूछा कि—"घट क्या

अनित्य और नित्य दोनों धर्म वाला है ?" इसके उत्तर में कहना कि—"हाँ, घट अमुक अपेक्षा से अवश्यमेव नित्य और अनित्य है।" यह तीसरा वचन-प्रकार है। इस वाक्य से मुख्य तथा अनित्य धर्म का विधान और उसका निषेध, क्रमशः किया जाता है। (स्यादस्तिनास्ति)

४—चतुर्थ शब्द प्रयोग—"घट किसी अपेक्षा से अवक्तव्य है।" घट अनित्य और नित्य दोनों तरह से क्रमशः बताया जा सकता है। जैसा कि तीसरे शब्द प्रयोग में कहा गया है। मगर यदि क्रम बिना, युगपत् (एक ही साथ) घट को अनित्य और नित्य बताना हो तो, उसके लिए जैन शास्त्रकारों ने—'अनित्य' 'नित्य' या दूसरा कोई शब्द उपयोगी न समझ—इन 'अवक्तव्य' शब्द का व्यवहार किया है। यह भी ठीक है। घट जैसे अनित्य रूप से अनुभव में आता है। उसी तरह नित्य रूप से भी अनुभव में आता है। इससे घट जैसे केवल अनित्य रूप में नहीं ठहरता वैसे ही केवल नित्य रूप में भी घटित नहीं होता है। बल्कि वह नित्यानित्य रूप विलक्षण जाति वाला ठहरता है। ऐसी हालत में घट को यदि यथार्थ रूप में नित्य और अनित्य दोनों तरह से क्रमशः नहीं, किन्तु एक ही साथ बताना हो तो शास्त्रकार कहते हैं कि इस तरह बताने के लिये कोई शब्द नहीं है। अतः घट अवक्तव्य है।

चार वचन प्रकार बताये गये। उनमें मूल तो प्रारम्भ के दो ही हैं। पिछले दो वचन प्रकार प्रारम्भ के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। "कथंचित्—अमुक अपेक्षा से घट अनित्य ही है।" "कथंचित्—अमुक अपेक्षा से घट नित्य ही है"। ये प्रारम्भ के

दो वाक्य जो अर्थ बताते हैं, वही अर्थ तीसरा वचन-प्रकार क्रमश बताता है। और उसी अर्थ को चौथा वाक्य युगपत् एक साथ बताता है। इस चौथे वाक्य पर विचार करने से यह समझ में आ सकता है कि घट किसी अपेक्षा से अवक्तव्य भी है। अर्थात् किसी अपेक्षा से घट में "अवक्तव्य" धर्म भी है। परन्तु घट को कभी एकान्त अवक्तव्य नहीं मानना चाहिये। यदि ऐसा मानेंगे तो घट जो अमुक अपेक्षा से अनित्य और अमुक अपेक्षा से नित्यरूप से अनुभव में आता है। उसमें बाधा आ जायगी। अतएव ऊपर के चारों वचन प्रयोगो को "स्यात्" शब्द से युक्त, अर्थात् कथंचित्-अमुक अपेक्षा से, समझना चाहिये।

इन चार वचन प्रकारों से अन्य तीन वचन प्रयोग भी उत्पन्न किये जा सकते हैं।

पाचवाँ वचन प्रकार—"अमुक अपेक्षा से घट नित्य, होने के साथ ही अवक्तव्य भी है।

छठा वचन प्रकार—"अमुक अपेक्षा से घट अनित्य होने के साथ ही अवक्तव्य भी है।"

सातवाँ वचन प्रकार—"अमुक अपेक्षा से घट नित्यानित्य होने के साथ ही अवक्तव्य भी है।"

सामान्यतया, घटका तीन तरह से-नित्य, अनित्य और अवक्तव्य रूप से विचार किया जा चुका है। इन तीन वचन प्रकारो को उक्त चार वचन-प्रकारो के साथ मिला देने से सात वचन प्रकार होते हैं। इन सात वचन प्रकारों को जैन शास्त्रों में "सप्तभंगी" कहते हैं। 'सप्त' यानी सात, और 'भंग' यानी वचन

प्रकार। अर्थात् सात वचन प्रकार के समूह को सप्त भंगी कहते हैं। इन सातो वचन प्रयोगो को भिन्न २ अपेक्षा से भिन्न भिन्न दृष्टि से समझना चाहिये। किसी भी वचन प्रकार को एकान्त दृष्टि से नहीं मानना चाहिये। यह बात तो सरलता से समझ में आ सकती है कि यदि एक वचन प्रकार को एकान्त दृष्टि से मानेंगे तो दूसरे वचन प्रकार असत्य हो जायगे।

यह सप्त भंगी (सात वचन प्रयोग) दो भागो में विभक्त की जाती है। एक को कहते हैं "सकला देश" और दूसरे को "विकला देश"। "अमुक अपेक्षा से यह घट अनित्य ही है।" इस वाक्य से अनित्य धर्म के साथ रहते हुए घट के दूसरे धर्मों को बोधन कराने का कार्य्य 'सकला देश' करता है। 'सकल' यानी तमाम धर्मों का 'आदेश' यानी कहने वाला। यह प्रमाण वाक्य भी कहा जाता है। क्योंकि प्रमाण वस्तु के तमाम धर्मों को स्पष्ट करने वाला माना जाता है। "अमुक अपेक्षा से घट अनित्य ही है।" इस वाक्य से घट के केवल अनित्य धर्म को बताने का कार्य 'विकला देश' का है। 'विकल' यानी अपूर्ण। अर्थात् अमुक वस्तु धर्म को 'आदेश' यानी कहने वाला 'विकला देश' है। विकला देश नय वाक्य माना गया है। 'नय' प्रमाण का अंश है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है, और नय उसके अंश को।

इस बात को हर एक समझता है कि शब्द या वाक्य का कार्य अर्थबोध कराने का होता है। वस्तु के सम्पूर्ण ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं। और उस ज्ञान को प्रकाशित करने वाला वाक्य प्रमाण वाक्य कहलाता है। वस्तु के किसी एक अंश के

ज्ञान को 'नय' कहते हैं और उस एक अंश के ज्ञान को प्रकाशित करने वाला 'नय वाक्य' कहलाता है। इन प्रमाण वाक्यों और नय वाक्यों को सात विभागो में बांटने ही का नाम सप्त भंगी है *।

* यह विषय अत्यन्त गहन और विस्तृत है। 'सप्त भंगी तरंगिणी' नामक जैन तर्क ग्रन्थ में इस विषय का प्रति पादन किया गया है, 'सम्मति प्रकरण' आदि जैन न्यायशास्त्रों में इस विषय का बहुत गंभीरता से विचार किया गया है।

तीसरा अध्याय

नय

एक ही वस्तु के विषय में भिन्न, भिन्न दृष्टि विन्दुओं से उत्पन्न होने वाले भिन्न भिन्न यथार्थ अभिप्राय को "नय" कहते हैं। एक ही मनुष्य भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से काका, मामा, भतीजा, भानेज, भाई, पुत्र, पिता, ससुर और जमाई समझा जाता है यह "नय" के सिवा और कुछ नहीं है। हम यह बता चुके हैं कि वस्तु में एक ही धर्म नहीं है। अनेक धर्म वाली वस्तु में अमुक धर्म से सम्बन्ध रखने वाला जो अभिप्राय बंधता है। उसको जैन शास्त्रों ने "नय", संज्ञा दी है। वस्तु में जितने धर्म है, उनसे सम्बन्ध रखने वाले जितने अभिप्राय हैं, वे सब 'नय' कहलाते हैं।

एक ही घट ।मूलवस्तु द्रव्य-मिट्टी की अपेक्षा से अविनाशी है, नित्य है। परन्तु घट के आकार-रूप परिणाम की दृष्टि से विनाशी है। इस तरह भिन्न भिन्न दृष्टि विन्दु से घट को नित्य और विनाशी मानने वाली दोनों मान्यताएं 'नय' है।

इस बात को सब मानते हैं कि आत्मा नित्य है और यह बात है भी ठीक क्योंकि इसका नाश नहीं होता है। मगर इस बात का सब को अनुभव हो सकता है कि उसका परिवर्तन

विचित्र तरह से होता है। कारण आत्मा किसी समय पशु अवस्था में होती है, किसी समय मनुष्य स्थिति प्राप्त करती है कभी दैवगति की भोक्ता बनती है और कभी नरकादि दुर्गतियों मे जाकर गिरती है। यह कितना परिवर्तन है? एक ही आत्मा की यह कैसी विलक्षण अवस्था है! यह क्या बताती है? आत्मा की परिवर्तन शीलता! एक शरीर के परिवर्तन से भी यह समझ में आ सकता है कि आत्मा परिवर्तन की घटमाल मे फिरती रहती है, ऐसी स्थिति मे यह नहीं माना जा सकता है कि आत्मा सर्वथा एकान्त नित्य है। अतएव यह माना जा सकता है कि आत्मा न एकान्त नित्य है, न एकान्त अनित्य है बल्कि नित्यानित्य है। इस दशा में आत्मा जिस दृष्टि से नित्य है वह, और जिस दृष्टि से अनित्य है, वह दोनों ही दृष्टियां "नय" कहलाती हैं।

यह बात सुस्पष्ट और निस्सन्देह है कि आत्मा शरीर से जुदी है। तो भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि आत्मा शरीर में ऐसे ही व्याप्त हो रही है, जैसे कि मक्खन में घृत। इसी से शरीर के किसी भी भाग में जब चोट पहुँचती है, तब तत्काल ही आत्मा को वेदना होने लगती है। शरीर और आत्मा के ऐसे प्रगाढ़ सम्बन्ध को लेकर जैन शास्त्रकार कहते हैं कि यद्यपि आत्मा शरीर से वस्तुत. भिन्न है तथापि सर्वथा नहीं। यदि सर्वथा भिन्न मानेंगे तो आत्मा को शरीर पर आघात लगने से कुछ कष्ट नहीं होगा, जैसे कि एक आदमी को आघात पहुँचाने से दूसरे आदमी को कष्ट नहीं होता है। परन्तु आबाल वृद्ध का यह अनुभव है कि शरीर पर आघात होने से आत्मा को उसकी

वेदना होती है। इसलिये किसी अंश में आत्मा और शरीर को अभिन्न भी मानना होगा। अर्थात् शरीर और आत्मा भिन्न होने के साथ ही कदाचित्त अभिन्न भी है। इस स्थिति मे जिस दृष्टि से आत्मा और शरीर भिन्न है वह, और जिस दृष्टि से आत्मा और शरीर अभिन्न हैं वह, दोनो दृष्टियाँ 'नय' कहलाती हैं।

जो अभिप्राय ज्ञान से मोक्ष होना वतलाता है वह ज्ञाननय है और जो अभिप्राय क्रिया से मोक्षसिद्धि वतलाता है, वह क्रिया नय है ये दोनों ही अभिप्राय 'नय' है।

जो दृष्टि, वस्तु की तात्त्विक स्थिति को अर्थात् वस्तु के मूलस्वरूप को स्पर्श करने वाली है वह 'निश्चय नय' है और जो दृष्टि वस्तु की वाह्य अवस्था की ओर लक्ष्य खींचती है, वह 'व्यवहार नय' है। निश्चय नय बताता है कि आत्मा (संसारी-जीव) शुद्ध-वुद्ध-निरंजन सच्चिदानन्दमय है और व्यवहार नय बताता है कि आत्मा, कर्मबद्ध अवस्था में मोहवान्—अविद्यावान् है। इस तरह के निश्चय और व्यवहार के अनेक उदाहरण हैं।

अभिप्राय बनानेवाले शब्द, वाक्य, शास्त्र या सिद्धान्त सब 'नय' कहलाते हैं—उक्त नय अपनी मर्यादा में माननीय है। परन्तु यदि वे एक दूसरे को असत्य ठहराने के लिये तत्पर होते हैं तो अमान्य हो जाते है। जैसे-ज्ञान से मुक्ति बतानेवाला सिद्धान्त और क्रिया से मुक्ति बतानेवाला सिद्धान्त—ये दोनों सिद्धान्त स्वपक्ष का मण्डन करते हुए यदि वे एक दूसरे का खण्डन करने लगें तो तिरस्कार के पात्र हैं। इस तरह घट को अनित्य और नित्य बतानेवाले सिद्धान्त, तथा आत्मा और शरीर

का भेद और अभेद बतानेवाले सिद्धान्त यदि एक दूसरे पर आक्षेप करने को उतारु हो तो वे अमान्य ठहरते हैं।

यह समझ रखना चाहिये कि नय आंशिक सत्य है, आंशिक सत्य सम्पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता है। आत्मा को अनित्य या घट को नित्य मानना सर्वांश में सत्य नहीं हो सकता है। जो सत्य जितने अंशों में हो उसको उतने ही अंशों में मानना युक्त है।

इसकी गिनती नहीं हो सकती है कि वस्तुतः नय कितने हैं। अभिप्राय, या वचन प्रयोग जब गणना से बाहर हैं तब नय जो उनसे जुदा नहीं हैं कैसे गणना के अन्दर हो सकते है। यानी नयों की भी गिनती नहीं हो सकती है। ऐसा होने पर भी नयों के मुख्यतया दो भेद बताये गये हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। मूल पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं; जैसे—घड़े की मिट्टी। मूल द्रव्य के परिणाम को पर्याय कहते हैं। मिट्टी अथवा अन्य किसी द्रव्य में जो परिवर्तन होता है वह सब पर्याय है। द्रव्यार्थिक का मतलब है, मूल पदार्थों पर लक्ष्य देने वाला अभिप्राय और 'पर्यार्थिक नय' का मतलब है, पर्यायों पर लक्ष्य करनेवाला अभिप्राय। द्रव्यार्थिक नय सब पदार्थों को नित्य मानता है। जैसे—घड़ा, मूलद्रव्य मृतिका रूप से नित्य है। पर्यायार्थिक नय सब पदार्थों को अनित्य मानता है। जैसे स्वर्ण की माला, जंजीर कड़े अंगूठी आदि पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। इस अनित्यत्व को परिवर्तन होने जितना ही समझना चाहिये, क्योंकि सर्वथा नाश या सर्वथा अपूर्व उत्पाद किसी वस्तु का कभी नहीं होता है।

प्रकारान्तर से नय के सात भेद बताये गये हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत, नैगम—'निगम' का अर्थ है संकल्प-कल्पना। इस कल्पना से जो वस्तु व्यवहार होती है वह नैगम नय कहलाता है। यह नय तीन प्रकार का होता है, भूत नैगम, भविष्य नैगम और वर्तमान नैगम। जो वस्तु हो चुकी है उसको वर्तमान् रूप मे व्यवहार करना 'भूतनैगम' है। जैसे—"आज वही दिवाली का दिन है कि जिस दिन महावीरस्वामी मोक्ष में गये थे।" यह भूतकाल का वर्तमान में उपचार है, महावीर के निर्वाण का दिन आज (आज दिवाली का दिन) मान लिया जाता है। इस तरह भूतकाल के वर्तमान में उपचार के अनेक उदाहरण हैं। होनेवाली वस्तु को हुई कहना 'भविष्य नैगम' है। जैसे चावल पूरे पके न हो, पक जाने मे थोड़ी ही देर रही हो, तो उस समय कहा जाता है कि चावल पक गये हैं।" ऐसा वाक्य व्यवहार प्रचलित है अथवा अर्हतदेव को मुक्त होने के पहले ही कहा जाता है कि मुक्त हो गये यह नैगम नय है। ईंधन, पानी आदि चावल पकाने का सामान इकट्ठा करते हुए मनुष्य को कोई पूछे कि क्या करते हो ? वह उत्तर दे कि "मैं चावल पकाता हूँ।" यह उत्तर 'वर्त्तमान नैगम नय' है क्योकि चावल पकाने की क्रिया यद्यपि वर्तमान में प्रारम्भ नहीं हुई है तो भी वह वर्तमान-रूप में बताई गई है।

संग्रह—सामान्यतया वस्तुओं का समुच्चय करके कथन करना संग्रह नय है। जैसे—"सारे शरीरों की आत्मा एक है।" इस कथन से वस्तुतः सब शरीर में एक आत्मा सिद्ध नहीं

होती है। प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न भिन्न ही है; तथापि सब आत्माओं में रही हुई समान जाति की अपेक्षा से कहा जाता है कि—"सब शरीरों में आत्मा एक है।"

व्यवहार—यह नय वस्तुओं में रही हुई समानता की उपेक्षा करके, विशेषता की ओर लक्ष खींचता है इस नय की प्रवृति लोक व्यवहार की तरफ है। पाँच वर्ण वाले भँवरे को 'काला भवर' बताना इस नय की पद्धति है। 'रस्ता आता है' कूंडा झरता है, इन सब उपचारो का इस नय मे समावेश हो जाता है।

ऋजु सूत्र—वस्तु में होते हुए नवीन नवीन रूपान्तरो की ओर यह लक्ष्य आकर्पित करता है। स्वर्ण का मुकुट, कुण्डल आदि जो पर्य्यायें हैं, उन पर्यायों को यह नय देखता है। पर्यायों के अलावा स्थायी द्रव्य की ओर यह नय दृगपात नहीं करता है। इसीलिये पर्यायें विनश्वर होने से सदा स्थायी द्रव्य इस नय की दृष्टि में कोई चीज नहीं है।

शब्द—इस नय का काम है अनेक पर्याय शब्दों का एक अर्थ मानना। यह नय बताता है कि, कपड़ा, वस्त्र, वसन आदि शब्दों का अर्थ एक ही है।

समभिरूढ़—इस नय की पद्धति है कि पर्याय शब्दों के भेद से अर्थ का भेद मानना। यह नय कहता है कि कुभ, कलश, घट आदि शब्द भिन्न अर्थ वाले हैं, क्योकि कुभ, कलश, घट आदि शब्द यदि भिन्न अर्थ वाले न हों तो घट, पट, अश्व आदि शब्द भी भिन्न अर्थ वाले न होने चाहिये। इसलिए शब्द के भेद से अर्थ का भेद है।

एवंभूत–इस नय की दृष्टि से शब्द, अपने अर्थ का वाचक (कहने वाला) उस समय होता है—जिस समय वह अर्थ—पदार्थ उस शब्द की व्युत्पत्ति में से क्रिया का जो भाव निकलता हो, उस क्रिया मे प्रवर्ता हुआ हो। जैसे 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति है—"गच्छंतीति गोः" अर्थात् जो गमन करता है—उसे गो कहते हैं, मगर वह 'गो' शब्द–इस नय के अभिप्राय से–प्रत्येक गऊ का वाचक नहीं हो सकता है। किन्तु केवल गमन क्रिया में प्रवृत-चलती हुई गाय का ही वाचक हो सकता है। इस नय का कथन है कि शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ही यदि उसका अर्थ होता है तो उस अर्थ को वह शब्द कह सकता है।

यह बात भली प्रकार से समझा कर कही जा चुकी है, कि यह सातो नय एक प्रकार के दृष्टि विन्दु हैं। अपनी अपनी मर्यादा मे स्थित रह कर, अन्य दृष्टि विन्दुओ का खंडन न करने ही में नयों की साधुता है। मध्यस्थ पुरुप सब नयों को भिन्न भिन्न दृष्टि से मान देकर तत्वक्षेत्र की विशाल सीमा का अवलोकन करते हैं। इसीलिये वे रागद्वेष की वाधा न होने से, आत्मा की निर्मल दशा को प्राप्त कर सकते हैं।
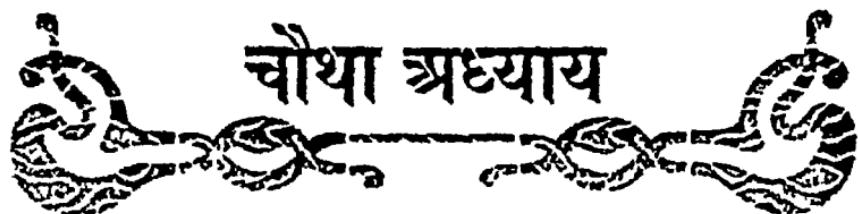
चौथा अध्याय

मोक्ष का स्वरूप *

जैन तत्व-ज्ञान में "मोक्ष" का बहुत ही विशद और गहन विवेचन किया गया है। इस विषय के विवेचन को आवश्यक समझ हम एक जैन विद्वान् के इसी विषय पर लिखे हुए लेख के आधार से यहां इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा करते हैं।

मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की "मुच्" धातु से है। इसका अर्थ सब प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाना है। इस शब्द से ही यह मालूम होता है कि जगत् की तमाम वस्तुएं एक दूसरे के बन्धन में हैं और उस बन्धन से स्वतंत्र हो जाने ही को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष पर विचार करने से पूर्व ये प्रश्न सहज ही उत्पन्न हो सकते हैं कि कौन बन्धन में है? किसके बन्धन में है? वह बन्धन किस प्रकार होता है, कब से है, उससे छुटकारा पाने की क्या आवश्यकता है? और वह छुटकारा किस प्रकार हो सकता है?

---

*श्रीयुत रघुवर दयाल लिखित और सरस्वती में प्रकाशित "मुक्ति का स्वरूप" नामक लेख के आधारपर लिखित

इन सब शङ्काओ का समाधान करने के पूर्व हमे द्रव्य की गुण और पर्याय पर विचार करना पड़ेगा। जो वस्तु गुण और पर्याय से युक्त होती है उसे द्रव्य कहते हैं, द्रव्य अनादि, अकृत्रिम और अनन्त है। वे अनादि काल से चले आते हैं, न उनकी कभी उत्पत्ति हुई न कभी नाश होगा। हां, उनकी पर्याय मे हमेशा परिवर्तन होता रहता है। कोई भी नवीन द्रव्य जिसका कि पहिले अस्तित्व न था, कभी अस्तित्व मे नहीं आ सकता। अतः द्रव्यादि से युक्त इस सृष्टि का कर्ता परमेश्वर को मानना महज भूल है।

जैन-शास्त्रों में द्रव्य दो प्रकार के बतलाए गये हैं (१) चेतन अथवा जीव और(२) जड़ अथवा अजीव। अजीव द्रव्य के पांच प्रकार हैं—पुद्गल (Matter) धर्म (Medium of Motion) अधर्म (Medium of Rest) काल (Time) आकाश (Space) इनमे से पुद्गल मूर्त्तिक और शेष अमूर्त्तिक हैं।

जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों के अन्तर्गत वैभाविकी शक्ति" नामक एक विशेष गुण होता है। इस के कारण इन दोनों मे एक प्रकार का अशुद्ध परिणमन होता है इसी परिणमन को बन्धन कहते हैं।

इतने विवेचन से हमारे पहले दो प्रश्नों का हल हो गया अर्थात् हमे यह मालूम हो गया कि जीव बन्धन में है और वह बन्धन पुद्गल परमाणुओं का है। इसी बन्धन से छुटकारा पाने ही का नाम मोक्ष है।

अब इस बात का विचार करना है कि यह बन्धन किस प्रकार होता है और किन उपायों से उससे जीव स्वतंत्र होता

है ? इन सब बातों को जैन तत्व-ज्ञान के अन्तर्गत सात भागों में विभक्त कर दी हैं जिनको सात तत्व कहते हैं। अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव (पुद्गल के साथ जीव का सम्बन्ध होने का कारण) बन्ध, सँवर (उन कारणों को रोकने का प्रयत्न) निर्जरा (उन बन्धनों को तोड़ने का उपाय) मोक्ष (उन सब बन्धनों से आजाद हो जाना)। इन्हीं सात तत्वों के द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध दशाओं का बोध होता है।

मोक्ष को मानने वाले लोग जीव की वर्तमान और भविष्य अवस्था को मानते हैं। वे जीव को ज्ञान स्वरूप एव प्रकृति से भिन्न भी मानते है। पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो उनके अनादित्व एव अविनाशित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार गर्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त ही जीव का अस्तित्व रहता है बाद में नष्ट हो जाता है। पर यदि वे सूक्ष्म दृष्टि से इस विषय पर विचार करेंगे तो अवश्य उन्हे अपने इस कथन में भ्रम मालूम होगा। मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रङ्क हूँ, आदि बातों में "मैं" शब्द का वाच्य इस शरीर से भिन्न अवश्य कोई दूसरा पदार्थ है और वह जीव है। सुख, दुखादि का अनुभव पुद्गल को नहीं होता उसका अनुभव करने वाला कोई दूसरा द्रव्य अवश्य होना चाहिए जो कि उसके साथ सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाए भी उसके अस्तित्व को साबित करती हैं। केवल पुद्गल में श्वासोच्छ्वास नहीं हो सकता। जहां श्वासोच्छ्वास है वहां जीव का अस्तित्व होना चाहिए। आकाङ्क्षा, इच्छा, स्मृति आदि बातों से भी जीव के अस्तित्व की पुष्टि होती है।

इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि जीव स्वतंत्र पदार्थ है, वह अनादि, अकृत्रिम और अविनाशी है। जो लोग इस प्रकार जीव की सत्ता को मानते हैं वे इसके बन्धन को और मोक्ष को भी मानते हैं। पर इन लोगों के मुक्ति विषयक विचारों में भी बड़ा मत-भेद है। कई लोग तो मानते हैं कि जीव का अस्तित्व पहले नहीं होता। परमात्मा उसको पैदा करता है, पर क्रिया करने में स्वतंत्र होने के कारण जन्म के पश्चात् वह इच्छानुसार पुण्य और पाप करता है। जो पाप करता है वह नरक में पड़ता है और जो पुण्य करता है वह मरण के पश्चात् पुन: परमात्मा से सम्बन्ध कर लेता है। कोई कहते हैं; कि मृत्यु के पश्चात् तुरन्त ही यह सुख मिल जाता है. कोई कहते हैं कि नहीं आकबत के दिन तक उसे ठहरना पड़ता है और फिर खुदा के इन्साफ करने पर वह जज़ा या सजा भोगता है। एक पक्ष का कथन है कि चेतन के दो भेद हैं एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, अनादि, शुद्ध, जगत् का कर्त्ता हर्त्ता, जीवात्मा से नितान्त भिन्न सच्चिदानन्द है और जीवात्मा अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न सहित है। यह जीव अपने कर्मों के अनुसार ईश्वर के दिये हुए फल भोगता है और वेदोक्त कर्म करने से मुक्ति प्राप्त करता है। ये विचार ठीक नहीं कहे जा सकते क्योंकि ऐसे ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

कुछ लोग ऐसे जीव को एक स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते। उनका कथन है कि एक ब्रह्म के सिवा और कुछ नहीं है (एको-ब्रह्म द्वितीयोनास्ति) ये सब माया और भ्रम हैं, भ्रम के दूर

होने पर यह माना हुआ जीव ब्रह्म हो जाता है और इसका माना हुआ सुख दुख दूर होने पर सच्चिदानन्द स्वरूप होने को मोक्ष कहते हैं। पर जिस विचार मे अनेक प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले जीवों की सत्ता नहीं मानी जाती वह विचार अनुभव तथा न्याय से कितना दूर है यह बात स्वयं स्पष्ट है।

जैन-तत्वज्ञान में माने हुए छः द्रव्यों का संक्षिप्त विवेचन हम ऊपर कर आये हैं। हम यह बतला आये हैं कि जैन धर्म में चेतन द्रव्य एक जीव ही माना गया है। जैन सिद्धान्त में जीव अनादि और अनन्त हैं, उसका स्वरूप सच्चिदानन्द है। इन जीवों के दो प्रकार बतलाए गये हैं जिनकी सत्ता जन्म-मरणमय होती है, जिनकी चेतना अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शनमय नहीं होती और जिनका आनन्द अनन्त सुख नहीं होता वे "संसारीजीव" कहलाते हैं और वे जीव जो अमर, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनमय होते हैं मुक्त कहलाते हैं।

संसारी जीव अशुद्ध अवस्था मे होते हैं। वे प्रत्यक्ष रूप से शरीर के बन्धन में होते हैं। उनको विशेष कर इन्द्रिय ज्ञान ही होता है। अपने साथ शरीर का निमित्त, नैमित्तिक, सम्बन्ध होने के कारण वे अपने में और शरीर में भिन्नता का अनुभव नहीं करते। इस कारण वे इच्छाओं के वशीभूत होकर मन्द और तीव्र कषाययुक्त अनेक क्रियाएं करते रहते हैं। इस प्रकार अशुद्ध अर्थात् पुद्गल के बन्धन बंधा हुआ जीव पुद्गल के प्रभाव में आकर कार्य्य करता रहता है। उन पुद्गल परमाणुओं को जो जीव पर अपना प्रभाव डालते हैं जैनशास्त्रों में "कर्म" कहते हैं। इन कर्मों के बन्धन में पड़कर जीव मृगतृष्णा की तरह संसार

के अन्दर चक्कर लगाता हुआ अनेक दुःखों को भोगता है। जब तक इनसे उसका छुटकारा नहीं होजाता तब तक उसे सच्चा, आकुलता रहित सुख नसीब नहीं हो सकता, इसी कारण कर्म-बन्धन से मुक्त होने की प्रत्येक जीव को आवश्यकता होती है।

जीवों की परिणति तीन तरह की होती है—एक शुभ अर्थात् अच्छे काम, दूसरी अशुभ अर्थात् बुरे काम, और तीसरी शुद्ध अर्थात् वैराग्य रूप। शुभ परिणति से पुण्य-बन्धन होता है, जिससे ससारिक सुख की प्राप्ति होती है और अशुभ परिणति से पाप-बन्धन होता है, जिससे संसार में दुख की सामग्री मिलती है और दुख भोगना होता है। शुद्ध या वैराग्य वाली परिणति से जीव के पुण्य-पापरूपी बन्धन हलके होते होते दूर हो जाते हैं और जीव मे शुद्ध परम सच्चिदानन्द अवस्था का आविर्भाव होता है।

इन शुभाशुभ परिणतियों या पुण्य-पापरूपी बन्धनो के कारण विशेष करके चार होते हैं, एक मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्या श्रद्धा दूसरा अविरत अर्थात् हिंसा और इन्द्रिय तथा मन के विषयों मे प्रवृत्ति, तीसरा तीव्र और तीव्रतर, मन्द और मन्दतर भेदवाले चार—क्रोध, मान, माया, लोभ,—कषाय और नोकषाय और चौथा मन, वचन, काय नामक तीन योग जो कर्मों के आगमन के मुख्य कारण हैं। यहाँ यह भी समझ लेना होगा कि लोभ अर्थात् इच्छा पाप (जिसका यहाँ बन्धन से मतलब है) का कारण है। लोभ के उदय से जीव प्रकृति से संयोग करता है और पुद्गल पदार्थों के न मिलने से दुखी होता है।

अगर वे मिल जाते हैं तो उसे सुख का भास होता है, और उन पदार्थों पर अधिकार करके वह मान करता है, फिर उनको रखने या और इकट्ठे करने के लिए माया करता है। अगर कोई उनको उससे ले ले या उनके सङ्ग्रह करने में बाधा डाले या उसके मान की हानि करे तो वह क्रोध करता है; ये क्रियाये मानसिक भी होती हैं।

इस तरह कर्मों का आगमन होता है। परन्तु कर्म जीव पर तभी प्रबल होते हैं जब जीव इच्छा के वश मे, दीनता की दशा में, अपने स्वाभाविक शुद्धोपयोग रूप निज बल को छोड़ कर निर्बल होता है।

इन पुद्गल के अति सूक्ष्म परमाणु जीव के भावों और क्रियाओं के निमित्त से उसके बन्धन होते हैं। इन कर्मवर्गों मे बन्धन के चार विशेषण होते हैं, एक प्रकृति-बन्धन (Quality of Karmic matter) जिसके अनुसार कर्मवर्गों मे भिन्न भिन्न प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, दूसरे प्रदेश-बन्धन (Extent of Karmic matter) जिसके अनुसार आत्म-प्रदेशों से कर्म प्रदेशों का सम्बन्ध होता है, तीसरे स्थिति-बन्धन (Duration of Karmic matter) जिसके अनुसार कर्मवर्गों की सत्ता या उदयकाल का प्रमाण होता है, और चौथे अनुभाग-बन्धन (Quantity of Intensity of Karmic matter) जिसके अनुसार कर्मवर्गों मे फलदायक शक्ति होती है।

प्रकृति और प्रदेश-बन्धन योगों के अनुसार होते हैं और स्थिति और अनुभाग-बन्धन कषायों के अनुसार। जीव के भावों की हालत योगों और कषायों का जैसा फल हो वैसी होती है।

कर्म आठ प्रकार के होते हैं—(१) ज्ञानावरणीय जो जीव के ज्ञान को ढकते हैं, (२) दर्शनावरणीय जो जीव के देखने की शक्ति को ढकते हैं, (३) मोहनीय जो आत्मा को भ्रम रूप करते हैं, (४) अन्तराय जो वाञ्छित कार्य में विघ्न पहुँचाते हैं, (५) आयु जो किसी नियत समय तक एक गति में स्थिति रखते हैं, (६) नाम जो शरीरादिक बनाते हैं, (७) गोत्र जो कुलों की शुभाशुभ अवस्थाओं मे कारण होते हैं और (८) वेदनीय जो सुख दुख रूप सामग्री के कारण होते हैं।

ऐसे द्रव्य-कर्मों से भाव-कर्म होते हैं और भाव-कर्मों से द्रव्य-कर्म बँधते है। इस प्रकार अनादि सन्तान क्रम से पूर्व बद्ध कर्मों के फल से विकृत परिणामो को प्राप्त होकर जीव अपने ही अपराध से आप नवीन कर्मों का बन्धन प्रस्तुत करता है। इन्हीं नवीन कर्मों के उदय से पुनः इसके विकृत परिणाम होते हैं और उनसे पुन. पुनः नवीन नवीन कर्मों का बन्धन प्रस्तुत करता हुआ वह अनादि काल से इस ससार मे पर्यटन करता है।

जीव सन्तान-क्रम से बीज-वृक्षवत् अनादि काल से अशुद्ध है। ऐसा नहीं है कि वह पहले शुद्ध था और पीछे अशुद्ध हो गया, क्योकि यदि वह पहले शुद्ध होता तो विना कारण बीच में अशुद्ध कैसे हो जाता और यदि बिना कारण ही बीच मे अशुद्ध हो गया है तो इससे पहले अशुद्ध क्यों नहीं हो गया? विना कारण के कार्य नहीं हो सकता, यह नियम है, अतएव जीव अनादि से अशुद्ध है। इस पर शायद यह कहा जाय कि जो हमेशा अशुद्ध है उसे हमेशा अशुद्ध रहना चाहिए और तब ये मोक्ष की बातें कैसी? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि

धान का बीज-वृक्ष-सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। परन्तु जब धान पर से छिलका उतर जाता है तब चावल अनेक प्रयत्न करने पर भी नहीं उगता, उसी प्रकार जीव के भी अनादि सन्तान-क्रम से विकृत भावों से कर्म-बन्धन और कर्म के उदय से विकृत भाव होते चले आये हैं। परन्तु जब छिलका रूपी विकृत भाव जुदा हो जाते हैं तब फिर चावल रूपी शुद्ध जीव को अङ्कुरोत्पत्ति रूपी कर्म बन्धन नहीं होता।

बन्धन का स्वरूप और उससे छुटकारा होने की सम्भावना मालूम कर लेने के बाद यह भी जान लेना आवश्यक है कि छुटकारा किसी परमात्मा के कर्म-फल देने या पैगम्बर के दिलाने से होता है या जीव ही अपने पुरुषार्थ से बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

यदि परमात्मा की जरूरत कर्म-फल देने के लिए है तो यह देखना चाहिए कि विषादिक भक्षण करनेवालों को मरणादिक फल बिना किसी फल-दाता के ही मिल जाता है। अगर यह कहा जाय कि विष खाने का फल भी ईश्वर ही देता है क्योंकि जीव कर्मों के करने में तो स्वतन्त्र है परन्तु उनके फल भोगने मे परतन्त्र है तो यह भी ठीक नहीं। किसी धनाढ्य ने ऐसा कर्म किया जिसका फल उसे उसका धनहरण होने से मिल सकता है। ईश्वर स्वय तो उसका धन चुराने के लिए आता नहीं, किन्तु किसी चोर के द्वारा उसका धनहरण कराता है। ऐसी अवस्था मे अर्थात् जब चोर ने एक धनाढ्य का धन चुराया तब इस क्रिया से धनाढ्य को पूर्वकृत कर्म का फल मिला और चोर ने नवीन कर्म किया। अब बताइए कि चोर ने धनाढ्य के

धनहरणरूप जो यह क्रिया की है उसे उसने स्वतन्त्रता से की है या ईश्वर की प्रेरणा से। यदि उसने उसे स्वतन्त्रता से की है और उसमें ईश्वर की कुछ भी प्रेरणा नहीं है, तो धनाढ्य को जो कर्म का फल मिला वह ईश्वरकृत नहीं हुआ और यदि ईश्वर की प्रेरणा से चोर ने धन चुराया है, तो चोर कर्म के करने में स्वतन्त्र नहीं रहा और वह निर्दोष है, पर उसी चोर को वही ईश्वर राजा के द्वारा चोरी का दण्ड दिलाता है। पहले तो उसने स्वयं उससे चोरी करवाई और फिर स्वयं ही उसको दण्ड दिलाता है, इससे ईश्वर के न्याय में बड़ा भारी बट्टा लगता है। संसार में जितने अनर्थ होते हैं उन सबका विधाता ईश्वर ठह-रेगा, परन्तु उन सब कर्मों का फल बेचारे निर्दोष जीवों को भोगना पड़ेगा। कैसा अच्छा न्याय है। अपराधी ईश्वर और दण्ड भोगें जीव !

जो लोग किसी पैगम्बर को मुक्ति दिलानेवाला मानते हैं वे यह कहते हैं कि जीव इतना पापी है कि वह अपने आप पाप से निवृत्त नहीं हो सकता है। यदि ऐसा हो तो एक श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुष, जिसको ऐसे नजात दिलानेवाले पैगम्बर के नाम-निशान का पता नहीं है मुक्ति से अथवा स्वर्ग-राज्य से निर्दोष वञ्चित रह जायगा। यह कितना बड़ा जुल्म होगा। असल में इनके दार्शनिक यह नहीं समझे हुए हैं कि जीव अपने परिणामों के निमित्त से पूर्व बँधे कर्मों का भी उत्कर्षण, अपकर्षण, सङ्क्रमण आदि करता है और इससे उनकी शक्ति को अपने पुरुषार्थ से उपदेश आदि के निमित्त से धर्म-कार्य में प्रवृत्ति करके हीन करता है।

ऊपर बताये हुए जिन कारणों से नवीन बन्धन होता है उनका अभाव होने से नवीन बन्धन का होना रुक जाता है और जो सञ्चित कर्म हैं वे अपनी स्थिति पूरी करके अपने आप समाप्त हो जाते हैं और उनको जीव तप आदि से भी छिपा देते हैं। जब नवीन कर्मों का आश्रव नही होगा और पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाएगी तब आत्मा से सब कर्मों के पृथक् होने के कारण आत्मा शुद्ध हो जायगी और उसकी इस शुद्ध अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष मे आत्मा से सब कर्म पृथक् हो गये, इसलिए कर्मजनित विकार भी आत्मा से दूर हो गये। ये विकार ही नवीन बन्धन के कारण हैं, इसलिए मोक्ष प्राप्त होने के बाद कर्म फिर मल से लिप्त नहीं होते, अर्थात् मुक्त जीव मुक्ति से वापस नहीं आ सकते। जिस मुक्ति से वापस आना पड़े वह मुक्ति कैसी? आवागमन तो बना ही रहा। जो लोग मुक्ति से वापस आना मानते हैं वे तो मुक्ति शब्द का प्रयोग करके संस्कृत-भाषा का भी खून करते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर जीव को वेदोक्त ज्ञान-सहित वेदोक्त कर्मों के करने का फल भोगने के लिए मुक्ति देता है और कर्म मर्यादा-सहित होते हैं। उनका मुक्ति-रूप फल भी मर्यादा-सहित होता है, अर्थात् जीव मुक्ति में अपने कर्मों का फल भोग कर कुछ थोड़े से बचे हुए कर्मों के कारण जन्म-मरण करता हुआ संसार में फिर पर्यटन करता है। उन्हें यह सोचना चाहिए कि मुक्ति तो जीव के सर्वथा कर्म-रहित होने को कहते हैं और कर्मों के फल तो संसार में आवागमन करके ही भोगे जाते हैं।

जैन-धर्म में यह माना जाता है कि इस मध्यलोक और

सिद्ध-शिला (जहां मुक्त जीव रहते हैं) के बीच मे १६ स्वर्ग हैं। उन स्वर्गों में जीव अपने पुण्योदय से दीर्घायुवाली देव-गति पाकर देव अथवा देवाङ्गना बन कर सांसारिक सुख भोगते हैं, और आयु पूरी होने पर वहां से अपने कर्मानुसार भ्रमण करते हैं। शायद मुक्ति से लौट आना माननेवालों का मतलब ऊपर के स्वर्गों से ही हो और उनको मोक्ष के सच्चे स्वरूप का पता ही न हो।

जैन-धर्म मे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" कहा है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष-मार्ग है। जितने जितने अंशों में जीव की सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा चरित्र होता है उतने ही उतने अंशो मे जीव मोक्ष की ओर झुकता है। सम्यग्दर्शन से मतलब ऊपर बताये हुए सात तत्त्वो की सच्ची भावना करना है। अर्थात् जीव, परमात्मा और जीव से परमात्मा होने के उपाय इत्यादि की सच्ची भावना करना, जीव और जीवादिक और जीव के मोक्ष होने के उपायो के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और उन उपायो में प्रवृत्तिरूप क्रियाओं को सम्यक्चारित्र कहते हैं। धर्म दो प्रकार का होता है एक गृहस्थो का दूसरा साधुओं का। गृहस्थ व्यवहार-धर्म का पालन करते हुए निश्चय मोक्षमार्ग की तैयारी करते हैं और साधु इच्छाओ पर सर्वथा विजय पाने के लिए ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान ही मोक्ष के मुख्य कारण होते हैं और बाकी सब जीव को ध्यान में निश्चल बनाने के उपाय हैं।

ज्ञानवरण-कर्म के अभाव से अनन्तज्ञान, दर्शनावरण-कर्म

के अभाव से अनन्त दर्शन, अन्तराय के अभाव से अनन्त वीर्य, दर्शन-मोहनीय के अभाव से शुद्ध सम्यक्त्व, चारित्र-मोहनीय के अभाव से शुद्ध चारित्र और इन समस्त कर्मों के अभाव से अनन्त सुख होता है, मगर शेष के चार कर्मों के बाकी रहने से जीव ऐसी ही जीवन-मुक्त अवस्था मे ससार मे रहता है और इसी अवस्थावाले सर्वज्ञ वीतराग तीर्थङ्कर भगवान् से सासारिक जीवो को सच्चे धर्म का उपदेश मिलता है, यही सर्वज्ञोपदेशित सब का हितकारी जैन-धर्म है।

ऊपर के चार अघातिया—अर्थात् वेदनीय, गोत्र, नाम और आयु-कर्मों की स्थिति पूरी होने पर जीव अपने ऊर्ध्व गमन स्वभाव से जिस स्थान पर कर्मों से मुक्त होता है उस स्थान से सीधा पवन के झकोरों से रहित अग्नि की तरह ऊर्ध्वगमन करता है और जहाँ तक ऊपर बताये हुए गमन सहकारी धर्म द्रव्य का सद्भाव है वहाँ तक वह गमन करता है। आगे धर्म-द्रव्य का अभाव होने से अलोकाकाश में उसका गमन नहीं होता। इस कारण समस्त मुक्तजीव लोक के शिखर पर विराजमान रहते हैं। यहाँ जिस शरीर से मुक्ति होती है उस शरीर से जीव का आकार किञ्चित् न्यून होता है।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि जब जीव मोक्ष से लौट कर आते नहीं तथा नवीन जीव उत्पन्न होते नहीं और मुक्त होने का सिलसिला हमेशा जारी रहता है तो एक दिन संसार के सब जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेंगे और संसार शून्य हो जायगा। परन्तु जीव-राशि अक्षय, अनन्त है, जिस तरह आकाश द्रव्य सर्वव्यापी अनन्त है। किसी एक दिशा मे बिना मुड़े निरन्तर

यदि कोई गमन करता चला जाय तो आकाश का अन्त कभी नहीं होता है, अन्यथा वह सर्वव्यापी नहीं हो सकता था। इसी प्रकार जीवराशि का अन्त नहीं होगा।

इस तरह मोक्ष में अनन्त शुद्ध जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुखवाले अनन्त परमात्मरूप अपनी अपनी सत्ता में सच्चिदानन्द स्वरूप होकर हमेशा परमानन्द में रहते हैं। आत्म-कल्याण के चाहनेवाले जीव ऐसे परमोत्कृष्ट वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को अपना आदर्श बनाकर उसकी पूजा-स्तुति करके शुभ-कर्म उपार्जन करते हैं, शुद्धोपयोग में प्रवृत्त रहते हैं और क्रम से विशुद्ध प्रयत्न करते हुए एक दिन स्वयं परमात्म-पद को प्राप्त कर लेते हैं।

जैन-धर्म के मोक्ष का यही सच्चा स्वरूप है। इसी... सर्वज्ञों ने उपदेश किया है और यह न्याय से सिद्ध है। यह आत्मधर्म किसी एक समाज या जाति की पैत्रिक सम्पत्ति नहीं है, बल्कि सब जीवों का हितकारी है।

पाँचवाँ अध्याय

जैन धर्म में आत्मा का आध्यात्मिक विकास

संसार के प्राय. सभी धर्मों ने मोक्ष को आत्मा के विकास की सर्वोच्च स्थिति माना है, लेकिन मोक्ष तक पहुँचने के पूर्व उसका किस प्रकार क्रम विकास होता है इस पर भिन्न भिन्न दर्शनकारों के भिन्न भिन्न मत हैं। नीचे हम तुलनात्मक दृष्टि से आत्मा के इस क्रम विकास पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

वैदिक दर्शन

महर्षि पातञ्जलि ने योग दर्शन में मोक्ष की साधना के लिए योग का वर्णन किया है। योग को हम आध्यात्मिक विकास क्रम की भूमिका कह सकते हैं। इस योग के प्रारम्भ काल की भूमिका से लेकर क्रमशः पुष्ट होते होते उसकी उच्चातिउच्च अवस्था की भूमिका तक पहुँचने की सीढ़ियों को आध्यात्मिक विकास क्रम कह सकते हैं। योग के प्रारम्भ से पूर्व की भूमिकाएँ आत्मा के अविकास की भूमिकाएँ हैं। सूत्रकार के इस विषय को और भी स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार महर्षि व्यास ने उन भूमिकाओं को पांच भागों में विभक्त कर दिया है।

१ क्षिप्त[1], २ मूढ़[2], ३ विक्षिप्त[3], ४ एकाग्र[4], ५ निरुद्ध[5]।

इन पाँच भूमिकाओ में से पहली दो आत्मा के अविकास की सूचक है। तीसरी भूमिका विकास और अविकास का सम्मेलन है उसमे विकास की अपेक्षा अविकास का ही अधिक वल रहता है। चौथी भूमिका में विकास का वल वढ़ता है और वह पाँचवीं निरुद्ध भूमिका में पूर्णोन्नति पर पहुँच जाता है। यदि भाष्यकार के इसी भाव को दूसरे शब्दों में कहना चाहे तो यों कह सकते हैं कि पहली तीन भूमिकाएँ आत्मा के अविकास काल की है, और शेष दो भूमिकाएँ विकास काल की। इन पाँच भूमिकाओं के वाद की स्थिति को मोक्ष कहते हैं।

योगवासिष्ठ में आत्मा की स्थिति के संक्षेप में दो भाग कर दिये हैं।१.अज्ञानमय और २.ज्ञानमय। अज्ञानरूप स्थिति को अविकास काल और ज्ञानमय स्थिति को विकास काल कह सकते हैं। आगे चल कर इन दोनों स्थितियो के और भी सात विभाग कर दिये गये

---

१ जो चित्त रजोगुण की अधिकता से हमेशा अनेक विषयों की ओर प्रेरित होने से अस्थिर रहता है, उसे क्षिप्त कहते हैं।

२. जो चित्त तमोगुण के प्रावल्य से हमेशा निद्रा मग्न रहता है उसे मूढ कहते हैं।

३. जो चित्त अस्थिरता की विशेषता रहते हुए भी कुछ प्रशस्त विषयो में स्थिर रह सकता है। वह "विक्षिप्त" कहलाता है।

४. जो चित्त अपने विषय में स्थिर वन कर रह सकता है, वह एकाग्र कहलाता है।

५. जिस चित्त में तमाम वृत्तियों का निरोध हो गया हो, केवल मात्र उनके संस्कार रह गये हों, वह निरुद्ध कहलाता है।

हैं जिनको हम क्रमश' अज्ञानमय और ज्ञानमय भूमिकाओं के नाम से पहिचान सकते हैं। अज्ञान की सात भूमिकाएँ ये हैं—

१. वीज जागृत[1], २. जागृत[2], ३. महाजागृत[3], ४. जागृत[4]-स्वप्न ५. स्वप्न[5], ६. स्वप्न जागृत ७. सुषुप्तक[7], इसी प्रकार ज्ञान-

---

१. इस भूमिका में "अहत्व ममत्व" बुद्धि की पूर्ण जागृति तो नहीं होती पर उसकी जागृति के चिन्ह दृष्टि गोचर हो जाते हैं। इसी कारण इसका नाम बीज जागृत रक्खा गया है। यह भूमिका वनस्पति के समान क्षुद्र जीवों में भी मानी जाती है।

२. इस भूमिका में "अहत्व ममत्व" बुद्धि अल्पांश में जागृत हो जाती है, इसी कारण इसका नाम जागृत रक्खा गया है। यह भूमिका कीट पतंग और पशुओं में भी मानी जाती है।

३. इस भूमिका में "अहत्व ममत्व" की बुद्धि और भी पुष्ट होती है, इससे यह महा जागृत कहलाती है। यह भूमिका मनुष्य और देवताओं मे पाई जाती है।

४. चौथी भूमिका में "जागृत अवस्था" के भ्रम का समावेश हो जाता है। जैसे एक ही जगह दो चन्द्रमा दिखाई देना इत्यादि इससे इस भूमिका का नाम "जागृत स्वप्न" रक्खा गया है।

५. इस भूमिका में निद्रित अवस्था में आये हुए स्वप्न का चैतन्य अवस्था में जो अनुभव होता है उसका समावेश रहता है, इसलिए यह "स्वप्न" नाम से पुकारी जाती है।

६ इस भूमिका में कई वर्षों तक चालू रहने वाले स्वप्न का समावेश रहता है। यह स्वप्न शरीर पात होने पर भी चालू रहता है। इससे यह स्वप्न जागृत कहलाती है।

७. यह भूमिका गाढ़ निद्रा की होती है। इसमें "जड़" के समान स्थिति हो जाती है। केवल मात्र कर्म वासना रूप में रहते हैं, इसी से यह सुषुप्ति कहलाती है। इनमें से ७ तक की भूमिकाएं स्पष्ट रूप से मनुष्यों के अनुभव में आती हैं। (योग वशिष्ट उत्पत्ति प्रकरण ११७)

मय स्थिति के भी सात विभाग कर दिये गये हैं।

१. शुभेच्छा[८], २. विचारणा।[९] ३. तनुमानसा[१०], ४. सत्वापत्ति[११], ५. असंसक्ति[१२], ६. पदार्थ भावुकी[१३], ७. तुर्यगा[१४]।

पहली सात भूमिका में अज्ञान का प्राबल्य रहने से वे अविकास काल की और अन्त की सात भूमिकाओं मे ज्ञान

---

८. "मैं मूर्ख ही क्यों बना रहूं, किसी शास्त्र या सज्जन के द्वारा आत्मावलोकन कर अपना उद्धार क्यों न करलूँ।" इस प्रकार की वैराग्यपूर्ण इच्छा को ' शुभेच्छा" कहते हैं।

९. उस शुभेच्छा के फल स्वरूप वैराग्याभ्याम के कारण सदाचार में जो प्रवृति होती है, उसे "विचारणा" कहते हैं।

१०. शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियों अथवा विषयों से जो उदासीनता हो जाती है। उसे "तनु मानसा" कहते हैं।

११. उपरोक्त तीन भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त में जो वृति होती है, और उस वृति के कारण जो आत्मा का स्थिति होती है उसे "सत्वापत्ति" कहते हैं।

१२. उपरोक्त चार भूमिकाओं के अभ्यास।से चित्त में जो एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है, उसे "असंसक्ति" भूमिका कहते हैं।

१३. पाँच प्रकार की भूमिका के अभ्याम से वढती हुई आत्मा की स्थिति से एक ऐसी दशा प्राप्त होती है कि जिससे वाह्य और अन्तरंग सब पदार्थों की भावना छूट जाती है। केवल दूसरों के प्रयत्न से शरीर की सासांरिक यात्रा चलती है। इसे "पदार्थ भावुकी" भूमिका कहते हैं।

१४. छः भूमिकाओं के अभ्यास से अहभाव का शान विल्कुल शमनहो जाने से एक प्रकार की स्वभाव निष्ठा प्राप्त होती है। उसे "तुर्यगा" कहते हैं। 'तुर्यगा की अवस्था' जीवन् मुक्त में होती-है'। तुर्यगा के पश्चात् की अवस्था 'विदेह युक्त' होती है; (योग वशिष्ट उत्पत्ति प्र. स. ११८ तथा निर्वाण से १२०)

का प्राबल्य रहने से वे विकास काल की गिनी जाती हैं—

ज्ञान की सातवीं भूमिका मे विकास अपनी पूर्ण कला को पहुँच जाता है। इसके बाद की स्थिति को मोक्ष कहते हैं।

बौद्ध-दर्शन।

बौद्ध साहित्य के मौलिक ग्रन्थों को "पिटक" कहते हैं। पिटक में कई स्थानों पर अध्यात्मिक विकास का व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन किया है। उसके अन्दर आत्मा की छः स्थितियें बतलाई गई हैं। १. अन्धपुथुज्जन २ कल्याण पुथुज्जन ३. सोतापन्न ४. सकृदागामी ५. औपपत्तिक ६. अरहा"

---

१. 'पुथुज्जन' सामान्य मनुष्य को कहते हैं। इसके "अन्ध पुथुज्जन" और "कल्याण पुथुज्जन" नामक दो विभाग किये हैं। यथा—

दुवे पुथुज्जना वुद्धेना दिच्च बन्धुना,
अन्धो पुथुज्जनो एको कल्याणे को पुथुज्जनो।

(२) इन दोनों में संयोजना (बंधन) तो दश ही प्रकार की होती है, अगर केवल इतना ही रहता है कि, जहाँ पहले का वह प्राप्त रहता है। वहा दूसरे को अप्राप्त रहती है। ये दोनों मोक्षमार्ग मे पराङ्मुख होते हैं।

२. मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होनेवालों के चार भेद हैं—जिन्होंने तीन संयोजना का नाश कर दिया है। वे "सोतापन्न" कहलाते हैं। सोतापन्न अधिक से अधिक इस मनुष्य लोक में सात बार जन्म ग्रहण करते हैं, उसके बाद अवश्य निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

३. जिन्होंने तीन संयोजना का तो नाश कर दिया हो और दो को शिथिल कर डाला हो वे "सकृदागामी" कहलाते हैं। "सकृदागामी" केवल एक ही बार मनुष्य लोक में आते हैं। उसके पश्चात् वे निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

इनमें से प्रथम स्थिति अध्यात्मिक अविकास की स्थिति है, दूसरी में यद्यपि कुछ कुछ विकास का स्फुरण होता है, फिर भी अविकास का ही अधिक प्रभाव रहता है तीसरी से छठी स्थिति तक उत्तरोत्तर विकास का क्रम बढ़ता जाता है। और छठी स्थिति मे जाकर वह विकास के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है। उसके पश्चात् निर्वाण-तत्त्व की प्राप्ति होती है, यदि इस विचारावलि को सक्षेप में कहा जाय तो यों कह सकते हैं कि पहली दो स्थितियां अविकास काल की हैं और अन्त की चार विकास काल की। उसके पश्चात् निर्वाण काल है।

जैन दर्शन

जैन साहित्य के प्राचीन ग्रन्थो मे जो आगम के नाम से प्रचलित है। आध्यात्मिक विकास का क्रम बहुत ही सुव्यवस्थित रूप से मिलता है। उनमें आत्मिक–स्थिति के चौदह विभाग कर रक्खे हैं–जो "गुणस्थान" नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

गुणस्थान—आत्मा की साम्य तत्त्वचेतना, वीर्य, चरित्र, आदि शक्तियों को "गुण" कहते हैं और उन शक्तियों की तारतम्य अवस्था को स्थान कहते हैं। जिस प्रकार बादलों की आड़ में सूर्य छिप जाता है, उसी प्रकार आत्मा के स्वाभाविक गुण भी कई प्रकार के आवरणों से छिप कर सांसारिक दशा

---

४. जिन्होंने पाँच सयोजना का नाश कर डाला हो, वे ओपपातिक कहलाते हैं। ओपपातिक ब्रह्मलोक में से ही निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

५. जिन्होंने दशों सयोजना का नाश कर डाला हो, वे 'अरहा' कहलाते हैं। वे इसी स्थिति में निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

में आवृत्त होते हैं। उन आवरणों का प्रावल्य ज्यो ज्यों कम होता है वे वादल ज्यों ज्यों फटते जाते हैं—त्यों त्यों आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रकाशमान होते जाते हैं। आवरणों का क्षय जितना ही अधिक होता है उतना ही अधिक आत्मा का विकास होता इन गुणों की असंख्य स्थितियाँ होजाती हैं, पर जैन आचार्य्यों ने स्थूलतम, उनकी चौदह स्थितियां वतलाई हैं। जिन्हे गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान की कल्पना प्रधानत. मोहनीय कर्म की प्रवलता या निर्वलता के ऊपर स्थित है, मोहनीय कर्म की प्रधान शक्तियां दो हैं। १—दर्शन मोहनीय २—चरित्र मोहनीय। पहली शक्ति का कार्य्य आत्मा के सम्यक्तु (वास्तविक) गुणों को आच्छन्न करने का है। इसके कारण आत्मा में सात्विक रुचि और सत्य दर्शन नहीं होने पाता। दूसरी शक्ति का कार्य्य आत्मा के चरित्र गुण को ढक देने का है। इसके कारण आत्मा तात्त्विक रुचि और सत्य दर्शन होने पर भी उसके अनुसार अग्रसर होकर अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाती, इन दोनों शक्तियों में दर्शन मोहनीय अधिक वलवान है। जहां तक यह शक्ति निर्वल नहीं होती, वहां तक चरित्र मोहनीय का वल नहीं घट सकता, दर्शन मोहनीय का वल घटते ही चरित्र मोहनीय क्रमशः निर्वल होता होता अन्त में नष्ट हो जाता है। आठों कर्मों में [ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र] मोहनीय सवसे प्रधान और वलशाली है। इसका कारण यह है कि जहां तक मोहनीय का प्रावल्य रहता है—वहां तक अन्य कर्मों का वल नहीं घट सकता और उसकी शक्ति के घटते ही अन्य कर्म भी क्रमागत-ह्रास को प्राप्त

होते हैं। यही कारण है कि गुणस्थानों की कल्पना मोहनीय कर्म के तारतम्यानुसार ही की गई है।

पहला गुणस्थान अविकास काल है, दूसरे और तीसरे मे विकास का कुछ स्फुरण होता है, पर प्रधानता अविकास की रहती है। चौथे गुणस्थान से विकास होते होते अन्त में चौदहवें में जाकर आत्मा पूर्ण कला पर पहुँच जाती है। उसके पश्चात् मोक्ष प्राप्त होता है। संक्षिप्त में पहले तीन गुणस्थान अविकास के हैं। और अन्तिम ग्यारह विकास काल के उसके पश्चात् मोक्ष का स्थान है।

यद्यपि यह विषय बहुत ही सूक्ष्म है, तथापि यदि इसको समझने की चेष्टा करते हैं तो यह बहुत ही अच्छा लगता है। यह आत्मिक-उत्क्रान्ति की विवेचना है मोक्ष-मन्दिर में पहुँचने के लिए निसेनी है। पहले सोपान से—जीने से—सब जीव चढ़ना प्रारम्भ करते हैं, कोई धीरे चलने से देर में, और कोई तेज चलने से जल्दी चौदहवे जीने पर पहुँचते ही मोक्ष-मन्दिर मे दाखिल हो जाते हैं। कई चढ़ते हुए ध्यान नहीं रखने से फिसल जाते हैं और प्रथम सोपान पर आ जाते हैं। ग्यारहवें सोपान पर चढ़े हुए जीव भी मोह की फटकार के कारण गिर कर प्रथम जीने पर आ जाते हैं। इसलिए शास्त्रकार बार बार कहते है कि चलते हुए लेश-मात्र भी गफलत न करो। बारहवें जीने पर पहुँचने के बाद गिरने का कोई भय नहीं रहता है। आठवें और नवें जीने मे भी यदि मोह-क्षय होना प्रारम्भ हो जाता है, तो गिरने का भय मिट जाता है।

इन चौदह गुण-स्थानों के निम्नाङ्कित नाम हैं:—मिथ्यात्व,

सासादन, मिश्र, अविरतसम्यक्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृति, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह, सयोग केवली और अयोग केवली।

मिथ्या दृष्टि गुणस्थान—इस बात को सब लोग समझते है कि प्रारम्भ में सब जीव अधोगति ही मे होते हैं इसलिए जो जीव प्रथम श्रेणी में होते हैं वे मिथ्यादृष्टि मे होते हैं। मिथ्या दृष्टि का अर्थ है—वस्तुतत्व के यथार्थ ज्ञान का अभाव। इसी प्रथम श्रेणी से जीव आगे बढ़ते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस दोष-युक्त प्रथम श्रेणी मे भी ऐसा कौन सा गुण है जिससे इसकी गिनती भी गुण-श्रेणी में की गई है इसका समाधान यह है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म और नीची हद के जीवों में भी चेतना की कुछ मात्रा तो अवश्यमेव उज्वल रहती है। इसी उज्वलता के कारण मिथ्या-दृष्टि की गणना भी 'गुण-श्रेणी' मे की गई है।

सासादन*—सम्यक्दर्शन से गिरती हुई दशा का यह नाम है। सम्यक्दर्शन प्राप्त होने के बाद क्रोधादि अति तीव्र कषायो का उदय होने से जीव के गिरने का समय आता है यह गुणस्थान पतनावस्था का है मगर इसके पहले जीव को सम्यग्दर्शन हो गया होता है, इसलिए यह भी निश्चित हो जाता है कि वह कितने समय तक संसार मे भ्रमण करेगा।

मिश्र गुणस्थान की अवस्था में आत्मा के भाव बड़े ही विचित्र होते हैं इस गुणस्थानवाला सत्य मार्ग और असत्य

---

* 'असादन' का अर्थ है अतितीव्र क्रोधादि कषाय। जो इन कषायों से युक्त होता है उसी को 'सासादन' कहते हैं।

मार्ग दोनो पर श्रद्धा रखता है। जैसे जिस देश मे नारियलों के फलो का भोजन होता है उस देश के लोग अन्न पर न श्रद्धा रखते हैं और न अश्रद्धा ही। इसी तरह इस गुणस्थान वाले की भी सत्य मार्ग पर न रुचि होती है और न अरुचि ही। खल और गुड़ दोनों को समान समझनेवाली मोह-मिश्रित वृति इसमें रहतो है। इतना होने पर भी इस गुणस्थान मे आने के पहले जीव को सम्यक्त्व हो गया होता है। इसलिये सासादन गुणस्थान की तरह उसके भव-भ्रमण का भी काल निश्चित हो जाता है।

अविरतसम्यक्दृष्टि—विरत का अर्थ है व्रत। व्रत विना जो सम्यक्त्व होता है उसको 'अविरत सम्यक्दृष्टि' कहते हैं। यदि सम्यक्त्व का थोड़ा सा भी स्पर्श हो जाता है, तो जीव के भव-भ्रमण की अवधि निश्चित हो जाती है। इसी के प्रभाव से सासादन और मिश्र गुणस्थान वाले जीवो का भव-भ्रमण काल निश्चित हो जाता है। आत्मा के एक प्रकार के शुद्ध विकास को सम्यक्दर्शन या सम्यक्दृष्टि कहते हैं इस स्थिति में तत्त्व-विषयक या सशय भ्रम को स्थान नहीं मिलता है। इस सम्यक्त्व से मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के योग्य होता है। इसके अतिरिक्त चाहे कितना ही कष्टानुष्ठान किया जाय, उससे मनुष्य को मुक्ति नहीं मिलती। मनुस्मृति में लिखा है:—

"सम्यक्दर्शन सम्पन्नः कर्मणा नहि वध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रति पद्यते"॥

भवार्थ—सम्यक्दर्शन वाला जीव कर्मों से नहीं बंधता है, और सम्यक्दर्शन विहीन प्राणी संसार में भटकता फिरता है।

देशविरति—सम्यक्त्व सहित, गृहस्थ के व्रतो को परिपालन करने का नाम देश विरति है। 'देश विरति',-शब्द का अर्थ है-सर्वथा नहीं-मगर अमुक अंश मे पाप कर्म से विरत होना।

प्रमत्त गुणस्थान—उन मुनि महात्माओं का है कि जो पञ्च महाव्रतो के धारक होने पर भी प्रमाद के बंधन से सर्वथा मुक्त नहीं होते हैं।

अप्रमत्त गुणस्थान—प्रमाद वंधन मे मुक्त हुए महामुनियों का यह सातवां गुणस्थान है।

अपूर्व † करण—मोहनीय कर्म को उपशम या क्षय करने का अपूर्व (जो पहिले प्राप्त नहीं हुआ) अध्यवसाय इस गुणस्थान में प्राप्त होता है।

अनिवृत्ति गुणस्थान—इसमे पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा ऐसा अधिक उज्वल आत्म परिणाम होता है कि जिससे मोह का उपशम या क्षय होने लगता है।

सूक्ष्म[1] सपराय—उक्त गुण स्थानो मे जब मोहनीय[2] कर्म का क्षय या उपशम होते हुए सूक्ष्म लोभांश ही शेप रह जाता है, तब यह गुण स्थान प्राप्त होता है।

---

† 'करण' यानी अध्यवसाय-आत्म परिणाम।

१—'सम्पराय' शब्द का अर्थ कषाय होता है—परतु यहाँ 'लोभ' समझना चाहिये।

२—यहाँ और ऊपर नीचे के गुण स्थानों में 'मोह' 'मोहनीय' ऐसे सामान्य शब्द रक्खे हैं—मगर इससे मोहनीय कर्म के जो विशेष प्रकार घटित होते हैं उन्हीं को यथायोग्य ग्रहण करना चाहिये, अवकाश के अभाव से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

उपशान्त मोह—पूर्व गुण स्थानों में मोह का उपशम करते करते जब आत्मा पूर्णतया मोह को दबा देती है—मोह का उपशम कर देती है, तब उसको यह गुणस्थान प्राप्त होता है।

क्षीणमोह—पूर्व गुण स्थानों में जिसने मोहनीय कर्म का क्षय करना प्रारंभ किया होता है, वह जब पूर्णतया मोह को क्षीण कर देता है, उसको यह गुणस्थान प्राप्त होता है।

यहाँ उपशम और क्षय के भेद को भी समझा देना आवश्यक है। मोह का सर्वथा उपशम हो जाने पर भी वह पुनः प्रादुर्भूत हुए बिना नहीं रहता है। जैसे किसी पानी के बर्तन में मिट्टी के नीचे जम जाने पर उसका पानी स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उस पानी में किसी प्रकार की हलन चलन होते ही मिट्टी ऊपर उठ आती है और वह पानी गदला हो जाता है। इसी तरह जब मोह के रजकण-मोह के पुंज—आत्म प्रदेशों में स्थिर हो जाते हैं तब आत्म प्रदेश स्वच्छ से दिखाई देते हैं, परन्तु वे उपशान्त मोह के रज-कण किसी कारण को पाकर फिर से उदय में आ जाते हैं, और उनके उदय में आने से जिस तरह आत्मा गुणश्रेणियों में चढ़ा होता है, उसी तरह वापिस गिरता है। इससे स्पष्ट है कि केवल ज्ञान मोह के सर्वथा क्षय होने ही से प्राप्त होता है, क्योंकि मोह का क्षय हो जाने पर पुनः वह प्रादुर्भूत नहीं होता है।

केवल ज्ञान के होते ही:—

'सयोग केवली' गुणस्थान-प्रारम्भ होता है, इस गुणस्थान के नाम में जो "सयोग" शब्द रखा गया है, उसका अर्थ

'योगवाला' होना है। योग का अर्थ है शरीरादि का व्यापार, केवल ज्ञान होने के बाद भी शरीरधारी के गमनागमन का व्यापार, बोलने का व्यापार आदि व्यापार होते हैं—इसलिये वे शरीर धारी केवली 'सयोग' कहलाते हैं।

उन केवली परमात्माओं के, आयुष्य के अन्त में, प्रबल शुक्लध्यान के प्रभाव से, जब सारे व्यापार रुक जाते हैं, तब उनको जो अवस्था प्राप्त होती है उसका नाम —

अयोग केवली गुणस्थान है। अयोगी का अर्थ है सर्व व्यापार रहित—सर्व क्रिया रहित।

ऊपर यह विचार किया जा चुका है, कि आत्मा गुण श्रेणियों में आगे बढ़ता हुआ, केवल ज्ञान प्राप्त कर, आयुष्य के अन्त में अयोगी बन तत्काल ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यह आध्यात्मिक विषय है—इसलिए यहाँ थोड़ी सी आध्यात्मिक बातों का दिग्दर्शन कराना उचित होगा।

अध्यात्म

संसार की गति गहन है. जगत् में सुखी जीवों की अपेक्षा दुखी जीवों का क्षेत्र बहुत बड़ा है। लोक आधिव्याधि और शोक संताप से परिपूर्ण हैं। हजारों तरह के सुख साधनों की उपस्थिति में भी सांसारिक वासनाओं में दुख की सत्ता भिन्न नहीं होती। आरोग्य लक्ष्मी सुवनिता और सत्पुत्रादि के मिलने पर भी दुःख का संयोग कम नहीं होता। इससे यह समझ में आ जाता है कि दुःख से सुख को भिन्न करना—केवल सुख भोगी बनना बहुत ही दुःसाध्य है।

सुख दुख का सारा आधार मनोवृत्तियों पर है, महान् धनी मनुष्य भी लोभ के चक्कर में फंस कर दुख उठाता है और महान् निर्धन मनुष्य भी सन्तोष वृत्ति के प्रभाव से मन के उद्वेगों को रोक कर सुखी रह सकता है। महात्मा भर्तृहरि कहते हैं:—

"मनसि च परितुष्टेकोऽर्थवान् को दरिद्र॰।"

इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि मनोवृत्तियों का विलक्षण प्रवाह ही सुख दुख के प्रवाह का मूल है।

एक ही वस्तु एक को सुख कर होती है, और दूसरे को दुख कर। जो चीज एक बार किसी को रुचि कर होती है— वही दूसरी बार उसको अरुचिकर हो जाती है। इससे हम जान सकते हैं कि बाह्य पदार्थ सुख दुख के साधक नहीं है— इनका आधार मनोवृत्तियो का विचित्र प्रवाह ही है।

राग, द्वेष और मोह ये मनोवृत्तियों के परिणाम हैं। इन्हीं तीनों पर सारा ससारचक्र फिर रहा है। इस त्रिदोष को दूर करने का उपाय अध्यात्म शास्त्र के सिवा अन्य (वैद्यक) ग्रन्थों मे नहीं है। मगर 'मैं रोगी हूँ' ऐसा अनुभव मनुष्य को बड़ी कठिनता से होता है। जहाँ संसार की सुख तरंगे मन से टकराती हों, विषयरूपी बिजली की चमक हृदयाकाश में खेल रही हो, और तृष्णारूपी पानी की प्रबल धारा में गिर कर आत्मा बे भान हो रहा हो वहाँ अपना गुप्त रोग समझना अत्यन्त कष्ट साध्य है। अपनी आन्तरिक स्थिति को नहीं समझने वाले जीव एक दम नीचे दर्जे पर हैं। मगर जो जीव इनसे ऊँचे दर्जे के हैं—जो अपने को त्रिदोषाक्रान्त समझते हैं, जो अपने को त्रिदोषजन्य उग्रताप से पीड़ित समझते हैं और जो उस रोग

के प्रतिकार की शोध में हैं। उनके लिए आध्यात्मिक उप-देश की आवश्यकता है।

'अध्यात्म' शब्द 'अधि' और "आत्मा" इन दो शब्दों के के मेल से बना है। इसका अर्थ है आत्मा के शुद्ध स्वरूप को लक्ष्य करके उसके अनुसार बर्ताव करना। संसार के मुख्य दो तत्व जड़ और चेतन—जिनमें से एक को जाने बिना दूसरा नहीं जाना जा सकता है—इस आध्यात्मिक विषय में पूर्णतया अपना स्थान रखते हैं।

"आत्मा क्या चीज है? आत्मा को सुख दुख का अनुभव कैसे होता है? सुख दुख के अनुभव का कारण स्वयं आत्मा ही है या किसी अन्य के संसर्ग से आत्मा को सुख दुख का अनुभव होता है। आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है वह सम्बन्ध आदिमान है या अनादि? यदि अनादि है तो उसका उच्छेद कैसे हो सकता है—कर्म के भेद प्रभेदों का क्या हिसाब है। कार्मिक बंध, उदय और सत्ता कैसे नियम बद्ध हैं?" अध्यात्म में इन सब बातों का भली प्रकार से विवेचन है।

इसके सिवा अध्यात्म विषय में मुख्यतया संसार की असा-रता का हूबहू चित्र खींचा गया है। अध्यात्म शास्त्र का प्रधान उपदेश भिन्न भिन्न भावनाओं को स्पष्टतया समझा कर मोह ममता के ऊपर दबाव रखना है।

दुराग्रह का त्याग, तत्व श्रवण की इच्छा, सन्तों का समागम साधुपुरुषों के प्रति प्रीति, तत्वों का श्रवण, मनन और अध्य-वसन, मिथ्यादृष्टि का नाश, सम्यक्दृष्टि का प्रकाश, क्रोध

मान, माया, और लोभ इन चार कषायों का संहार, इन्द्रियों का संयम, ममता का परिहार, समता का प्रादुर्भाव, मनोवृत्तियों का निग्रह, चित्त की निश्चलता, आत्म स्वरूप की रमणता, ध्यान का प्रवाह, समाधि का आविर्भाव-मोहादिकर्मों का क्षय और अन्त में केवलज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति, इस तरह आत्मोन्नति का क्रम अध्यात्म शास्त्रों में बताया गया है।

'अध्यात्म' कहिए चाहे 'योग' दोनो बातें एक ही हैं। योग शब्द 'युज्' धातु से बना है। जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। जो साधन मुक्ति के साथ सम्बन्ध जोड़ता है उसको योग कहते हैं।

अनन्त ज्ञान स्वरूप सच्चिदानदमय आत्मा कर्मों के संसर्ग से शरीर रूपी अन्धेरी कोठरी में बंद हो गया है। कर्म के संसर्ग का मूल कारण अज्ञानता है, सारे शास्त्रों और सारी विद्याओं के सीखने पर भी जिसको आत्मा का ज्ञान न हुआ हो उसके लिये समझना चाहिये कि वह अज्ञानी है। मनुष्य का ऊँचे से ऊँचा ज्ञान भी आत्मिक ज्ञान के बिना निरर्थक होता है।

अज्ञानता से जो दुख होता है वह आत्मिकज्ञान से ही क्षीण किया जा सकता है। ज्ञान और अज्ञान में प्रकाश और अन्धकार के समान विरोध है। अन्धकार को दूर करने के लिये जैसे प्रकाश की आवश्यकता होती है, वैसे ही अज्ञान को दूर करने के लिये ज्ञान की जरूरत पड़ती है। आत्मा जब तक कषायों इन्द्रियों और मन के अधीन रहता है-तब तक वह संसारिक कहलाता है। मगर वही जब इनसे भिन्न हो जाता है-निर्मोह बन अपनी शक्तियों को पूर्ण विकसित करता है, तब मुमुक्षु कहलाता है।

क्रोध का निग्रह क्षमा से होता है—मान का पराजय मृदुता से होता है–माया का संहार सरलता से होता है–और लोभ का निकंदन संतोष से होता है–इन कषायों को जीतने के लिये इन्द्रियों को अपने अधिकार में करना चाहिये, इन्द्रियों पर सत्ता जमाने के लिये मनः शुद्धि की आवश्यकता होती है—मनोवृत्तियों को रोकने की आवश्यकता होती है, वैराग्य और सत्क्रिया के अभ्यास से मन का रोध होता है। मनोवृत्तियाँ अविकृत होती हैं। *मन को रोकने के लिये राग द्वेष को अपने काबू में करना बहुत जरूरी है–रागद्वेष रूपी मैल को धोने का कार्य समता रूपी जल करता है। ममता के बिना मिटे समता का प्रादुर्भाव नहीं होता। ममता मिटाने के लिये कहा गया है कि:—

'अनित्यं संसारे भवति सकलं यन्नयनगम्।'

अर्थात्—'आंखों से इस संसार में जो दिखता है वह सब अनित्य है' ऐसी अनित्य भावना, और 'अशरण' आदि भावनाएँ करनी चाहियें, इन भावनाओं का वेग जैसे जैसे प्रबल होता जाता है वैसे ही वैसे ममत्व रूपी अंधकार क्षीण होता जाता है और समता की देदीप्यमान ज्योति जगमगाने लगती है। ध्यान की मुख्य जड़ समता है। समता की पराकाष्ठा ही से चित्त किसी एक पदार्थ पर स्थिर हो सकता है। ध्यान श्रेणी में आने के बाद–लब्धियां सिद्धियां प्राप्त होने पर यदि फिर से मनुष्य मोह

---

* १—"असंशय महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन च कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते॥" (भगवद्गीता)

में फँस जाता है, तो उसका अधःपात हो जाता है, इसलिये ध्यानी मनुष्य को भी प्रतिक्षण इस बात के लिए सचेत रहना चाहिये कि वह कहीं मोह में न फँस जाय।

ध्यान की उच्च अवस्था को 'समाधि' का नाम दिया गया है। समाधि से कर्म-व्यूह का क्षय होता है। केवलज्ञान का प्रकाश होता है। केवल ज्ञानी जब तक शरीरी रहता है तब तक वह जीवन मुक्त कहलाता है, पश्चात् शरीर का सम्बन्ध छूट जाने पर वह परब्रह्म स्वरूपी हो जाता है।

आत्मा मूढ़ दृष्टि होता है तब 'बहिरात्मा' और तत्त्वदृष्टि होने पर 'अन्तरात्मा' कहलाता है। सम्पूर्ण ज्ञानवान होने पर 'परमात्मा' कहलाता है। दूसरी तरह से कहे तो यों कह सकते हैं कि शरीर 'बहिरात्मा' है। शरीर सचैतन्य स्वरूप जीव 'अन्तरात्मा' है और अविद्यामुक्त परम शुद्धसच्चिदानन्द रूप बना हुआ जीव ही 'परमात्मा' है।

जैन शास्त्रकारो ने आत्मा की आठ दृष्टियो का वर्णन किया है, उनके ये नाम हैं—मित्रा, तारा, बला, दीपता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। इन दृष्टियों में आत्मा की उन्नति का क्रम है। प्रथम दृष्टि में जो बोध होता है—उसके प्रकाश को तृणाग्नि के उद्योत की उपमा दी गई है। उस बोध के अनुसार उस दृष्टि में सामान्यतया सद्वर्तन होता है। इस स्थिति में से जीव जैसे जैसे ज्ञान और वर्तन में आगे बढ़ता जाता है तैसे तैसे उसका विकास होता है।

ज्ञान और क्रिया की ये आठ भूमियां हैं। पूर्व भूमि की अपेक्षा उत्तर भूमि में ज्ञान और क्रिया का प्रकर्ष होता है। इन

आठ दृष्टियों में योग के आठ अंग जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि क्रमशः सिद्ध किये जाते हैं। इस तरह आत्मोन्नति का व्यापार करते हुए जीव जब अन्तिम भूमि में पहुँचता है, तब उसका आवरण क्षीण होता है और उसे केवल ज्ञान मिलता है।

महात्मा पातञ्जलि ने योग के लिये लिखा है—"योगश्चित वृत्ति निरोध." अर्थात् चित्त की वृतियो पर अधिकार रखना इधर, उधर भटकती हुई वृत्तियो को आत्म-स्वरूप में जोड कर रखना इसको योग कहते हैं। इसके सिवा इस हद पर पहुँचने के लिये जो शुभ व्यापार हैं वे भी योग के कारण होने से योग कहलाते है।

दुनिया में मुक्ति विषय के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाला एक अध्यात्म शास्त्र है। अध्यात्म शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है मुक्ति साधन का मार्ग दिखाना और उसमे आनेवाली बाधाओं को दूर करने का उपाय बताना। मोक्ष साधन के केवल दो उपाय हैं। प्रथम पूर्व सचित कर्मों का क्षय करना और द्वितीय, नवीन आनेवाले कर्मों को रोकना। इनमे प्रथम उपाय को 'निर्जरा' और द्वितीय उपाय को 'सवर' कहते हैं—इनका वर्णन पहले किया जा चुका है। इन उपायो के सिद्ध करने के लिये शुद्ध विचार करना, हार्दिक भावनाएँ दृढ़ रखना, अध्यात्मिक तत्त्वों का पुनः पुन. परिशोलन करना और खराब सयोगो से दूर रहना यही अध्यात्मशास्त्र के उपदेश का रहस्य है।

आत्मा में अनन्त शक्तियां है। आवरणों के हटने से आत्मा की जो शक्तियां प्रकाश में आती हैं उनका वर्णन करना कठिन

है। आत्मा की शक्ति के सामने वैज्ञानिक चमत्कार तुच्छ है, जड़वाद विनाशी है, आत्मवाद उससे विरुद्ध है—अविनाशी है। जड़वाद से प्राप्त उन्नतावस्था और जड़ पदार्थों के आविष्कार सब नश्वर हैं, परन्तु आत्म-स्वरूप का प्रकाश और उससे होने वाला अपूर्व आनन्द सदा स्थायी है। इन बातों से बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है कि आध्यात्मिक तत्त्व कितने मूल्यवान और सर्वोत्कृष्ट हैं।

छठा अध्याय

जैन-शास्त्रों में भौतिक विकास

आध्यात्मिक विकास ही की तरह जैन-शास्त्रों में भौतिक विकास का भी बड़ी ही सुन्दरता के साथ वर्णन किया गया है। समय के अनुसार मनुष्य का किस प्रकार विकास और ह्रास होता है इसका बड़ा ही क्रमबद्ध विवेचन पाया जाता है।

जैन-धर्म के अन्तर्गत काल के दो विभाग किये गये हैं १. उत्सर्पिणी काल और २. अवसर्पिणी काल। उत्सर्पिणी के अन्तर्गत मनुष्य का शरीर, शक्ति, बल, और आयु आदि क्रम से अपना विकास करते रहते हैं और अवसर्पिणी काल में इनका क्रम गत ह्रास होता रहता है। उस क्रम विकास को और स्पष्ट करने के लिए जैनाचार्यों ने इन दोनों विभागों के छः छः विभाग और कर दिये हैं जो निम्न प्रकार हैं।

उत्सर्पिणी काल	अवसर्पिणी काल
१. दुखमा दुखमा	१. सुखमा सुखमा
२. दुखमा	२. सुखमा
३. दुखमा सुखमा	३. सुखमा दुखमा

४. सुखमा दुखमा	४. दुखमा सुखमा
५. सुखमा	५. दुखमा
६. सुखमा सुखमा	६. दुखमा दुखमा

उत्सर्पिणी के प्रथम "दुखमा-दुखमा" काल में मनुष्य की आयु बीस वर्ष की और काया एक हाथ लम्बी होती है। इसमें मनुष्य महा दुखी, शक्ति हीन, और निर्लज्ज होते हैं। पाप और पुण्य की उस समय कुछ भी विरासत नहीं समझी जाती। यह काल इक्कीस हजार वर्षों का होता है। इसमे मनुष्य क्रम से अपना विकास करता रहता है। इक्कीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर दूसरे "दुखमा" काल का प्रारम्भ होता है। इसके प्रारम्भ में मनुष्य की आयु कुछ कम और अन्त मे बढ़ते बढ़ते सौ वर्ष तक हो जाती है। शरीर भी बढ़ते बढ़ते चार साड़े चार हाथ तक हो जाता है। शक्ति, बल, पाप, और पुण्य के भाव सब बढ़ते रहते हैं। मतलब यह कि प्राणी अपना धीरे धीरे विकास करता रहता है। प्रकृति भी कृपालु होती जाती है, वर्षा, धन-धान्य, रोगों की कमी आदि सब बातें क्रम से बढ़ती जाती हैं। यह काल भी इक्कीस हजार वर्षों का माना जाता है। इसके पश्चात् दुखमा सुखमा काल का प्रादुर्भाव होता है। इसमें मनुष्य की काया सात हाथ की हो जाती है और क्रमशः बढ़ती रहती है। शक्ति, आयु, बल और प्रकृति की कृपा का और भी आधिक्य होता जाता है। इस काल में तीर्थंकर अवतीर्ण होने लगते हैं। इस काल के समाप्त हुए पश्चात् सुखमा दुखमा काल का आविर्भाव होता है। इसमें मध्य तक संसार कर्म भूमि रहती है। अर्थात् वहाँ तक मनुष्य अपने कर्मों से—अपनी ताकत से

कमा कर खाता है। उसके पश्चात् "भोग भूमि" का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसमें मनुष्य को अपनी ताकत से कुछ भी कार्य्य नहीं करना पड़ता, उसे सब अभीष्ट वस्तुएं कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं। भोग भूमि प्रारम्भ हुए के पश्चात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का पैदा होना बन्द हो जाता है। क्योंकि महापुरुष तो अपनी निजी शक्ति से कर्म करके महापुरुष होते हैं और उस समय मनुष्य को कर्म करने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता. सब काम कल्पवृक्षों से होते रहते है। इधर नरक के द्वार बन्द हो जाते हैं. उधर मोक्ष भी अप्राप्य हो जाता है। सिवाय स्वर्ग के कोई गति नहीं रह जाती। चारों ओर भोग ही भोग के दृश्य नजर आने लगते है। लडाई, दङ्गे, पाप आदि सब बन्द हो जाते हैं। मनुष्य की शक्ति, आयु और शरीर की ऊँचाई इतनी बढ़ जाती है, कि जिसका कोई हिसाब नहीं। इसके खतम हुए पश्चात् पाँचवे "सुखमा" काल का पादुर्भाव होता है। इसमे भोगों की तादाद और भी बढ़ती है। उसके पश्चात् छठे सुखमा--सुखमा काल का आविर्भाव होता है। इसके अन्दर मनुष्य की आयु, काया, और शक्ति की हद हो जाती है। इसके अन्त में मनुष्य के भौतिक विकास की पूर्णता हो जाती है।

इसके समाप्त हुए पश्चात् फिर इसी "सुखमा-सुखमा" काल का प्रादुर्भाव होता है। पर यह काल अवसर्पिणी का पहला काल होता है। इसमे मनुष्य की वही स्थिति रहती है जो उत्सर्पिणी काल के छठे आरे में रहती है, अन्तर केवल इतना ही होता है कि जहाँ उत्सर्पिणी काल के छठवें आरे मे मनुष्य की शक्ति, आयु और बल बढ़ते रहते हैं वहाँ उसमें घटना प्रारम्भ

हो जाता है। उसमें ह्रास से विकास होता है, इसमें विकास से ह्रास होता है। उस काल में मनुष्य अपनी निकृष्ट अवस्था से प्रारम्भ होकर उत्कृष्ट अवस्था को पहुँचता है इसमें उत्कृष्ट से निकृष्ट अवस्था को गति करता है। सुखमा-सुखमा काल खतम होने पर "सुखमा" काल का प्रादुर्भाव होता है उसके पश्चात् सुखमा दुखमा का। इस काल के मध्य तक तो भोग भूमि रहती है, फिर कर्म भूमिका आविर्भाव होता है। इसी काल में तीर्थंकर उत्पन्न होना प्रारम्भ होते हैं जो चौथे दुखमा सुखमा काल के अन्त तक होते रहते हैं। भगवान महावीर इसी चौथे काल के अन्त में जब कि इस पंचमकाल के प्रारम्भ होने में तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष थे, निर्वाण को प्राप्त हुए थे। उनके पश्चात् पंचमकाल का प्रारम्भ हुआ।

गौतम के प्रश्न करने पर पञ्चमकाल के भाव बतलाते हुए भगवान् महावीर ने कहा था—"हे गौतम! पञ्चमकाल में सब मनुष्यों की धर्म बुद्धि कषायों के कारण लोप हो जायगी। वे बाड़ रहित खेत की तरह मर्य्यादा रहित हो जायगे। ज्यों ज्यों समय बीतता जावेगा, त्यों त्यों मनुष्य की बुद्धि पर अधिकाधिक मोह का परदा पड़ता जायगा। लोगों की हिंसादिक क्रूर प्रवृतियाँ बढ़ती जायंगी। ग्राम स्मशान की तरह, शहर प्रेत-लोक के समान, कुटुम्बी दास की नाईं और राजा यमदण्ड के समान होंगे। राजा लोग मद-मत्त होकर अपने सेवकों का निग्रह करेंगे और सेवक प्रजा-जनों को लूटना आरम्भ करेंगे। इस प्रकार का "मत्स्यन्याय" अर्थात् 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होगी। चोर चोरी से, राजा कर

से, और अधिकारी रिश्वत से प्रजा का खून चूसेंगे। लोग स्वार्थलोलुप, परमार्थ से विमुख, और सत्य, लज्जा, दया, एवं दाक्षिण्य से रहित हो जायंगे। शिष्य गुरु की आराधना न करेंगे और गुरु भी उनमें शिष्यभाव न रक्खेंगे। धर्म मे लोगों की बुद्धि मन्द हो जायगी। पृथ्वी अत्यन्त प्राणियों से आकुल हो जायगी। पुत्र पिता की अवज्ञा करेंगे, बहुएँ सर्पिणी के समान और सासुएँ कालरात्रि की तरह होंगी। कुलीन स्त्रियां भी लज्जा छोड़ कर विकार से, हास्य से, अलाप से अथवा दूसरे प्रकारों से वैश्याओं का अनुकरण करने लगेंगी।। श्रावक और श्राविका धर्म की भी हानि होगी, चारों प्रकार के सघ-धर्म का क्षय हो जायगा। झूठे तौल और झूठे बाटो का प्रचार होगा। धर्म में शठता होगी, सत्पुरुष दुखी और दुर्जन सुखी होंगे। मणि, मंत्र, औषधि, तंत्र, विज्ञान, धन, आयु फल, पुष्प, रस, रूप, शरीर की ऊंचाई, धर्म, वृष्टि, और दूसरे शुभ भावों की पञ्चमकाल में दिन प्रति दिन हानि होती जायगी और छठे काल में तो यह हानि पराकाष्ठा पर पहुँच जायगी।

उपरोक्त कथन की सत्यता इस काल में कितनी प्रमाणित होती जा रही है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। हमारा कथन केवल इतना ही है कि जैन-शास्त्रों के अन्तर्गत मनुष्य के विकास और ह्रास का जितना विवेचन है उसमें अतिशयोक्ति का कुछ अंश होने पर भी यथार्थता का अधिक अंश है।

सातवां अध्याय

गृहस्थ के धर्म

जैनाचार्य्यों ने अपने शास्त्रो मे गृहस्थ-धर्म और साधु-धर्म पर बहुत विस्तृत विवेचन किया है। दिगम्बर-साहित्य में तो "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" के समान पुस्तकें इस विषय पर मौजूद हैं। गृहस्थ-धर्म का दूसरा नाम श्रावक-धर्म भी है। इस धर्म का पालन करनेवाले पुरुष "श्रावक" और स्त्रियाँ "श्राविकाएँ" कहलाती हैं। गृहस्थ-धर्म पालने में बारह व्रत बतलाये गये हैं।

१—स्थूल प्राणातिपात विरमण, २—स्थूल मृषावाद विरमण ३—स्थूल अदत्तादान विरमण, ४—स्थूल मैथुन विरमण, ५—परिग्रह परिणाम, ६—दिग्व्रत, ७—भोगोपभोग परिमाण, ८—अनर्थ दण्ड विरति, ९—सामायिक, १०—दैशावकाशिक, ११—प्रोषध और १२—अतिथि संविभाग।

१—स्थूल प्राणातिपात विरमण-(अहिंसा) इस व्रत का विस्तृत वर्णन हम इस खण्ड के पहले अध्याय में कर आये हैं। उस लेख में हम यह बतला चुके हैं कि गृहस्थ स्थूल हिंसा का त्यागी नहीं होता। संसारिक व्यवहार चलाने के लिये अथवा

देश, जाति एवं राष्ट्र की रक्षा करने के लिये उसे हिंसा करना अनिवार्य्य होता है और जैन-शास्त्रों में इस प्रकार की हिंसा की मनाई भी नहीं है। लालालाजपराय तथा अन्य विद्वानों का यह कथन बिलकुल भ्रम मूलक है कि जैन-अहिंसा मनुष्य के पुरुषत्व को नष्ट कर कायर बना देती है। जैन-अहिंसा का पालन और अध्ययन करते समय यह खयाल में रखना चाहिये कि जैन-धर्म का दया सम्बन्धी उपदेश दुनिया को कायर बनाने वाला नहीं है बल्कि विवेक मार्ग को सिखानेवाला है। व्यर्थ की लड़ाई करने से, अथवा टण्टा खड़ा करने से मानवीय शक्ति का दुरुपयोग होता है, देश बर्बाद होता है, जाति नष्ट होती है—और तामसिक वृत्ति की अभिवृद्धि होकर मनुष्य क्रूर बन जाता है। देश की रक्षा के लिए सात्विक शौर्य्य दिखाने की, युद्ध करने की और क्रूर लोगों के हाथ से प्रजा को बचाने की जैन-धर्म में आज्ञा है। इतिहास और प्राचीन जैन शास्त्र इस बात के प्रमाण हैं। जैन-धर्म गृहस्थों को गृहस्थ के मुताबिक चलने की आज्ञा देता है। उसका कथन तो सिर्फ इतना ही है कि अपने स्वार्थ के लिए अपने से निरपराध दुर्बल प्राणी को व्यर्थ मत सताओ। इस बात का अनुमोदन कोई भी धर्मशास्त्र नहीं कर सकता कि निरपराध को सताना अच्छा है। योग्यतानुसार अपराधी को दण्ड देने की योजना करना किसी धर्मशास्त्र मे निषिद्ध नहीं है।

जो व्यक्ति मनस्तत्व के सिद्धान्तों को नहीं जानता है, वह धर्म के तत्वों को भी नहीं समझ सकता है और इसी-लिए उसके जीवन की दशा बहुत अनवस्थित हो जाती है।

मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह अपनी लागणियों को अपने जज्बों को दया से दबा रक्खे। जगत का कल्याण उन्हीं लोगो से होता है जो उदार हृदय वाले होते हैं। जिस काल में दयाहीन स्वार्थी लोगो का दौरदौरा होता है उस काल में प्रजा को जो दुःख उठाने पड़ते हैं वे इतिहास के वेत्ताओं से छिपे नही हैं।

इसलिए जैन शास्त्रों में गृहस्थ धर्म का वर्णन करते हुए कहा है कि:—गृहस्थ को जान बूझ कर संकल्प पूर्वक किसी त्रस्त जीव को न मारना चाहिये—न सताना चाहिये। बिना किसी प्रयोजन के किसी भी आत्मा को खेद पहुँचे इस प्रकार के दुर्वचन न कहना चाहिये।

स्थूल मृषावाद विरमण—जो सूक्ष्म असत्य से बचने का व्रत नहीं निभा सकते हैं—उनके लिए स्थूल (मोटे) असत्यो का त्याग करना बताया गया है। इसमे कहा गया है कि, कन्या के सम्बन्ध में, पशुओं के सम्बन्ध में, खेत कुओं के सम्बन्ध मे और इसी तरह की और बातों के सम्बन्ध मे झूठ नहीं बोलना चाहिये। यह भी आदेश किया गया है कि दूसरो की धरोहर नहीं पचा जाना चाहिये, झूठी गवाही नहीं देनी चाहिये, और जाली लेख-दस्तावेज नहीं बनाने चाहियें।

स्थूल अदत्ता दान विरमण—जो सूक्ष्म चोरी को त्यागने का नियम नही पाल सकते उनके लिये स्थूल चोरी छोड़ने का नियम बताया गया है। स्थूल चोरी में इन बातो का समावेश होता है:—

"पतितं विस्मृतं नष्टं स्थितं स्थापित माहितम्।
अदत्तं नाददीतस्वं परकीयं क्वचिद् सुधी॥"

खाद डालना, ताला तोड़ना, जेबकटी करना, खोटे बाट, तोल रखना, कम देना, ज्यादा लेना आदि और ऐसी चोरी नहीं करना जो राज नियमों में अपराध बताई गई हो। किसी की रास्ते में पड़ी हुई चीज को उठा लेना, किसी के जमीन मे गड़े हुए धन को निकाल लेना और किसी की धरोहर पचा लेना—इन बातों का इस व्रत में पूर्णतया त्याग करना चाहिये।

स्थूल मैथुन विरमण—इस व्रत का अभिप्राय है, पर स्त्री का त्याग करना, वैश्या, विधवा, और कुमारी की संगति से दूर रहना तथा जिस बात में जीवों का संहार होता हो, ऐसा पापमय व्यापार नहीं करना।

अनर्थ दंड विरमण—इसका अर्थ है बिना मतलब दंडित होने से-पाप द्वारा बंधने से बचना। व्यर्थ खराब ध्यान न करना. व्यर्थ पापोपदेश न देना और व्यर्थ दूसरों को हिंसक उपकरण न देना, इस व्रत का पालन है। इनके अतिरिक्त, खेल तमाशे देखना, गप्पें लड़ाना, हसी दिल्लगी करना आदि प्रमादाचरण करने से यथाशक्ति बचते रहना भी इस व्रत में आ जाता है।

सामायिक व्रत—राग द्वेष रहित शान्ति के साथ मे दो घड़ी यानी ४८ मिनिट तक आसन पर बैठने का नाम सामयिक है। इस समय में आत्मतत्व का चिन्तन, वैराग्यमय शास्त्रों का परिशीलन अथवा परमात्मा का ध्यान करना चाहिये।

देशावकाशिक व्रत—इसका अभिप्राय है छठे व्रत में ग्रहण

किये हुए दिग्व्रत के दीर्घकालिक नियम को एक दिन या अमुक समय तक के लिये परिमित करना, इसी तरह दूसरे व्रतों में जो छूट हो उसको भी सत्तेप करना।

प्रोषध व्रत—यह धर्म का पोषक होता है इसलिए-'प्रोपध' कहलाता है। इस व्रत का अभिप्राय है—उपवासादि तप करके चार या आठ पहर तक साधु की तरह धर्म कार्य में आरूढ़ रहना। इस प्रोषध में शरीर की, तैलमर्दन आदि द्वारा शुश्रूषा का त्याग, पाप व्यापार का त्याग तथा ब्रह्मचर्य्य पूर्वक धर्मक्रिया करने को, शुभ ध्यान को, अथवा शास्त्र मनन को, स्वीकार किया जाता है। त्याग करना भी इसी व्रत मे आ जाता है।

परिग्रह परिमाण—इच्छा अपरिमित है। इस व्रत का अभिप्राय है–इच्छा को नियमित रखना। धन, धान्य, सोना, चाँदी घर, खेत, पशु आदि तमाम जायदाद के लिए अपनी इच्छानुसार नियम ले लेना चाहिए। नियम से विशेप कमाई हो तो उसको धर्म कार्य में खर्च कर देना चाहिये। इसका परिमाण नहीं होने से लोभ का विशेप रूप से बोझा पड़ता है और उसके कारण आत्मा अधोगति में चली जाती है। इसलिए इस व्रत की आवश्यकता है।

दिग्व्रत—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम इन चारों दिशाओं और ईशान, आग्नेय, नैर्ऋत्य और वायव्य इन विदिशाओं में जाने आने का नियम करना, यह इस व्रत का अभिप्राय है। बढ़ती हुई लोभ वृत्ति को रोकने के लिये यह नियम बनाया गया है।

भोगोपभोग परिमाण—जो पदार्थ एक ही बार उपभोग

में आते हैं—वे भोग कहलाते हैं, जैसे अन्न, पानी आदि। और जो पदार्थ बार बार काम में आ सकते हैं वे उपभोग कहलाते हैं जैसे—वस्त्र जेवर आदि। इस व्रत का अभिप्राय है कि इनका नियम करना, इच्छानुसार निरन्तर परिमाण करना। तृष्णा लोलुपता पर इस व्रत का कितना प्रभाव पड़ता है—इससे तृष्णा कितनी नियमित हो जाती है, सो अनुभव करने ही से मनुष्य भली प्रकार जान सकता है। मद्य, मांस, कन्दमूल आदि अभक्ष पदार्थों का त्याग भी इसी व्रत मे आ जाता है। शान्ति मार्ग में आगे बढ़ने की जब मनुष्य को इच्छा होती है, तब वह इस व्रत का पालन करता है।

अतिथि सविभाग—अपनी आत्मोन्नति करने के लिये गृहस्थाश्रम का त्याग करने वाले मुमुक्षु 'अतिथि' कहलाते हैं। उन अतिथियों को, मुनि महात्माओं को अन्न वस्त्र आदि चीजों का जो उनके मार्ग में बाधा न डालें, मगर उनके सयम पालन मे उपकारी हों, दान देना और रहने के लिए स्थान देना इस व्रत का अभिप्राय है। साधु-सतों के अतिरिक्त उत्तम गुण-पात्र गृहस्थों के प्रति भक्ति करना भी इस व्रत मे सम्मिलित होता है।

इन बारह व्रतों मे से प्रारम्भ के पाँच व्रत "अणुव्रत" कहलाते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि वे साधु के महाव्रतों के सामने 'अणु' मात्र हैं—बहुत छोटे हैं। उनके बाद तीन 'गुण व्रत' कहलाते हैं—इनका मतलब यह है कि ये तीन व्रत अणुव्रतों का गुण यानी उपकार करने वाले हैं—उनको पुष्ट करने वाले हैं। अन्तिम चार 'शिक्षाव्रत' कहलाते हैं। शिक्षाव्रत शब्द का अर्थ है—विशेष धार्मिक कार्य करने का अभ्यास डालना।

बारहों व्रत ग्रहण करने की सामर्थ्य न होने पर शक्ति के अनुसार भी व्रत ग्रहण किये जा सकते हैं। इन व्रतो का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बिना गृहस्थ-धर्म का सम्पादन नहीं हो सकता है।

रात्रि भोजन का निषेध।

रात्रि मे भोजन करना अनुचित है, इस विषय पर पहले अनुभव-सिद्ध विचार करना ठीक होगा। सन्ध्या होते ही अनेक सूक्ष्म जीवों के समूह उड़ने लगते हैं। दीपक के पास रात में वेशुमार जीव फिरते हुए नजर आते हैं, खुले रक्खे हुए दीपक पात्र मे सैकड़ों जीव पड़े हुए दिखाई देते हैं। इसके सिवा रात होते ही अपने शरीर पर भी अनेक जीव बैठते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, रात्रि में जीव-समूह भोजन पर भी अवश्यमेव बैठते ही होगे। अतः रात में खाते समय, उन जीवों में से जो भोजन पर बैठते हैं, उन जीवों को लोग खाते हैं, और इस तरह उनकी हत्या का पाप अपने सिर लेते हैं। कितने ही जहरी जीव रात्रि-भोजन के साथ पेट में चले जाते हैं, और अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। कई ऐसे जहरी जन्तु भी होते हैं, जिनका असर पेट में जाते ही नहीं होता, दीर्घ काल के बाद होता है। जैसे जूँ से जलोदर, मकड़ी से कोढ़ और चिटी से बुद्धि का नाश होता है। यदि कोई तिनका खाने मे आ जाता है तो वह गले में अटक कर कष्ट पहुँचाता है। मक्खी खा जाने से वमन हो जाती है, और अगर कोई जहरी जन्तु खाने में

आ जाता है तो मनुष्य मर जाता है। अकाल ही मे काल का भोजन बन जाता है।

शाम को। (सूर्यास्त के पहले) किया हुआ भोजन जठराग्नि की ज्वाला पर चढ जाता है–पच जाता है, इसलिये निद्रा पर उसका असर नहीं होता है। मगर इससे विपरीत करने से रात को खा कर थोड़ी ही देर में सो जाने से, चलना फिरना नहीं होता इसलिये पेट में तत्काल का भरा हुआ अन्न, कई वार गंभीर रोग उत्पन्न कर देता है। डाक्टरी नियम है कि भोजन करने के बाद थोड़ा थोड़ा जल पीना चाहिये, यह नियम रात में भोजन करने से नहीं पाला जा सकता है। क्योंकि इसके लिये अवकाश ही नहीं मिलता है इसका परिणाम 'अजीर्ण' होता है। अजीर्ण सब रोगों का घर होता है, यह वात हर एक जानता है। प्राचीन लोग भी पुकार पुकार कर कहते हैं—
"अजीर्ण प्रसवा रोगाः।"

इस प्रकार हिंसा की वात को छोड़ कर आरोग्य का विचार करने पर भी सिद्ध होता है कि रात में भोजन करना अनुचित है। यहां हम थोड़ा सा यह भी वता देना चाहते हैं कि इस विपय में धर्मशास्त्र क्या कहते हैं?

हिन्दू धर्मशास्त्रों में 'मार्कण्डेय' मुनि प्रख्यात हैं। वे कहते हैं कि–

"अस्तं गते दिवानाथे आपो रुधिर मुच्यते।
अन्नं मासं समं प्रोक्तं मार्कण्डेन महर्पिणा।"

भावार्थ—मार्कण्ड ऋषि कहते हैं कि सूर्य के अस्त हो जाने पर जल पीना मानो रुधिर पीना है, और अन्न खाना मानो मांस खाना है।

कूर्म पुराण में भी लिखा है कि:—

"न द्रुह्येत् सर्व भूतानि निर्द्वन्द्वो निर्भयो भवेत् ।
न नक्तं चैवम श्नीयाद् रात्रौ ध्यान परो भवेत् ॥"

(२७ वां अध्याय ६४५ वां पृष्ठ)

भावार्थ–मनुष्य सब प्राणियो पर द्रोह-रहित रहे, निर्द्वन्द्व और निर्भय रहे तथा रात को भोजन न करे और ध्यान में तत्पर रहे। और भी ६५३ वें पृष्ठपर लिखा है कि:—

"आदित्ये दर्शयित्वान्नं भुञ्जीत प्राङमुखे नरः ।"

भावार्थ–सूर्य हो उस समय तक दिन में गुरु या बड़े को दिखा, पूर्व दिशा में मुख करके भोजन करना चाहिये।

अन्य पुराणों और अन्य ग्रन्थो में भी रात्रि भोजन का निषेध करनेवाले अनेक वाक्य मिलते हैं–महाभारत में युधिष्ठिर को सम्बोधन करके यहां तक कहा गया है कि किसी को भी चाहे वह गृहस्थ हो या साधु, रात्रि मे जल तक नही पीना चाहिये जैसे:—

"नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर !
तपस्विनां विशेषेण गृहीणां च विवेकिनाम ॥"

भावार्थ—तपस्वियों को मुख्यतया रात में पानी नहीं पीना चाहिये और विवेकी गृहस्थों को भी इसका त्याग करना चाहिये, और भी कहा है कि.—

"दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभूते दिवाकरे ।
एतद् नक्तं विजयानीयाद् न नक्तं निशि भोजनम् ॥
मुहूर्त्तोनं दिनं नक्तं प्रवदन्ति मनीषिण. ।
नक्षत्र दर्शनान्नक्तं नाहं मन्ये गणाधिप ॥"

भवार्थ—दिन के आठवे भाग को–जव कि दिवाकर मन्द हो जाता है–(रात होने के दो घड़ी पहले के समय को) 'नक्त' कहते हैं। 'नक्त'–'नक्तव्रत' का अर्थ रात्रि भोजन नहीं है–हेगणाधिप ! बुद्धिमान् लोग उस समय को 'नक्त' वताते हैं, जिस समय एक मुहूर्त्त दो घडी दिन अवशेप रह जाता है। मैं नक्षत्र दर्शन के समय को नक्त नहीं मानता हूँ, और भी कहा है कि:—

"अम्भोदपटलच्छन्ने नाश्नन्ति रवि मण्डले।
अस्तंगतेतु भुञ्जाना अहो ! भानो सुमेवका ॥
ये रात्रो सर्वदाऽऽहारं वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेपा पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥
मृतेस्वजन मात्रेऽपि सूतकं जायते किल।
अस्तंगते दिवानाथे भोजनं क्रियते कथम् ॥१॥"

भावार्थ—यह वात कैसे आश्चर्य की है कि–सूर्य्यभक्त जव सूर्य, मेघों से ढक जाता है, तव तो वे भोजन का त्याग कर देते हैं, परन्तु वही सूर्य जव अस्त दशा को प्राप्त होता है तव वे भोजन करते हैं। जो रात में भोजन नहीं करते हैं वे एक महीने मे एक पक्ष के उपवासों का फल पाते हैं क्योंकि रात्रि के चार पहर वे सदैव अनाहार रहते हैं। स्वजन मात्र के (अपने कुटुम्ब में से किसी के) मर जाने पर भी जव लोग सूतक पालते हैं, यानी उस दशा में अनाहार रहते हैं, तव दिवानाथ सूर्य के अस्त होने वाद तो भोजन किया ही कैसे जा सकता है।

और भी कहा है.—

"देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्ने मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा–
अपराह्ने च पितृभि. सायाह्ने दैत्य दानवैः

सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः सदा भुक्तं कुलोद्वह ।
सर्ववेलामतिक्रम्य रात्रौ भुक्तम भोजनम् ॥"

इन दो श्लोको में युधिष्ठिर से कहा गया है कि हे युधिष्ठिर ! दिन के पूर्व भाग में देवता, मध्याह्न काल में ऋषि, तीसरे पहर मे पितृगण, सायंकाल मे दैत्य-दानव और सन्ध्या समय मे यक्ष-राक्षस भोजन करते हैं । इन समयों को छोड कर जो भोजन किया जाता है वह भोजन दुष्ट भोजन हो जाता है ।

रात में छः कार्य करना मना किया गया है उनमे रात्रि-भोजन भी है । यह भी रात्रि-भोजन निषेध के कथन को पुष्ट करता है । जैसे :—

"नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम् ।
दानं वा विहितं रात्रो भौजनं तु विशेपतः ॥"

भावार्थ—आहुति, स्नान, श्राद्ध, देव पूजन, दान और ख़ास करके भोजन रात में नही करना चाहिये ।

इस विषय में आयुर्वेद का मुद्रालेख भी यही है कि :—

"हृन्नाभि पद्म संकोचश्चण्डरोचिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्म जीवादनादपि ॥"

भावार्थ—सूर्य छिपजाने के वाद हृदय कमल और नाभि कमल दोनों संकुचित हो जाते हैं, और सूक्ष्म जीवो का भी भोजन के साथ भक्षण हो जाता है, इसलिए रात मे भोजन न करना चाहिये ।
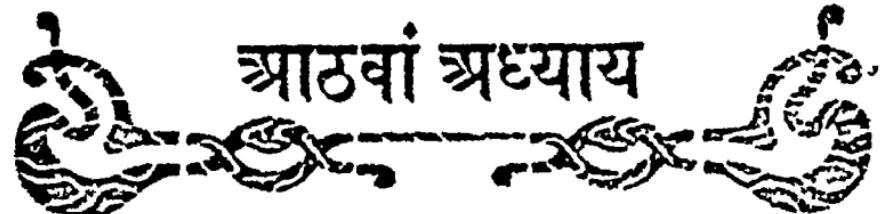
धर्म के तुलनात्मक शास्त्र में जैन धर्म का स्थान

तुलनात्मक धर्मशास्त्र मे जैन धर्म को कौन सा स्थान प्राप्त है यह प्रश्न बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसके विषय में डा० परटोल्ड ने खानदेश के धूलिया शहर में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण व्याख्यान दिया था, पाठकों को जानकारी के निमित्त हम उसका सारांश नीचे देते हैं।

संसार में इस समय दो जातियाँ ऐसी दृष्टिगोचर होती हैं जिनकी धार्मिक कल्पनाओं का विकास उच्च धार्मिक सोपानो तक हुआ है, इनमे एक सेमेटिक और दूसरी आर्य्य जाति है। धर्म की उच्चतम मर्य्यादा और उसके विकास को पूर्णतया समझने के लिये हमें उन दोनो जातियों के विस्तृत इतिहास का अध्ययन करना चाहिये।

सेमेटिक जाति के धार्मिक इतिहास का प्रथम प्रारम्भ बैबिलोनिया से होता है। शुरू से ही उसके इतिहास का झुकाव पश्चिम की ओर हुआ है। ऐतिहासिक काल की ओर दृष्टि-

पात करने पर हमें मालूम होता है कि सेमेटिक लोगो का धर्म पहले एशिया के पूर्वोत्तरीय विभाग में प्रस्तारित हुआ, और उसके पश्चात् इजिप्ट और यूरोप के दक्षिणी भाग मे उसने अपने पैर गाडे ।

वैबिलोनिया से उसका जीवन समाप्त होने के पश्चात् उसके धार्मिक विकास का नया केन्द्र पैलेस्टाइन में निर्मित हुआ । इस नूतन केन्द्र-स्थल मे दो प्रकार के धर्म विचारों का जन्म हुआ, एक यहूदी और दूसरा ख्रिस्ती । ये दोनों धर्म क्रमश पश्चिम की ओर गति करने लगे, और कुछ ही समय पश्चात् प्राचीन सेमेटिक धर्म की तरह इन्होंने भी सारे यूरोप पर अपना अधिकार जमा लिया । इन धर्मों का प्रचार होने से पूर्व यूरोप में भिन्न भिन्न जातियो में जातित्व धर्म की भावनाए, भिन्न भिन्न मानी जाती थीं और उनका स्वरूप बड़ा ही उलझन पूर्ण हो रहा था, ख्रीस्ती धर्म से पहले यहूदी धर्म का रोम तक प्रचार हो गया था । जिसके प्राय. फल स्वरूप सेन्टपाल के अनुयायियों की महत्वाकांक्षा के अनुकूल भूमिका तैयार हो गई थी, सेण्ट-पाल ने अपने गुरु क्राईस्ट के उच्च ध्येय को कुछ पीछे की ओर खींच कर ईसाई धर्म को जगत् का बलवान और सत्ता धारी धर्म बनाने का प्रयत्न किया । उसके इस प्रबल प्रयत्न का तुरन्त तो कोई नतीजा न मिला पर उसके परिणाम स्वरूप कुछ शताब्दियो पश्चात् ख्रिस्ती धर्म को वह स्थिति अवश्य प्राप्त हो गई ।

यह तो सेमेटिक मनुष्य जाति का संक्षिप्त इतिहास हुआ, अब दूसरी आर्य्य जाति के विषय में हम विचार करने बैठते हैं। यद्यपि हमे उसकी मूलोत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित अनु-

सन्धान नहीं मिलता, तथापि आज कल यह मत अधिक प्रचलित है कि उरल पर्वत की पूर्व अथवा पश्चिम इन दोनों दिशाओं मे से किसी एक दिशा के बिल्कुल उत्तर की ओर आर्य जाति का मूल-स्थान था। इसी उत्तरीय मूलस्थान मे निकल कर आर्यों ने आग्नेय और नैऋत्य इन दो दिशाओं की ओर गति की। जिस काल को हम ऐतिहासिक काल कहते हैं उसमें मालूम होता है कि आर्य लोग यूरोप के अन्तर्गत बसे हुए थे उन्होंने वहाँ के मूल निवासियों को वहाँ से निकाल कर अपनी उच्च सुधारणाओं और विकसित धर्म विचारों के अनेक केन्द्र स्थापित किये थे। जो शाखा आग्नेय कोण को गई थी उसने ईरान तथा भरत खण्ड को व्याप्त कर दिया। इन लोगों के धर्म विचार बहुत ही उच्च कोटि के थे।

इधर तो एशिया के दक्षिण विभाग मे आर्य्य-विचारो का विकास हो रहा था, उधर सेमेटिक जातियों में एक नवीन धर्म-भावना जन्म ले रही थी। वह भावना महम्मदी अथवा इस-लामी धर्म की थी।

इन भिन्न भिन्न ऐतिहासिक परिवर्तनो के फल स्वरूप जगत के तमाम धर्मों को आधुनिक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ। सेमेटिक जातियों में पैदा होने वाले यहूदी ख्रिस्ती और महम्मदी धर्मों का तो लगभग सारी दुनियाँ में प्रचार हो गया पर आर्य्य-धर्म का प्रचार एशिया के दक्षिण और पूर्व वाले देशों ही मे होकर रह गया। शेप सब देशों से इसका लोप हो गया। जिन स्थानो पर वह टिका रहा वहाँ भी अन्य धर्मों के भयङ्कर आघात उसे सहन करने पड़े। इस प्राचीन आर्य्य-धर्म की अनेक सततियों मे से

जैन-धर्म भी एक है। जैन-धर्म का महत्व निश्चित् करने के पूर्व हमें आर्य्य-धर्म की अभिवृद्धि के प्रधान प्रधान कारणों पर विचार करना होगा।

बौद्धिक दृष्टि द्वारा होनेवाली जगद्विषयक कल्पनाओं का दृढ़ीकरण और उसमें से निष्पन्न होनेवाली निसर्ग-सम्बन्धी पूज्य बुद्धि ये दोनों आर्य्यधर्म के आद्य तत्व थे, इसमे कोई संदेह नहीं, कि आर्य-धर्म के अन्तर्गत आज भी ये तत्व न्यूनाधिक पर विकसित रूप मे पाये जाते हैं, ग्रीक और रोमन धर्मों में भी इनकी झलक दिखलाई पड़ती है, पर इन तत्वो का पूर्ण विकास भारतवर्ष में ही हुआ, यह स्वीकार करने में कोई बाधा न होगी। इन बौद्धिक धर्म विचारो की प्रगति का पर्यवसान नैराश्यवाद तथा कर्मठता में होता है, और ये दोनों ऋग्वेद को प्राचीन सूक्तियों में भी पाई जाती है, आर्य्य-धर्म का यह अङ्ग ब्राह्मणों में बहुत हानिकारक दरजे तक जा पहुँचा था, और इसी कारण यह धर्म ईश्वरोत्सारी होने पर भी मनुष्योत्सारी बन गया। जिसके फल-स्वरूप मनुष्योत्सारी धर्म में होनेवाले सब दोषो ने इसमें भी स्थान प्राप्त किया। इन सब दोषो में सबसे बड़ा दोष यह हुआ कि जनता की धर्म-भावनाओं को नियन्त्रण करनेवाली शक्ति का विनाश हो गया, जिससे जनता के हृदय पर परकीय विधि विधानों और मत-मतान्तरो के प्रभाव पड़ने का मार्ग खुल गया।

सेमेटिक धर्म आर्य धर्म के इस अङ्ग से बिल्कुल भिन्न है; इस धर्म की मुख्य भावनाएँ भक्ति और गूढ़ प्रेरणा के द्वारा प्रकट होकर मनुष्य की बुद्धि पर उत्तमता भोगती है और अपने भक्तों को विश्वासपूर्वक वे धीरे धीरे संसार के व्यवहार

मे से निकाल कर स्वर्ग तथा नर्क-सम्बन्धी कल्पनामय मानवातीत सृष्टि में ले जाती है।

आर्य लोगों से आने के पूर्व जो जातियाँ इस देश मे बसती थी, उनके मूल धर्म का पूरा पता नही चलता, तथापि आधुनिक लौकिक धर्म-सम्प्रदाय और प्राचीन धर्म-साहित्य के तुलनात्मक मनुष्य-शास्त्र की एवं प्राचीन अवशेषो की सहायता द्वारा सूक्ष्म निरीक्षण करने से उस धर्म की बहुत सी बातों का पता लग सकता है, इस सूक्ष्म निरीक्षण से यह सिद्ध होता है कि पूर्व भारत में कम से कम दो विशिष्ट जाति के धर्म थे। ये दोनों वर्ग या तो जीव देवात्मक थे या एक जीव देवात्मक और दूसरा जड़-देवात्मक था। जड़ देवात्मक मत का प्रादुर्भाव कुछ गूढ़ कारणों से पैदा हुई क्षुब्धावस्था मे उत्कट भक्ति का पर्यवसान उन्माद में अथवा आनन्दातिरेक में होकर हुआ।

इसके अतिरिक्त जो जीव देवात्मक स्वरूप का वर्ग था, उसमे वैराग्य एव तपस्वीवृत्ति का सम्बन्ध था। इन दो खास तत्वों के अनुषङ्ग से मूल आर्य्य-धर्म का विकास हुआ और उसमे से अनेक पंथ और धर्म-शाखाएं प्रचलित हुई।

ईसा से करीब आठ सौ वर्ष पूर्व इस आर्य-धर्म के अन्तर्गत एक विचित्र प्रकार की विशृंखलता का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय में ब्राह्मणोंकी कर्मकाण्ड प्रियता इतनी बढ़ गई थी कि उसमे के कितने ही प्रयोग "धर्म" नाम धारण करने के योग्य न रहे थे—आधुनिक पाश्चात्य विद्वानो का प्रायः यह मन्तव्य है कि समाज की इसी विशृंखलता को दूर करने के लिये ही जैन और बौद्धधर्म्म का प्रादुर्भाव हुआ था, पर कई कारणों से मेरे

अन्तःकरण में यह कल्पना हो रही है कि यह मत बहुत भूल से भरा हुआ है।

कुछ दिनों पूर्व लोगों का प्रायः यह मत था कि गौतम-बुद्ध से कुछ ही समय पूर्व महावीर हुए और उन्होंने जैन धर्म की स्थापना की, पर अब यह मन्तव्य असत्य सिद्ध हो चुका है और लोग महावीर के पूर्ववर्त्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ को जैन-धर्म का मूल संस्थापक मानने लगे हैं, पर जैनियों का परम्परा-गत मत इनसे भी भिन्न प्रकार का है। उनके मतानुसार जैन-धर्म अनादि सनातन धर्म है। जैनियो का यह परम्परागत मत उपेक्षा के योग्य नहीं है। मेरा तो यह विश्वास है कि भारत के प्रत्येक साम्प्रदायिक मत को ऐतिहासिक आधार अवश्य है। जैन-धर्म के इस कथन को कौनसा ऐतिहासिक आधार है, यह कह देना बहुत ही कठिन है। इस विषय की शोध करना मैंने हाल ही में प्रारम्भ की है, तथापि हर्मन जेकोवी के निबन्ध मे जो एक विधान दृष्टि गोचर होता है, उससे प्रस्तुत विषय पर गवेषणा की जा सकती है। उस निबन्ध से मालूम होता है कि जैन-धर्म ने अपने कितने एक मन्तव्य "जीव देवात्मक" धर्म में से ग्रहण किये होंगे। जैनियो का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक प्राणी ही नहीं—किन्तु वनस्पति और खनिज पदार्थ तक जीवात्मक हैं, हमारे उपरोक्त मन्तव्य की पुष्टि करता है।

इससे सिद्ध होता है कि जैन-धर्म अति प्राचीन धर्म है। आर्य सभ्यता के आरम्भ ही से इसका भी आरम्भ है। मेरे इस विचार को मैं बहुत ही शीघ्र शास्त्रीय दृष्टि से सिद्ध करने वाला हूँ। जैनों के निर्ग्रन्थों का उल्लेख आज भी प्राचीन वेदों

मे उपलब्ध होता है, यह भी मेरे इस कथन की पुष्टि का एक प्रमाण है।

जैन-धर्म चाहे जितना ही प्राचीन हो पर यह निश्चय है कि उसे यह विशिष्ट रूप महावीर के समय से ही प्राप्त हुआ है, और इसी विशिष्ट रूप पर से हमें उसकी तुलनात्मक परीक्षा करना है। जैन-धर्म का मुख्य कार्य नास्तिकवाद तथा अज्ञेयवाद को निस्तेज करके ब्राह्मणीय विधि विधानों में घुसी हुई कर्मकाण्डता को निःसत्व कर उसे पीछे हटाना है, यद्यपि बुद्ध-धर्म ने भी इस कार्य को किया और जैन-धर्म की अपेक्षा उसका प्रचार भी अधिक हुआ, तथापि भारतवर्ष के लिये जैन-धर्म ही अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के कारण दूसरे धर्मों मे भी यह प्रतिक्रिया शुरू हुई।

पर जैन-धर्म का वास्तविक महत्व इससे भी अधिक एक दूसरी बात मे है, इस एक ही लक्षण के द्वारा जैन-धर्म की इतर धर्मों से विशेषता बतलाई जा सकती है।

प्रत्येक धर्म साहित्य के खास कर तीन प्रधान अग होते हैं, भावनोद्दीपक पुराण, बुद्धिवर्द्धक तत्वज्ञान, और आचारवर्द्धक कर्म-काण्ड। कई धर्मों में बहुधा विधिविधात्मक कर्मकाण्ड की महत्ता बढ़ जाने से उसके शेष दो अग कमजोर हो जाते हैं। किसी धर्म में भावनोद्दीपक पुराणो की लोकप्रिय कथाओं का महत्व बढ़ जाता है, तो तत्वज्ञान का अङ्ग कमजोर हो जाता है, पर जैन-धर्म एक ऐसा धर्म है जिसमे सब अङ्ग बराबर समान गति से आगे बढ़ते हुए नजर आते हैं। प्राचीन ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध-धर्म में बौद्धिक अङ्गों का निष्कारण स्तोम मचाया गया है।

जैन-धर्म को दुनिया के धर्मों में कौन सा स्थान प्राप्त हो सकता है यह जानने के लिये उसका पूर्ण अध्ययन और विवेचन करना आवश्यक है। पर इस छोटे से व्याख्यान मे इतनी मीमांसा करना असम्भव है, अतः उसकी कुछ आवश्यक बातों का ही उल्लेख करके धर्म के तुलनात्मक विज्ञान-शास्त्र में जैन-धर्म को किस प्रकार का विशेष महत्व मिलता है यह बतलाने का प्रयत्न करता हूँ।

सब से महत्वपूर्ण विषय तो जैन-धर्म में प्रमाण सहित माना हुआ देव सम्बन्धी मत है, इस दृष्टि से जैन-धर्म मनुष्योत्सारी (नर से नारायण पदवी तक विकास करनेवाला) सिद्ध होता है, यद्यपि वैदिक तथा ब्राह्मण धर्म भी मनुष्योत्सारी हैं तथापि इस विषय मे वे जैन-धर्म से बिल्कुल भिन्न हैं, इन धर्मों का मनुष्योत्सारित्व केवल औपचारिक ही हैं क्योंकि उनमें देव किसी मनुष्यातीत प्राणी को माना है, और उसे मन्त्र द्वारा वश करके अपनी इष्ट सिद्धि की जा सकती है, ऐसा माना गया है, पर यह वास्तविक मनुष्योत्सारित्व नहीं है, वास्तविक मनुष्योत्सारित्व तो जैन और बौद्ध-धर्म में ही दिखलाई देता है।

जैनियों की देव विषयक मान्यताए प्रत्येक विचारशील मनुष्य को स्वभाविक और बुद्धि-ग्राह्य मालूम देंगी, उनके मतानुसार परमात्मा ईश्वर नहीं है, अर्थात् वह जगत् का रचयिता और नियन्ता नहीं है। वह पूर्णावस्था को प्राप्त करनेवाली आत्मा है। पूर्णावस्था अर्थात् मोक्ष के प्राप्त हो जाने पर वह जगत् में जन्म, जरा और मृत्यु को धारण नहीं करता। इसी से वह वन्दनीय और पूजनीय है। जैनों की यह देव विषयक

कल्पना सुप्रसिद्ध जर्मन महातत्वज्ञ निश्शे (Supermen) मनुष्यातीत कोटि की कल्पना के साथ बराबर मिलती हुई दृष्टिगोचर होती है और इसी विषय में मुझे जैन-धर्म को अनीश्वरवादी समझ कर उसके धर्मत्व पर आघात करना चाहते हैं उनके साथ मैं प्रबल विरोध करने को तैय्यार हू। मेरा ख्याल है कि बौद्धिक (तत्वज्ञानात्मक) अङ्ग का उत्तम रीति से पोषण करने के लिये आवश्यकतानुसार ही उच्चतम ध्येय को हाथ में लेकर जैन-धर्म ने देव सम्बन्धी कल्पना आवश्यकीय होने से अपना धर्मत्व कायम रखने के लिये धर्म के प्रधान लक्षणों को अपने से बाहर न जाने दिया। इस कारण जैन-धर्म को न केवल आर्य धर्मों ही की प्रत्युत तमाम धर्मों की परम मर्यादा समझने में भी कोई हानि नहीं मालूम होती।

धर्म के तुलनात्मक विज्ञान में इस परम सीमात्मक स्वरूप के कारण ही जैन धर्म को बड़ा महत्व प्राप्त हुआ है। केवल इसी एक दृष्टि से नहीं प्रत्युत तत्वज्ञान, नीतिज्ञान और तर्क विद्या की दृष्टि से भी तुलनात्मक विज्ञान मे जैनधर्म को उतना ही महत्व प्राप्त है। पर्याप्त समय के न होने पर भी मैं जैनधर्म की श्रेष्ठता के सूचक कुछ विषयों का संक्षिप्त विवेचन करता हूँ।

अनन्त संख्या की उत्पत्ति जो जैनों के "लोक-प्रकाश" नामक ग्रन्थ मे बतलाई गई है, आधुनिक गणित शास्त्र की उत्पत्ति के साथ बराबर मिलती हुई है। इसी तरह दिशा और काल के अभिन्नत्व का प्रश्न जो कि साम्प्रत में इन्स्टीन की उत्पत्ति के लिए आधुनिक शास्त्रज्ञों में वादग्रस्त विषय हो पड़ा है, उसका भी निर्णय जैन-तत्वज्ञान में किया गया है।

जैनियों के नीति शास्त्र में से यहाँ पर सिर्फ दोही बातों का उल्लेख करता हूँ। इस बिषय मे जैनों के नीति शास्त्र में बिल्कुल पूर्णता से विचार किया गया है। उनमें से पहिली बात "जगत के तमाम प्राणियों के साथ सुख-समाधान पूर्वक किस प्रकार एकत्र रहा जा सकता है यह प्रश्न है। इस प्रश्न के सम्मुख अनेक नीतिवेत्ताओ को पनाह मांगनी पड़ती है। आज तक इस प्रश्न का निर्णय कोई न कर सका। जैन शास्त्रों मे इस प्रश्न पर बिल्कुल सुलभता और पूर्णता के साथ विचार किया गया है। दूसरे प्राणी को दुख न देना या अहिसा, इस विषय को जैन शास्त्रो मे केवल तात्विक विधि ही न वतला कर ख्रिस्ती धर्म मे दी हुई इस विषय की आज्ञा से भी अधिक निश्चयपूर्वक और जोर दे-कर आचरणीय आचार वतलाया है।

इतनी ही सुलभता और पूर्णता के साथ जैनधर्म मे जिस दूसरे प्रश्न का स्पष्टीकरण किया है वह स्त्री और पुरुष के पवित्र सम्बन्ध के विषय मे है। यह प्रश्न वास्तव मे नीति शास्त्र ही का नहीं है वरन जीवन शास्त्र और समाज शास्त्र के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। मि० माल्थस ने जिस राष्ट्रीय प्रश्न को अर्थ शास्त्र के गम्भीर सिद्धान्तों के द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है और जगत की लोक संख्या की वृद्धि के कारण होने वाली सङ्कीर्णता के दुष्ट परिणामों का विचार किया है उस प्रश्न का समाधान भी जैन धर्म मे वड़ी सुलभता के साथ किया है। जैन धर्म का यह समाधान प्रजा वृद्धि के भयङ्कर परिणामो की जड़ का ही मूलच्छेद कर डालता है। यह समाधान ब्रह्मचर्य्य सम्बन्धी है।

इन सब बातों को देखने पर किसी को यह कहने में आपत्ति नहीं हो सकती कि जैन धर्म सामान्यत. सब धर्मों का और विशेषत आर्य्य धर्म का उच्च सोपान है। इससे धर्म के विशिष्ट अङ्गो का साम्यवस्थान जैन धर्म में यथार्थ रीति से नियोजित किया गया है और उसकी रचना मनुष्य को केन्द्र समझ कर की गई है।

जैन धर्म का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि बौद्धिक अङ्ग को किनारे न रख कर उस रचना में धर्मत्व को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे, इस पद्धति से उसका विकास किया गया है। ईसाई धर्म की अपेक्षा इस विषय में जैन धर्म की जड़ अधिक बलवान है। ईसाई धर्म की रचना बाइबल के आधार पर की गई है। अत. उसने बौद्धिक प्रश्न पर विशेष उहापोह नहीं किया गया है। कारण इसका यह मालूम होता है कि ईसाई धर्म का उद्देश्य केवल मनुष्य की भावना पर ही कार्य करने का था। तदनन्तर उसने एरिस्टोटल के वैज्ञानिक तत्वों को अङ्गीकार किया और आज तक भी वह उन तत्वों को धर्मतया मानता है। पर उन तत्वों का आधुनिक शास्त्रीय प्रगति के तथा बौद्धिक विकास के साथ मिलान नहीं हो सकता। यद्यपि भावना की दृष्टि से ईसाई धर्म ने अन्य धर्मों को मात कर दिया है तथापि मेरे मन्तव्य के अनुसार आधुनिक दृष्टि वाले लोगों को केवल भावनाओं पर ही अवलम्बित रहना रुचिकर न होगा, क्योंकि उनका सिद्धान्त है कि धर्म को आधि-भौतिक शास्त्र की गति से ही दौड़ना चाहिये।

इन्हीं सब बातों का संक्षिप्त सारांश यही निकलता है कि

उच्च धर्मतत्वों एवं पद्धति की दृष्टि से जैन-धर्म और धर्मों से तुलनात्मक शास्त्रों में अत्यन्त आगे वढ़ा हुआ धर्म है।

द्रव्य का ज्ञान सम्पादन करने के लिये जैन-धर्म में योजित एक स्याद्वाद का स्वरूप देख लेना ही पर्याप्त होगा जो कि बिल्कुल आधुनिक पद्धति के साथ मिलता जुलता है। निस्सन्देह जैन-धर्म, धर्म-विचार की परम श्रेणी है और इस दृष्टि से केवल धर्म का वर्गीकरण करने ही के लिये नहीं किन्तु विशेषतः धर्म का लक्षण निश्चित करने के लिये उसका रुचिपूर्वक अभ्यास करना आवश्यक है।

नौवां अध्याय

जैन-धर्म का विश्वव्यापित्व

किसी भी धर्म की उत्तमता की परीक्षा उसके विश्वव्यापी सिद्धान्तों पर बड़ी ही आसानी के साथ की जा सकती है। जो धर्म जितना ही अधिक विश्वव्यापी होता है अथवा हो सकता है उतना ही अधिक उसका गौरव समझा जाता है। पर प्रश्न यह है कि उसके विश्वव्यापित्व की परीक्षा किन सिद्धान्तों के आधार पर की जाय। भिन्न भिन्न विद्वान् भिन्न भिन्न प्रकार से इस कसौटी पर धर्मों की जांच करते हैं, अभी तक कोई भी इस प्रकार की निश्चित कसौटी नहीं बना सका है कि जिस पर भी सब धर्मों की जाँच करके उनकी उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता की जाँच कर ली जाय।

हमारे ख्याल से जो धर्म सामाजिक शान्ति की पूर्ण रक्षा करते हुए व्यक्ति को आत्मिक उन्नति के मार्ग में ले जाता है, वही धर्म विश्वव्यापी भी हो सकता है। हिंसा, क्रूरता, बन्धु-विद्रोह, व्यभिचार आदि जितनी भी बातें सामाजिक शान्ति को नष्ट करने वाली हैं उनको मिटा कर जो धर्म, दया, नम्रता, बन्धु-प्रेम और ब्रह्मचर्य्य की उच्च शिक्षाएँ देकर सामाजिक शान्ति को

अटल बनाए रखता है, वही धर्म व्यक्ति को, जाति को, देश को और विश्व को लाभदायी हो सकता है।

लेकिन इसमें एक बड़ी भयंकर अनिवार्य्य बाधा उपस्थित होती है। यह बाधा मनुष्य प्रकृति के कारण समाज मे उत्पन्न होती है, प्रत्येक मानसशास्त्र-वेत्ता इस बात को भली प्रकार जानता है कि मनुष्य प्रकृतिदोष और गुणों की समष्टि है। जहां उसमे अनेक देवोचित गुणो का समावेश रहता है, वहाँ अनेक असुरोचितदोष भी उसमें विद्यमान रहते हैं। मनुष्य प्रकृति की यह कमजोरी इतनी अटल और अनिवार्य्य है कि ससार का कोई भी धर्म किसी भी समय में समष्टिरूप से इस कमजोरी को न मिटा सका और न भविष्य ही में उसके मिटने की आशा है। यह कभी हो नहीं सकता कि सृष्टि से ये क्रूर और घातक प्रवृत्तियाँ बिल्कुल नष्ट हो जायँ। प्रकृति के अन्तर्गत हमेशा से ये रही हैं और रहेगी। विरुद्ध प्रकृतियों की इसी समष्टि के कारण प्राणी वर्ग में और मनुष्य जाति मे नित्यप्रति जीवन कलह के दृश्य देखे जाते हैं।

अतएव यह आशा तो व्यर्थ है कि कोई धर्म इन कुप्रवृत्तियों का नाश कर विश्व व्यापी शान्ति का प्रसार करने में सफल होगा। हाँ इतना अवश्य हो सकता है—यह बात मानना सम्भव भी है कि प्रयत्न करने पर मनुष्य समाज मे कुप्रवृत्तियो की संख्या कम और सत्प्रवृत्तियों की संख्या अधिक हो सकती है। अतः निश्चय हुआ कि जो धर्म मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों का विकास करके सामाजिक शान्ति की रक्षा करता हुआ मनुष्य जाति को आत्मिक उन्नति का मार्ग बतलाता है वही धर्म श्रेष्ठ गिना जा सकता है।

इसी कसौटी पर हम जैन-धर्म को भी जाँचना चाहते हैं। जैन-धर्म के अन्तर्गत प्रत्येक गृहस्थ के लिये अहिंसा, सत्य, आचार्य, ब्रह्मचर्य, और परिग्रह परिमाण इन पाँच अणुव्रतों की योजना की गई है, अणुव्रत अर्थात् स्थूल व्रत जैनाचार्य्य इस बात को भली प्रकार जानते थे कि साधारण मनुष्य-प्रकृति इन बातों का सूक्ष्म रूप से पालन करने में असमर्थ होगी और इसीलिये उन्होंने इनके स्थूल स्वरूप का पालन करने ही की आज्ञा गृहस्थो को दी है। हां, यह अवश्य है कि सांसारिकपन में गृहस्थ इनका धीरे धीरे विकास करता रहे और जब वह सन्यस्ताश्रम में प्रविष्ट हो जाय तब इनका सूक्ष्म रूप से पालन करे, उस समय मनुष्य ससार से सम्बन्ध , न होने के कारण कुछ मानवातीत (Super human) भी हो जाता है, और इस प्रकार के वृत्तों से वह अपनी आत्मिक उन्नति कर सकता है।

यदि जैन-धर्म के कथनानुसार समाज में समष्टि रूप से इन पाँच वृतों का स्थूल रूप से पालन होने लगे, यदि प्रत्येक मनुष्य अहिंसा के सौन्दर्य्य को, सत्य के पावित्र्य को, ब्रह्मचर्य के तेज को और सादगी के महत्व को समझने लग जाय तो फिर दावे के साथ यह बात कहने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती कि समाज मे स्थायी शान्ति का उद्रेक हो सकता है।

जगत् के अन्तर्गत अशान्ति और कलह के जितने भी दृश्य दृष्टि गोचर होते रहते हैं। प्रायः वे सब इन्हीं पाँच वृतों की कमी के कारण होते हैं। अहिंसक प्रवृत्ति के अभाव ही के कारण संसार में हत्या के, क्रूरता के पाशविकता के दृश्य देखे जाते हैं, सत्य की कमी ही के कारण धोखेबाजी और बेइमानी एवं बन्धु-

विद्रोह के हज़ारो और लाखों दृश्य न्यायालयों के रङ्ग मञ्चों पर अभिनीत होते हैं। ब्रह्मचर्य के अभाव के कारण संसार मे अनाचार, व्यभिचार और बलहीनता के दृश्य देखने को मिलते हैं, और सादगी के विरुद्ध विलासप्रियता के आधिक्य ही के कारण नाना प्रकार के विलास मन्दिरों में मनुष्य जाति का अधः-पात होता है।

यद्यपि यह बात निर्विवाद है कि लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य जाति की ये कमज़ोरियाँ बिल्कुल नष्ट नहीं हो सकती तथापि यह निश्चय है कि इन सिद्धान्तों के प्रचार से मनुष्य जाति के अन्तर्गत बहुत साम्यता स्थापित हो सकती है। जितना ही ज्यादा समाज में इन सिद्धान्तो का प्रचार होता जायगा, उतनी ही समाज की शान्ति बढ़ती जायगी। इस दृष्टि से इस कसौटी पर यदि जाँचा जाय तब तो जैन-धर्म के विश्वव्यापित्व मे कोई सन्देह नहीं रह सकता।

अब रही व्यक्ति के आत्मिक उद्धार की बात। इस विषय मे तो जैन-धर्म पूर्णता को पहुँचा हुआ है। आत्मिक-उद्धार के अनेक व्यवहारिक सिद्धान्त इसमें पाये जाते हैं। स्वयं बुद्धदेव ने जैनियों के तपस्या सम्बन्धी इस बात को बहुत पसन्द किया था। "मज्झिमनिकाय" नामक बौद्ध ग्रन्थ में एक स्थान पर बुद्धदेव कहते हैं :—

"हे महानाम! मैं एक समय राजगृह नगर मे गृद्धकूट नामक पर्वत पर विहार कर रहा था। उसी समय ऋषिगिरि के समीप कालशिला पर बहुत से निग्रन्थ मुनि आसन छोड़ कर उपक्रम कर रहे थे वे लोग तीव्र तपस्या में प्रवृत्ति थे। मैं साय-

काल को उनके पास गया और कहा, अहो निर्ग्रन्थ! तुम क्यों ऐसी घोर वेदना को सहन करते हो? तब वे बोले—अहो, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ और सर्वदेशी हैं। वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं, हमें चलते, फिरते, सोते, बैठते हमेशा उनका ध्यान रहता है। उनका उपदेश है कि— "हे निर्ग्रन्थों! तुमने पूर्व जन्म में जो पाप किये हैं इस जन्म में छिप कर तपस्या द्वारा उनको निर्जरा कर डालो, मन वचन काय की संवृत्ति से नवीन पापों का आगमन रुक जाता है और तपस्या से पुराने कर्मों का नाश हो जाता है। कर्म के क्षय से दुःखों का क्षय होता है। दुःख क्षय से वेदना क्षय और वेदना क्षय से सब दु खों की निर्जरा हो जाती है"। बुद्ध कहते हैं— निर्ग्रन्थों का यह कथन हमें रुचिकर प्रतीत होता है और हमारे मन को ठीक जचता है।"

इससे मालूम होता है कि जैनों की मुनिवृति महात्मा बुद्ध को भी बड़ी पसन्द हुई थी। इस प्रकार गृहस्थ धर्म में उपरोक्त पांच नियमों का पालन करता हुआ गृहस्थ शान्तिपूर्वक अपने जीवन का विकास कर सकता है और उसके पश्चात् योग्य वय में मुनिवृत्ति ग्रहण कर वह आत्मिक उन्नति भी कर सकता है।

कुछ विद्वान् जैन अहिंसा पर कई प्रकार के आक्षेप कर उसे राष्ट्रीय धर्म के अयोग्य बतलाते हैं, पर यह उनका भ्रम है, उनके आक्षेपों का उत्तर इस खण्ड के पहले अध्यायों को पढ़ने से आप ही आप हो जायगा।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जैन-धर्म अपने वास्तविक रूप में निस्संदेह विश्वव्यापी धर्म हो सकता है।

परिशिष्ट खण्ड

परिशिष्ट खंड

भगवान् महावीर का संक्षिप्त जीवन चरित हम पाठकों के सामने रख चुके। इस जीवन चरित्र को पढ़ कर प्रत्येक निष्पक्षपात पाठक फिर चाहे वह जैन हो चाहे अजैन, भली प्रकार समझ सकता है कि भगवान् महावीर के जीवन का एक एक अङ्ग कितना महत्वपूर्ण है। उनके जीवन की एक एक घटना कितना गहन अर्थ रखती है। जो लोग जीवन के गम्भीर रहस्यों की उलझनों को सुलझाना चाहते हैं, जो लोग अपनी आत्मा का विकास करने के इच्छुक हैं, एवं जो लोग प्रकृति के अज्ञेय तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के जिज्ञासु हैं उन लोगों को अपने मंजिलेमक़सूद पर पहुँचने में महावीर के जीवन से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

ससार के इतिहास में जिन बड़ी २ आत्माओं ने जगत्-कल्याण की वेदी पर अपने सर्वस्व का बलिदान कर दिया है, जिन महान् आत्माओं ने अपने आत्म-कल्याण के साथ साथ मनुष्य जाति के कल्याण का प्रयत्न किया है, उनमें महावीर को भी बहुत उच्च स्थान प्राप्त है। महावीर केवल अपने ही जीवन को दिव्य

और उज्ज्वल बना कर नहीं रह गये, उन्होंने संसार को उस दिव्य-तत्त्व का-उस उदार मत का सन्देश दिया जिसके अनुसार चलकर एक हीन से हीन व्यक्ति भी अपना कल्याण कर सकता है। मनुष्य जाति के सम्मुख उन्होंने ऐसे दिव्य और कल्याणकर मार्ग को रक्खा जिससे संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

लेकिन आज यदि हम भगवान् महावीर के अनुयायी जैन समाज की स्थिति को देखते हैं, यदि आज हम उसके द्वारा होने वाले कर्मों का अवलोकन करते हैं तो उसमें हमें एक भयङ्कर विपरीतता दृष्टि गोचर होती है। हाय, कहां तो भगवान् महावीर का उन्नत, उदार और दिव्य उपदेश और कहां आधुनिक जैन समाज ! !

जिन महावीर का उपदेश आकाश से भी अधिक उदार और सागर से भी अधिक गम्भीर था उन्हीं का, अनुयायी जैन समाज आज कितनी सङ्कीर्णता के दल दल में फँस रहा है, जो "वर्द्धमान" अपने अलौकिक वीरत्त्व के कारण "महावीर" कहलाएँ उन्हीं महावीर की सन्तान आज परलेसिरे की कायर हो रही हैं, जिन महावीर ने प्रेम और मनुष्यत्व का उदार सन्देश मनुष्य जाति को दिया था उन्ही की सन्तानें आज आपस में ही लड़ झगड़ कर दुनियाँ के परदे से अपने अस्तित्व को समेटने की तैयारियाँ कर रही हैं। कहां तो महावीर का वह दिव्य उपदेश—

सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया, दुक्ख पडिकूला आप्पियवहा।
पिय जीविणो, जीविऽकामा सव्वेसिं जीवियं पियं।

और कहाँ हमारी जैन समाज की आधुनिक कलह प्रियता। किसी समय में जहाँ संसार के अन्तर्गत जैन-धर्म की दुन्दुभि बजती थी वहाँ आज हमारा समाज संसार की निगाह में हास्यास्पद हो रहा है।

इस विपरीतता के मुख्य कारणों को जब हम खोजते हैं तो कई अनेक कारणों के साथ २ हमें यह भी मालूम होता है कि जैन साहित्य में विकृति उत्पन्न होना भी इस दुर्गति का मूल कारण है। जैन साहित्य में यह विकृति किस प्रकार उत्पन्न हुई इसके कुछ कारण उपस्थित करने का हम प्रयत्न करते हैं।

दीर्घ तपस्वी महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनों ही महापुरुष निर्वाणवादी थे। दोनों एक ही लक्ष्य के अनुगामी थे। पर दोनों के पथ भिन्न २ थे—दोनों के लक्ष्यसाधन संबधी तरीके भिन्न २ थे। बुद्ध मध्यम मार्ग के उपासक थे। महावीर तीव्र मार्ग के अनुयायी थे। बुद्ध ने अपने मार्ग की व्यवस्था में लोकरुचि को पहला स्थान दिया था, पर महावीर ने लोकरुचि की विशेष परवाह न की। उन्होंने कभी इस बात का दुराग्रह न किया कि "जो मैं कहता हूँ वही सत्य है शेष सब झूठे हैं।" वे इस बात को जानते थे कि एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिये कई प्रकार के साधन होते हैं इससे साधन भेद में विरोध करना व्यर्थ है। यहाँ तक कि उनके समसामयिक अनुयायियों का लक्ष्य एक होते हुए भी सेवा के मार्ग जुदे जुदे थे। कोई मुमुक्षु निराहारी रहकर अपनी तपस्या को उत्कृष्ट करने का प्रयत्न करता था, तो कोई आहार भी करता, कोई बिलकुल दिगम्बर होकर विचरण करता था, तो कोई सवस्त्र भी रहता था। कोई

स्वाध्यायी था, कोई विनयी था और कोई ध्यानी। मतलब यह कि किसी पर किसी प्रकार का अनुचित बन्धन न था। उनके अनुयायी वर्ग का सिद्धान्त था कि "धम्मों मङ्गल मुक्टिं अहिंसा संजमोतनो" अर्थात् अहिंसा, संयम और तपरूपधर्म उत्कृष्ट मङ्गल है। इस सिद्धान्त में कहीं भी एक देशीयता की गंध न थी। इन सब बातों पर से हम भगवान् महावीर की जीवन दशा, उनके समय की परिस्थिति और उनके ध्येय से परिचित हो सकते हैं।

जिस समय भगवान् महावीर भारतवर्ष में अपना कल्याण-कारी उपदेश दे रहे थे उस समय अर्थात् आज से ढाई हजार वर्ष पहले आज की तरह उपदेश का प्रचार करने के इतने साधन न थे। लेखनकला तो उस समय भी प्रचलित थी पर उसका उप-योग केवल व्यवहारिक कामों में ही होता था। मुमुक्ष जन भगवान् महावीर के पास उपदेश श्रवण करने जाते थे, वहां जो कुछ वे सुनते उनमें से मुख्य २ बातें मन्त्र की तरह हृदयङ्गम कर लेते थे।

भगवान् महावीर के मुख्य शिष्यों ने अपने अनुयाईयो को सिखाने के लिये उनके मुख्य २ उपदेशों को संक्षेप में कंठाग्र कर रक्खे थे। जिस समय आवश्यकता होती उस समय "भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है या वर्धमान् के पास से हमने ऐसा सुना है" इस प्रकार के आरम्भ से वे अपने उपदेश अथवा व्याख्यान को देते थे। ये सब उपदेश उस समय की सरल लोक भाषा में (मागधी मिश्रित प्राकृतभाषा में) होने से आबाल-वृद्ध सबको समझने में सुगम और सुलभ होते थे।

सब लोग इन उपदेशों को अपनी २ शक्ति के अनुसार कंठस्थ कर रखते थे। वर्तमान में हम जिसको "एकादशाङ्ग सूत्र" कहते हैं उसका मूल यही उपदेश थे। समय के प्रवाह में पड़ कर उन मूल उपदेशों में और आज के एकादशाङ्ग सूत्र में बहुत अन्तर पड़ गया है। यह निश्चित है कि, भगवान् महावीर के इन उपदेशात्मक वाक्य समूह को उनके शिष्य अपनी आत्म-जागृति के लिये ज्यों के त्यों कंठस्थ रखते थे। ये उपदेश बहुत सन्क्षिप्त वाक्यों में होने से ही सूत्र नाम से प्रसिद्ध हुए और इसी कारण वर्तमान के उपलब्ध विस्तृत सूत्र भी इसी नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। जो सूत्र-शब्द गणधर भगवान् के समय में अपने वास्तविक अर्थ को ("सूचनात् सूत्रम्") चरितार्थ करता था वही सूत्र-शब्द आज संप्रदायिक रूढ़ी के वश मे होकर हज़ारों लाखों श्लोक अपने भाव में समाने लग गया है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, जहाँ तक गणधरों के पश्चात् उनके शिष्यों ने इन संक्षिप्त सूत्रों को कण्ठस्थ रक्खे थे वहाँ तक उनकी अर्ध मागधी भाषा में ज़रा भी परिवर्तन नहीं हुआ होगा। पर जब उन सूत्रों का शिष्यपरंपरा में प्रचार होने लगा और वह शिष्यपरंपरा भिन्न २ देशों में विहार करने लगी तभी सम्भव है कि, सूत्रों की मूलभाषा भिन्न २ देशो की भाषा के संसर्ग से परिवर्तन पाने लगी होगी।

इसके अतिरिक्त प्रकृति के भयङ्कर प्रकोप से भी हमारे साहित्य को बड़ा भारी नुकसान पहुँचा। श्री हेमचन्द्राचार्य अपने परिशिष्ट-पर्व में लिखते हैं कि भगवान् महावीर की दूसरी शताब्दि में जब कि, आर्य श्री स्थूल-भद्र विद्यमान थे उस समय देश में

एक साथ महा भीषण बारह दुष्काल पड़े। उस समय साधुओं का सङ्घ अपने निर्वाह के लिये समुद्र के समीपवर्ती प्रदेश में गया। वहाँ साधु लोग अपने निर्वाह की पीड़ा के कारण कण्ठस्थ रहे हुए शास्त्रो को गिन न सकते थे इस कारण वे शास्त्र भूलने लगे।

इस कारण अन्न के दुष्काल का असर हमारे शास्त्रों पर भी पड़ा जिससे एक अकाल पीड़ित मानव की तरह शास्त्रों की भी गति हुई। जब यह भीषण दुष्काल मिट गया तब पाटलीपुत्र में सोर-सङ्घ की एक सभा हुई। उसमें जिस २ को जो जो स्मरण था वह इकट्ठा किया गया। ग्यारह अंगों का अनुसंधान तो हुआ पर "दृष्टिवाद" नामक बारहवाँ अङ्ग तो बिलकुल नष्ट हो गया। क्योंकि उस समय अकेले भद्रबाहु ही दृष्टिवाद के अभ्यासी थे।

इससे मालूम होता है कि महावीर की दूसरी शताब्दि से ही शास्त्रों की भाषा एवं भावो में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया। हमारे दुर्भाग्य से यह प्रारम्भ इतने ही पर न रुका बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। प्रकृति के भीषण कोप से वीर निर्वाण की पांचवी और छठी शताब्दि में अर्थात् श्री स्कंदिलाचार्य और वज्रस्वामी के समय में उसी प्रकार के बारह भीषण दुष्काल इस देश पर और पड़े। इनका वर्णन इस प्रकार किया गया है। "बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा, साधु अन्न के लिये भिन्न २ स्थानों पर बिखर गये जिससे श्रुत का ग्रहण, मनन, और चिन्तन न हो सका। नतीजा यह हुआ कि शास्त्रों को बहुत हानि पहुँची। जब प्रकृति का कोप शान्त हुआ, देश में

सुकाल और शान्ति का प्रादुर्भाव हुआ तब मथुरा मे श्रीस्कंदिलाचार्य के सभापतित्व के अंतर्गत पुनः साधुओं की एक महा-सभा हुई। उसमे जिन २ को जो स्मरण था वह संग्रह किया गया।

इस दुष्काल ने हमारे शास्त्रों को और भी ज्यादा धक्का पहुँचाया। उपरोक्त शास्त्रोद्धार शूरसेन देश की प्रधान नगरो मथुरा मे होने के कारण उसमे शौरसेनी भाषा का वहुत मिश्रण हो गया। इसके अतिरिक्त कई भिन्न २ प्रकार के पाठान्तर भो इसमें वढ़ने लगे।

इन दो भयङ्कर विपत्तियों को पैदा करके ही प्रकृति का कोप शांत नहीं हो गया। उसने और भी अधिक निष्ठुरता के साथ वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी मे इस दुर्भागे देश के ऊपर अपना चक्र चलाया। फिर भयङ्कर दुष्काल पड़ा और इस दफे तो कई वहुश्रुतों का अवसान होने के साथ २ पहिले के जीर्ण शीर्ण रहे हुए शास्त्र भी छिन्न भिन्न हो गये। उस स्थिति को वतलाते हुए 'सामाचारिशतक' नामक ग्रंथ मे लिखा है कि, वीर सम्वत् ९८० में भयङ्कर दुष्काल के कारण कई साधुओ और वहुश्रुतों का विच्छेद हो गया तव श्री देवर्धिगणी क्षमाश्रमण ने शास्त्र-भक्ति से प्रेरित होकर, भावी प्रजा के उपकार के लिये श्रीसंघ के आग्रह से वचे हुए सव साधुओं को वल्लभिपुर मे इकट्ठे किये और उनके मुख से स्मरण रहे हुए थोड़े वहुत शुद्ध और अशुद्ध आगम के पाठों को सङ्गठित कर पुस्तकारूढ़ किये। इस प्रकार सूत्र-ग्रन्थों के मूलकर्त्ता गणधर स्वामी के होने पर भी उनका पुनःसंकलन करने के कारण सव आगमो के कर्त्ता श्री देवर्धिगणिक्षमा श्रमण ही कहलाते हैं।

उपरोक्त विवेचन के पढ़ने से पाठक भली प्रकार समझ सकते हैं कि, गणधरों के कहे हुए सूत्रों के ऊपर समय की कितनी भयङ्कर चोटें लगीं। जिस साहित्य के उपर प्रकृति की ओर से इतना भीषण प्रकोप हो वह साहित्य परंपरा मे जैसा का तैसा चला आये यह वात किसी भी वुद्धिमान के मास्तिष्क को स्वीकार नहीं हो सकती। जो साहत्य आज हम लोगों के पास मे विद्यमान है वह दुष्कालो के भीषण प्रहारों के कारण एवं काल रुढ़ि, स्पर्द्धा आदि अनेक कारणो से वहुत विकृत हो गया है।

जैन-दर्शन नित्यानित्य वस्तुवाद का प्रतिपादन करता है। उसकी दृष्टि से वस्तु का मूल तत्त्व तो हमेशा कायम रहता है पर उसकी पर्याय में परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन हुआ करते हैं। समय समय पर होने वाले ये परिवर्त्तन बिलकुल स्वाभाविक और उपयोगी भी होते हैं। जैन-दर्शन में यह सिद्धान्त सर्व-व्यापी होने ही से उसका नाम अनेकान्त दर्शन पड़ा है। उसका यह सिद्धान्त प्रकृति के सर्वथा अनुकूल भी है। प्रकृति की रचना ही इस प्रकार की है कि वज्र के समान कठोर और घन पदार्थ भी संयोग पाकर—परिस्थितियों के फेर में पड़कर—मोम के समान मुलायम हो जाता है और मोम की मानिन्द मुलायम पदार्थ भी कभी २ अत्यन्त कठोर हो जाता है। ये बातें बिल-कुल स्वाभाविक हैं, अनुभव प्रतीत हैं। ऐसी दशा में भगवान् महावीर के समय का धार्मिक रूप इतनी कठिन परिस्थितियों के फेर में पड़कर परिवर्त्तित हो जाय तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। यह परिवर्त्तन तो प्रकृति का सनातन नियम है।

पर प्रकृति के ये परिवर्त्तन दो प्रकार के होते हैं। एक परिवर्त्तन विकास कहलाता है और दूसरा विकार।

पहले परिवर्त्तन से देश, जाति और धर्म की क्रमागत उन्नति होती है और दूसरे परिवर्त्तन से उनका क्रमागत ह्रास होता जाता है। कोई भी धर्म फिर वह चाहे जिस देश और काल का क्यों न हो, कभी कलह का पोषक नहीं हो सकता। कभी वह प्रजा के विकास में बाधक नहीं हो सकता, पर जब उसमें विकार की उत्पत्ति हो जाती है—जब उसमें प्रकृति का दूसरी प्रकार का परिवर्तन हो जाता है जब वह समय चक्र में पड़कर वास्तविकता से भ्रष्ट हो जाता है तब उससे उपरोक्त सब प्रकार की हानियों का होना प्रारम्भ हो जाता है। उस समय उसके अग्रगण्य धार्मिक नेता धर्म का नाम दे देकर समाज में कलह का बीज बोते हैं, वे प्रजा की ताकत को घटानेवाले और युवकों को अकर्मण्य बनानेवाले उपदेशों को धर्म का रूप दे देकर प्रतिपादित करते हैं।

आधुनिक जैन साहित्य मे समयानुसार उपरोक्त दोनों ही प्रकार के परिवर्त्तन हुए हैं। उसका तत्त्वज्ञान जहाँ दिन प्रतिदिन विकास करता आया है वहाँ उसके पौराणिक और आचार-सम्बन्धी विभागों में विकार का कीड़ा भी घुस गया है। एक ओर तो विकसित तत्त्वज्ञान का रूप देखकर सारा संसार जैन धर्म की ओर आकर्षित होता है और दूसरी ओर विकार युक्त आचार शास्त्र और पौराणिकता के प्रभाव में पड़ कर हम और हमारा समाज वास्तविकता से बहुत दूर चला जा रहा है। अब प्रश्न यह होता है कि, यह विकार कब से शुरू हुआ और उसे किसने पैदा किया।

शुद्ध-सत्य एक ऐसा रसायन है कि जिसे मनुष्य जाति नहीं पचा सकती। जिस प्रकार विजली का तेज प्रकाश तीक्ष्ण दृष्टि वाले मनुष्य की आँखों में भी चकाचौंधी पैदा करता है उसी प्रकार शुद्ध-सत्य का उपदेश लौकिक मनुष्य की दृष्टि को भी चौंधिया देता है। शुद्ध-सत्य की दृष्टि मे पुण्य और पाप की तह नहीं ठहरती। उसके सामने सारासार का विचार नहीं ठहरता, उसकी दृष्टि मे जाति और अजाति का कोइ विचार नहीं। उसके सम्मुख एक मात्र स्वास्थ्य—सिद्धवैद्य स्वास्थ्य ही टिका रह सकता है। निर्मल सत्य यद्यपि पिशाच के समान रुक्ष और भयङ्कर मालूम होता है तथापि शांति की सुन्दर तरंगिणी का मूल उद्‌गम-स्थान वही है। विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचनेवाली आत्माए उसी की खोज मे अपनी सब शक्तियों को लगा देती हैं। ससार के सभी महापुरुषो ने उसको खोजने का प्रयत्न किया है पर अनिर्वचनीय और अज्ञेय होने के कारण उसे उसके वास्तविक रूप मे कोई भी कहने मे समर्थ नहीं हुआ।

मनुष्य, जन्म से ही कृत्रिम सत्यो के संसर्ग मे रहता है। इसी कारण उसके पास निर्मल सत्य का उपदेश नही पहुँच सकता। इसी एक कारण से वह अनन्त काल से छिपा हुआ है और भविष्य में भी छिपा रहेगा, पर वही सबका अन्तिम ध्येय है इस कारण तमाम लोग उसकी उपासना करते हैं। सांसारिक व्यवहार में निपुणता प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार प्रारम्भ में कृत्रिम साधन और कृत्रिम व्यवहारों का उपयोग किया जाता है उसी प्रकार इस परम सत्य को प्राप्त करने के लिये भी कृत्रिम सत्य और कल्पित व्यवहारों की

योजना की गई है। इस कृत्रिम सत्य में समय के अनुसार—समाज के अनुसार और परिस्थिति के अनुसार अनेक इष्ट और अनिष्ट परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु जब इन परिवर्तनों के समझने में उपदेशक और उपासक भूल करते हैं—आग्रह करते हैं और अपना आधिपत्य जमाने के लिये परिस्थिति की भी अवहेलना कर डालते हैं तब इन इष्ट परिवर्तनों में अनिष्ट का प्रवेश हो जाता है और फिर भविष्य की संतानें इन अनिष्ट परिवर्तनों को और भी पुष्ट करती हैं। वह उनको शास्त्र के अन्दर मिला कर अथवा अपने बड़ों का नाम देकर उन्हें और भी मजबूत करने की कोशिश करती हैं। जब समाज बहुत समय तक इसी अनिष्ट परिवर्तन को स्वीकार कर चलता रहता है तो भविष्य में जाकर वही परिवर्तन उसके धर्म सिद्धान्त और कर्तव्य के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इसका फल यह होता है कि समाज में शांति की जगह क्लेश—उत्साह की जगह प्रमाद—अमीरी की जगह गरीबी और आजादी की जगह गुलामी का आविर्भाव हो जाता है।

इसी प्रकार का परिवर्तन हमारे जैन-साहित्य में हुआ है और बड़े ही भीषण रूप में हुआ है। इसका सब से भयङ्कर परिणाम यह हुआ है कि जैन-समाज में श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी आदि अनेक मतमतान्तर जारी हो गये ये मत आपस में ही एक दूसरे के साथ लड़कर समाज की शक्ति, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति का नाश कर रहे हैं। हम दावे के साथ इस बात को निर्भीकता-पूर्वक कह सकते हैं कि इन मतमतान्तरों का असली जैन-धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। लोगों ने स्वार्थ-

वासना और सङ्कीर्णता के वशीभूत होकर व्यर्थ मे राई का पर्वत और तिलका ताड़ बना दिया है जिसके फल स्वरूप समाज में चारों ओर भयङ्कर अशान्ति, और दरिद्रता का दौर दौरा हो रहा है। इस स्थान पर हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि सम्प्रदायों में कोई तात्विक महत्व-पूर्ण भेद नहीं है। इनके बीच में होने वाले झगड़े मींगी को छोड़ कर छिलके के लिए लडने वाले मनुष्यो से अधिक अर्थ नहीं रखते।

श्वेताम्बर और दिगम्बरवाद

श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दोनों शब्द जैन-समाज के गृहस्थों के साथ तो बिल्कुल ही सम्बन्ध नहीं रखते। गृहस्थों में एक भी स्पष्ट चिन्ह ऐसा नहीं पाया जाता जो उनके श्वेताम्बरत्व अथवा दिग-म्बरत्व को सूचित करता हो। अतएव ये दोनों शब्द गृहस्थों के लिए तो कुछ भी विशेष अर्थ नहीं रखते। इससे यह सिद्ध होता है कि चाहे जब इन शब्दों की उत्पत्ति हुई हो पर इस उत्पत्ति का मूल कारण हमारे धर्म गुरु ही थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर सञ्ज्ञा का सम्बन्ध केवल साधुओं ही के साथ है।

श्वेताम्बर सूत्र कहते हैं कि वस्त्र और पात्र रखना ही चाहिए। इसके सिवा निर्बल, सुकुमार और रोगियों के लिए संयम दुसाध्य है। यदि साधुओं को वस्त्र न रखने का नियम हो तो कड़कड़ाते जाड़े में असहनशील साधुओं की क्या गति हो? अग्नि सुलगा कर तापने से जीवहिंसा होती है और वस्त्र रखने में उतनी हिंसा नहीं होती। इसके सिवाय साधुओं को जङ्गल मे

रहना पड़ता है वहाँ डाँस, मच्छर वगैरह जीवों का उपद्रव विशेष सम्भव है. इसलिए जो साधु इन कष्टों को सहन न कर सके वह किस प्रकार संयम का पालन कर सकता है। अतिरिक्त इसके जो साधु लज्जा को नहीं जीत सकता उसके लिए भी वस्त्र की आवश्यकता होती है। हाँ, लज्जा को जीतने के पश्चात् अथवा संयम पालन करने की शक्ति हुए पश्चात् वह चाहे तो पात्र और वस्त्र रहित रह सकता है।

विक्रम की सातवीं और आठवीं शताब्दी तक तो साधु लोग सकारण ही वस्त्र रखते थे। वह भी केवल एक कटिवस्त्र। यदि कोई साधु कटिवस्त्र भी अकारण पहनता तो कुसाधु समझा जाता था। श्री हरिभद्र सूरि 'सम्बोधन प्रकरण' में लिखते हैं:—

"कीवो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेइ।
सोवाहणोय हिंडइ बंधइ कडि पट्टय मकज्जे॥

अर्थात्—क्लीव-दुर्बल साधु लोच नहीं करते, प्रतिमा को वहन करने में लज्जित होते हैं, शरीर का मैल खोलते हैं और निराकारण ही कटिवस्त्र को धारण करते हैं।

इससे मालूम होता है कि उस समय में साधु केवल एक कटिवस्त्र रखते थे। इस सम्बन्ध में आचाराङ्ग सूत्र में कहा गया है।

(१) जो मुनि अचेल (वस्त्ररहित) रहते हैं उनको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरे वस्त्र फट गये है दूसरा वस्त्र मांगना पड़ेगा, अथवा उसको जोड़ना पड़ेगा, सीना पड़ेगा, आदि (३६०)

(२) वस्त्र रहित रहने वाले मुनियों को बार २ कांटे लगते हैं, उनके शरीर को जाड़े का, डांसों का, मच्छरों का आदि

कई प्रकार के परीषह सहन करना पड़ते हैं जिससे शीघ्र ही तप की प्राप्ति होती है। (३६१)

(३) इसलिए जिस प्रकार भगवान् ने कहा है उसी प्रकार जैसे बने वैसे सब स्थानों पर समताभाव धारण करना चाहिए। (३६२)

'आचाराङ्ग सूत्र' के इन उल्लेखो से मालूम होता है कि समर्थ और सहन शील मुनि बिल्कुल नग्न रहते और भगवान् की वतलाई हुई समता को यथा शक्ति समझने का प्रयत्न करते थे। इस सूत्र में ऐसा यही नहीं पर और भी कई उल्लेख हैं। उसके दूसरे "वस्त्रैपणा" नामक भाग के एक प्रकरण मे मुनियों को वस्त्र कैसे और कब लेना चाहिए इस विषय का क्रमबद्ध उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त इस सूत्र में वस्त्र रखने का कारण वतलाते हुए लिखा है कि—

"जो साधु वस्त्ररहित हो और उसे यह मालूम होता हो कि मैं घास तथा कांटो का उपसर्ग सहन कर सकता हूँ, डांस और मच्छरो के परोषद को भो भुगत सकता हूँ पर लज्जा को नहीं जोत सकता तो उसे एक कटिवस्त्र धारण करलेना चाहिए।" (४३३)

'यदि वह लज्जा को जीत सकता हो तो उसे अचेल (नग्न) ही रहना चाहिए। अचेल अवस्था में रहते हुए यदि उसपर डांस, मच्छर, शीत, उष्ण आदि के उपद्रव हों तो शान्ति और समतापूर्वक उसे सहन करना चाहिए। ऐसा करने से अनुपाधिपन शीघ्र ही प्राप्त होता है और तप भी प्राप्त होता है। इसलिए जैसा भगवान् ने कहा है उसको समझ कर जैसे बने वैसे समभाव जानते रहना" (४३४)

इस प्रकार श्वेताम्बरो के प्रामाणिक प्रन्थों में कहीं भी ऐसा नहीं पाया जाता जहाँ पर वस्त्र और पात्र के लिए विशेष आग्रह किया गया हो या जहाँ पर यह कहा गया हो कि इनके विना मुक्ति ही नहीं, इनके विना संयम ही नहीं, अथवा इनके सिवा कल्याण ही नहीं। उनमे तो साफ २ वतलाया गया है कि जो साधु वस्त्र और पात्र रहित रहकर भी निर्दोप संयम पालन कर सकता हो उसके लिए वस्त्र और पात्र की कोई आवश्यकता नहीं। हाँ, जो इनके विना सयम का पालन न कर सकता हो वह यदि वस्त्र पात्र को रक्खे तो कोई वाधा नहीं। दोनों का ध्येय सयम है, दोनो का उद्देश्य त्याग है और दोनों का मजिले मकसूद मोक्ष है। वस्त्रपात्र रखनेवाले को वस्त्रपात्र का गुलाम वन कर न रहना चाहिए और इसी प्रकार नग्न रहनेवाले को भी नग्नता का दासत्व न करना चाहिए। किसी भी प्रकार का एकान्त दुराग्रह न करते हुए आवश्यकताओं को कम करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसी प्रकार के मार्ग का भगवान् ने उपदेश दिया है और यही आर्प ग्रन्थो में अंकित है।

हम समझते हैं कि यहाँ तक दिगम्बर ग्रन्थो को विशेष आक्षेप करने का अवकाश न मिलेगा। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें वीमार पड़ने पर भी अथवा मृत्यु के मुख में पहुँचने तक भी साधु को वस्त्र, पात्र, धारण करने की आज्ञा नहीं है। सयम के उग्र-पोपक दिगम्बर ग्रन्थ खाने पीने की रियायत की तरह वस्त्र और पात्र की भी कुछ रियायत रखते तो ठीक था। अभ्यासी और उम्मेदवार मनुष्यों को एकदम इतने कठिन व्रत का पालन करना वहुत ही मुश्किल वल्कि असम्भव होता

है। शक्ति के अनुसार आत्मसमता को बढ़ाते हुए चलना यह बात ठीक है पर जब वह समता ही लुप्त होने लगती है उस समय उसको स्थिर रखने के लिए औषधि की तरह वस्त्र और पात्र की मनाई किसी भी आचार शास्त्र में सम्भव नहीं हो सकती। दिगम्बरों के "राजवार्त्तिक" तथा ज्ञानार्णव वगैरह ग्रन्थों में आदान समिति तथा पारिष्ठापानिका समिति के नाम देखने में आते हैं जिनसे सम्भवतः हमारे उपरोक्त कथन का समर्थन होता है। राज वार्त्तिक में एक स्थान पर कहा है—

"वाङ् मनोगुप्ति—ईर्या-अथवा—निक्षेपण।
समिति आलोकित पान भोजनानि पत्र॥"

अर्थात् अहिंसा रूप महाउद्यान की रक्षा करनेवाले को उसके आस पास पांच वाड़ें बांधने की है। वे इस प्रकार हैं—वाणी का संयम, मन का संयम, जाने आने में सावधानता, लेने रखने मे सावधानता, और खाने पीने मे सावधानता।

उपरोक्त उल्लेख में आदान समिति में उपकरणों को लेने और रखने में सावधानी रखने की सूचना दी है। इससे चौथी समिति का सम्बन्ध निर्ग्रन्थों के उपकरणों के साथ घटाना कोई अनुचित नहीं जान पड़ता।

इसमे पाठक समझ सकते हैं कि श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्व की नींव केवल आग्रह के पाये पर रक्खी गई है। दोनों सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों का मत वस्त्र पात्र के सम्बन्ध मे प्रायः एक सा ही है। यदि कोई निरपेक्ष विद्वान् दोनों सम्प्रदाय के प्राचीन आचार विभाग को देखें तो हमारा खयाल है कि वह शायद ही दिगम्बरी और श्वेताम्बरी आचार ग्रन्थों को पहचान सकेगा।

अब हमें इस मत भेद की मूल जड़ पर भी एक दृष्टि डालना चाहिए। इस विषवृक्ष का वीज करीव आज से २०००-२२०० वर्ष पहले वोया गया था। तभी से इसकी जड़ में हठ और दुराग्रह का जल सींच २ कर यह पुष्ट वनाया जा रहा है। यह वात इतिहास सम्मत है कि भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य विद्यमान थे। उनको हम "ऋजुप्राज्ञ" के नाम मे सम्वोधित करते हुए पाते हैं ऋजुप्राज्ञ साधुओं के चरित्र का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि "ऋजुप्राज्ञ" साधु पञ्चरङ्गी वहु मूल्य रेशमी वस्त्र पहिन भी सकते हैं पर वक्रजड़ साधुओं को (भगवान् महावीर के अनुयायी) तो शक्ति के अनुसार अचेलक ही रहना चाहिए। समुदाय के उद्देश्य से वनाया हुआ भोजन ऋजुप्राज्ञ ले सकते हैं पर वही भोजन व्यक्ति की दृष्टि से भी वक्रजड़ नहीं ले सकते। ऋजुप्राज्ञ राजपिण्ड भी ले सकते हैं पर वक्र जड़ तो उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त आहार, विहार, ज्येष्ठ, कनिष्ठ की व्यवस्था और वन्दनादि में ऋजुप्राज्ञ निरंकुश हैं पर वक्रजड़ों को तो गुरु की परतन्त्रता में रहना पड़ता है। इस प्रकार का निरंकुश आचार भगवान् पार्श्वनाथ के ऋजुप्राज्ञ साधुओं का है और इतना कठिन आचार भगवान् महावीर के वक्रजड़ साधुओं का है।

इससे साफ मालूम होता है कि उस समय के पार्श्वनाथ के अनुयायियों का चरित्र वहुत कमजोर हो गया था। यदि त्याग का उद्देश्य आवश्यकताओं को कम करने का है, यदि त्याग, का उद्देश्य निरंकुशता पर संयम करने का है, यदि त्याग का

उद्देश्य कष्ट सहन करने का है और यदि त्याग का अर्थ एक नियमित मर्यादा में रहने का है तो हम निर्भीक होकर कह सकते हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों की अपेक्षा भगवान् महावीर के त्याग की कसौटी बहुत उच्च दर्जे की थी। हमारा खयाल है पार्श्वनाथ के समय में ऋजुप्राज्ञ साधुओं की ऐसी स्थिति न थी पर उनके निर्वाण के पश्चात् और भगवान् महावीर के अवतीर्ण होने के पूर्व-ढाई सौ वर्षों में उस समय के आचार हीन ब्राह्मण धर्म गुरुओं के संसर्ग से उन्होंने अपने आचारों में भी सुख शीलता को प्रविष्ट कर दिया। यह बात मनुष्य प्रकृति से भी बहुत कुछ सम्भव है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह सुख और सुलभता की ओर सहजही आकर्षित हो जाता है। एक तो उस समय त्याग का उपदेश देनेवाला कोई नेता विद्यमान न था, दूसरे उन लोगों के सम्मुख नित्यप्रति ब्राह्मणों की विलासप्रियता और सुख शीलता के दृश्य होते रहते थे, क्या आश्चर्य्य यदि सुख प्रियता के वश होकर उन्होंने भी अपने आचारों की कठिनाइयों को निकाल दिया हो, पर यह निश्चय है कि भगवान् महावीर से पूर्व उनके चरित्र में बहुत कुछ शिथिलता आ गई थी।

पार्श्वनाथ के पश्चात् क्रमशः भगवान् महावीर हुए उन्होंने अपना आचरण इतना कठिन और दुस्सह रक्खा कि—यदि उसके लिए यह भी कहा जाय कि दुनिया के इतिहास में आज तक किसी भी महात्मा का त्याग उतना कठिन न था तो कोई भी अतिशयोक्ति न होगी। गुरुओं के उत्पन्न हुए विलास रूपी पिशाच को निकालने के लिए, आराम की गुलामी को दूर करने

के लिए, गुरुओं के द्वारा प्रजा पर डाले हुए भार को हलका करने के लिए आदर्श से आदर्श त्याग, आत्मभाव और परम सत्य के सन्देश की आवश्यकता थी। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने भर जवानी में संयम ग्रहण कर इतने कठिन मार्ग को स्वीकार किया कि जिसकी कल्पना भी आज कल के मनुष्य करने में असमर्थ हैं, इस तीव्र त्याग के प्रभाव से उस समय के गुरुओं में पुन. त्याग का सचार हुआ और वे निर्ग्रन्थ के नाम को सार्थक करने लगे। इस प्रकार एक वार फिर से भारत में त्याग का धर्म पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

पर यह स्थिति हमेशा के लिए स्थिर न रही। भगवान् महावीर के पश्चात् दो पीढ़ी तक अर्थात् जम्बूस्वामी तक तो यह अपने असली रूप में चलती रही पर उनके पश्चात् त्याग की इस चमकती हुई ज्योति में पुनः कालिमा का संचार होने लगा। जम्बूस्वामी के पश्चात् कोई भी ऐसा समर्थ और प्रतिभाशाली नेता न हुआ जो संघकी वागडोर को सम्हालने में समर्थ होता। इधर लोगो की सुख-शीलता पुनः वढ़ने लगी। कुछ साधु कहने लगे, "जिन के आचार का तो जिन निर्वाण के साथ ही निर्वाण हो गया, जिन के समान संयम पालने के लिये जितने शरीर-वल और जितने मनो-वल की आवश्यकता होती है उतना अब नही रहा, उसी प्रकार उच्चकोटि का आत्मविकास और पराकाष्ठा का त्याग भी अव लुप्त हो गया है। इसीलिए अव तो महावीर के समय मे मिली हुई रियायतों में भी कुछ और वढ़ाने की आवश्यकता है।" इत्यादि।

ऐसा मालूम होता है कि धर्म के इसी संक्रमण काल में श्वेता-

म्बरत्व और दिगम्बरत्व का बीज बोया गया और जम्बूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् ही इस बीज का सिंचन होने लगा। इस बात का समर्थन वर्तमान सूत्र ग्रन्थों से भी होता है जैसे—

"मण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग उवसमे कप्पे।
संजमतिय-केवलि-सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिएण॥"

जम्बूस्वामी के निर्वाण पश्चात् निम्नलिखित दश बातों का उच्छेद हो गया, मनः पर्यय ज्ञान, परमावधि, पुलाकलब्धि, आहारकशरीर, क्षपकश्रेणी, जिनकल्प, संयमत्तिक, केवलज्ञान और सिद्धि गमन, इससे यह तो स्पष्ट मालूम होता है कि जम्बूस्वामी के पश्चात् जिनकल्प का नाश बतला कर लोगों को इस ओर से अनुत्साहित करने का प्रयत्न इस गाथा मे किया गया है, पर यह पाठ कबका है और किसका बनाया हुआ है यह नहीं कहा जा सकता। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि यह पाठ मथुरा की सभा के पहले से ही परम्परा से चला आया है और इसी कारण देवर्धिगण ने भो इसे अपने सूत्र में स्थान दिया है।

उपरोक्त गाथा में जिनकल्प का आचार करनेवाले को जिनाज्ञा-बाहर समझने की जो इकतर्फी आज्ञा दी गई है इससे मालूम होता है कि मतभेद रूपी विषवृक्ष के पैदा होने का यही समय है। मज्झिमनिकाय नामक एक बौद्ध ग्रन्थ मे भी इस मत भेद का उल्लेख किया गया है—

एवं मे सुतं-एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे तने खोपन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो.........होति.....तस्स भिन्ना निगण्ठा द्वेधिक जाता, भण्डनजाता, कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्ती ही वितुदंता विहरन्ति। पृष्ठ २४३—२४६,

अर्थात्—मैंने ऐसा सुना है कि एक समय भगवान् (बुद्ध) शाक्य-देश के श्यामगाम में विचरण करते थे। उस समय वहां ज्ञात-पुत्र निर्ग्रन्थ भी थे। इन ज्ञातपुत्र के निर्ग्रन्थो में विरोधी भाव हुआ था। उनमें विवाद और कलह हुआ था वे अलग होकर परस्पर वकवाद करते हुए फिरते थे।"

इस कथन का दिगम्बरियों की पट्टावलि भी समर्थन करती है। श्वेताम्बरों और दिगम्बरो की पट्टावलि में वर्द्धमान, सुधर्मा तथा जम्बू एक ही समान और एक ही क्रम से पाये जाते हैं पर आगे जाकर उनके पश्चात् आने वाले नामो में विलकुल भिन्नता पाई जाती है और वह भी इतनी कि आगे के एक भी नाम में समानता नहीं पाई जाती। इन पट्टावलियों में पाई जाने वाली नाम विभिन्नता से मालूम होता है कि जम्बू स्वामी के पश्चात् ही इनके जुदे २ आचार्य्य होने लग गये थे। इन दोनों दलों में उसी समय से धीरे २ द्वेष और वैर की भावनाएँ बढ़ने लगी। इस वैर भावना के कारण त्याग को अमल में लाने की बातें तो छूटने लगीं और सब लोग ऐसे समय की राह देखने लगे कि जब वे प्रत्यक्ष विवाद करके जाहिर रूप से अलग हो जाँय।

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी भारतवर्ष के लिए बड़ी ही भयकर थी। इसमें बारह वर्ष के बड़े ही भीषण दुष्काल पड़े। इनका वर्णन हम पहले कर आये हैं। इन दुष्कालों के मिटने पर देश में कुछ शान्ति हुई और कुछ न हुई कि पाँचवी और छठवीं शताब्दी में फिर उतने ही भयङ्कर अकाल पड़े। इन अकालों के पश्चात् जब मथुरा में सभा हुई और उस सभा में जब निर्ग्रन्थों के वस्त्र पहनने या न पहनने का प्रश्न

उपस्थित हुआ उसी समय वहाँ पर दो दल हो गये। एक ने तो समय की परिस्थिति के अनुकूल वस्त्र पहनने की व्यवस्था दी और दूसरे ने परम्परा के वशीभूत होकर नग्न रहने की। ऐसे विवादग्रस्त समय में दीर्घदर्शी स्कंदिलाचार्य्य ने बड़ी ही बुद्धिमानी से काम लिया। उन्होंने न तो नग्नता का और न वस्त्र पात्रवादिता का ही समर्थन किया प्रत्युत दोनों के बीच उचित न्याय दिया। उन्होंने कहीं भी सूत्रों मे जिनकल्प, स्थविरकल्प श्वेताम्बर तथा दिगम्बर का उल्लेख नहीं किया। फिर भी उस समय प्रत्यक्ष रूप से समाज दो दलों में विभक्त हो ही गया।

उदार जैन-धर्म दो अनुदार दलों मे विभक्त हो गया, एक पिता के पुत्र अपना २ हिस्सा बाँट कर अलग हो गये, पिता के घर के बीच में दीवाल बनाना प्रारम्भ हो गई। दोनो सम्प्रदाय महावीर को अपनी २ सम्पत्ति बनाकर झगड़ने लगे। अनेकान्तवाद और अपेक्षावाद के महान् सिद्धान्त को भूल कर दोनों आपस में ही फाग खेलने लगे। एक दूसरे को परास्त करने के लिए दोनो ने वर्द्धमान का नाम देदे कर शास्त्रों की भी रचना कर ली।

दोनो दल धार्मिकता के आवेश मे आकर इस बात को भूल गये कि मुक्ति का खास सम्बन्ध आत्मा और उसकी वृत्तियों के साथ है न कि नग्नता और वस्त्र पात्रता के साथ। ये दोनो पक्ष अपनी भावी सन्तानों को भी उसी मत पर चलने से मुक्ति मिलने का परवाना दे गये हैं। जिसके परिणाम स्वरूप आज की सन्तानें न्याय के रंगमंचों पर मुक्ति पाने की चेष्टाएँ कर रही हैं।

जो लोग समाज-शास्त्र के ज्ञाता हैं वे उन तत्वों को भली प्रकार जानते हैं, जिनके कारण जातियों और धर्मों का पतन होता है। किसी भी धर्म अथवा जाति के पतन का प्रारम्भ उसी दिन से आरम्भ होता है जिस दिन किसी न किसी छिद्र से उसके अन्तर्गत स्वार्थ का कीड़ा घुस जाता है—जिस दिन से लोगों की मनोवृत्तियों के अन्दर विकार उत्पन्न हो जाता है—जिस दिन से लोग व्यक्तिगत स्वार्थों के फेर में पड़ कर अपने जीवन की नैतिकता को नष्ट करना प्रारम्भ कर देते हैं।

युद्ध, महामारी, दुर्भिक्ष आदि बाह्य आपत्तियों से भी धर्म और जाति का अधःपात होता है, विधर्मियों का प्रतिकार और विदेशियों के आक्रमण भी उसके विकास में बाधा अवश्य देते हैं पर इन उपद्रवों से किसी भी धर्म अथवा जाति के मूलतत्वों में बाधा नहीं आ सकती और जब तक उसके मूलतत्वों में बाधा नहीं आती तब तक उसका वास्तविक अनिष्ट भी न हो सकता। जाति अथवा धर्म का वास्तविक अनिष्ट तभी हो सकता है जब उसके मूल आधारभूत तत्वों में किसी प्रकार की भ्रान्ति किसी प्रकार की विशृङ्खला उत्पन्न होती है। जब उसके अनुयायियों के दिल और दिमाग में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाता है।

धर्म की सृष्टि ही इसलिए हुई है कि वह मनुष्य-प्रकृति के कारण उत्पन्न हुई अकल्याण कर भावनाओं से मनुष्य जाति की रक्षा करे। मनुष्य की स्वाभाविक दुष्प्रवृति के कारण समाज में जो अनर्थ कारक घटनाएँ हुआ करती हैं उनसे व्यक्ति और समष्टि को सावधान करे और मनुष्य जाति को दुष्प्रवृत्तियों के

दमन की तथा सन्प्रवृत्तियो के विकास की शिक्षा दे। सभी धर्म प्रायः इसी उद्देश्य को लेकर पैदा होते हैं। लेकिन हर एक धर्म की यह स्थिति वहीं तक स्थिर रहती है जब तक समाज में दैवी सम्पद् का आधिक्य रहता है, जब तक धर्म की बागडोर उन महान् पुरुषो के हाथ में रहती हैं जो हृदय से अपना और मनुष्य जाति का कल्याण करने के इच्छुक रहते हैं। लेकिन यह स्थिति हमेशा स्थिर नही रह सकती, यह हो नही सकता कि किसी समाज में परम्परा तक दैवी सम्पद् का ही आधिक्य रहे अथवा किसी धर्म की बागडोर हमेशा निस्वार्थी महान् पुरुषों ही के हाथ मे रहे। यदि ऐसा होता तो फिर प्रकृति की परिवर्तन शीलता का कोई प्रमाण ही न रह जाता।

दैवी सम्पद् युक्त समाज मे भी किसी समय आसुरी सम्पद् का प्रभाव हो ही जाता है और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट धर्म की बागडोर भी कभी स्वार्थ लोलुप लोगो के हाथ में चली जाती है। परिणाम इसका यह होता है कि वे लोग धर्म के असली तत्वों के साथ २ धीरे २ ऐसे तत्त्व भी मिलाते जाते हैं जिनसे उनकी स्वार्थसिद्धि में खूब सहायता मिले, इस मिलावट का परिणाम यह होता है कि जो उन्ही के विचारों वाले स्वार्थ लोलुप प्राणी होते हैं वे तो तुरन्त उस परिवर्तन को स्वीकार कर लेते हैं, पर समाज में हर समय किसी न किसी तादाद मे ऐसे लोग भी अवश्य रहते हैं जो सच्चे होते हैं—जो असली तत्व को समझने वाले होते हैं और जो निस्वार्थ होते हैं। उन्हे यह परिवर्तन असह्य लगता है वे उसका विरोध करते हैं, फल यह होता है कि समाज में भयङ्कर वादविवाद का तहलका मच जाता है, दोनों

पक्षों में खूब वाक् युद्ध होता है और अन्त में पूरी फजीहत के साथ उस धर्म के अनुयायी दो दलों में विभक्त हो जाते हैं। कुछ समय तक उन दोनों दलों में संघर्ष चलता है, तत् पश्चात् उन दलों में और भी भिन्न भिन्न मतमतान्तर और विभाग पैदा होते हैं और वे आपस में लड़ने लगते हैं और इस प्रकार कुछ शताब्दियों तक लड़ झगड़ कर या तो वे अपने अस्तित्व को खो बैठते हैं या जीवन मृतकदशा में रह कर दिन व्यतीत करते हैं।

उपरोक्त का सारा कथन किसी एक धर्म को लक्ष्य करके नहीं कहा गया है प्रत्युत प्रत्येक धर्म में किसी न किसी दिन ऐसा दृश्य अवश्य दिखलाई पड़ता है। संसार के सभी महान् धर्मों में इस प्रकार के अवसर आये हैं इस बात का साक्षी इतिहास है।

जैन-धर्म के इतिहास में भी ये सब बातें बिल्कुल ठीक उतरती हुई दिखाई देती हैं। प्रारम्भ में ब्राह्मण लोगों के अनाचारों ने समाज में जो अत्याचार प्रारम्भ हो रहे थे उनका प्रतिकार जैन-धर्म ने किया। भगवान् महावीर ने इन अत्याचारों के प्रति बुलन्द आवाज उठाकर समाज में शान्ति की स्थापना की। इसके पश्चात् उन्होंने संसार को उदार जैन-धर्म का सन्देश दिया। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् सुधर्माचार्य्य के हाथ में जैन-धर्म की बागडोर आई इन्होंने भी बड़ी ही योग्यता से इसका संचालन किया। इनके समय में भी इनके व्यक्तिगत प्रभाव से समाज में किसी प्रकार की विश्रृंखला पैदा न हुई। सुधर्माचार्य्य के पश्चात् जम्बूस्वामी के हाथ जैन-धर्म की बागडोर गई इन्होंने भी बहुत सावधानी के साथ इसका संचालन किया।

यहाँ तक तो जैन-धर्म का इतिहास पूरी दीप्ति के साथ चमकता हुआ नजर आता है पर इसके पश्चात् ही उसके इतिहास में विशृंखला पैदा होती हुई दृष्टिगोचर होती है। जम्बूस्वामी के पश्चात् ही किसी सुयोग्य नेता के न मिलने से धर्म की बागडोर साधारण आदमियो के हाथ में पड़ी। तभी से इसमें विशृंखला का प्रादुर्भाव होता हुआ नजर आता है। इस स्वाभाविक विशृंखला मे प्रकृति के कोप ने और भी अधिक सहायता प्रदान की और फल स्वरूप ऊपर लेखानुसार इस पवित्र और उदार धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर दो टुकड़े हो गये।

अब लोग उन सब महातत्वों को भूल कर उन्हीं तत्वो को पकड़ कर बैठ गये जहाँ पर इन दोनों का मत भेद होता था। एक साधु यदि नग्न रहकर अपनी तपश्चर्य्या को उग्र करने का प्रयत्न करता तो श्वेताम्बरियों की दृष्टि में वह मुक्ति का पात्र ही नहीं हो सकता था क्योंकि वह तो "जिनकल्पी" है और "जिनकल्पी" को मोक्ष है ही नहीं, इसी प्रकार यदि कोई साधु एक अधो वस्त्र पहनकर तपश्चर्य्या करता तो दिगम्बरियों की दृष्टि से वह मुक्ति का हक खो बैठता था क्योंकि वह "परिग्रही" है और परिग्रह को छोड़े बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार अनेकान्तवाद और अपेक्षावाद का समर्थन करने वाले ये लोग सब महान्तत्वों को भूल कर स्वयं एकान्तवादी हो गये। जिस जाति का पतन होने वाला होता है वह इसी प्रकार महान् तत्वों को भूल कर व्यवहार को ही धर्म का सर्वस्व समझने लगती है।

पतन अपनी इतनी ही सीमा पर जाकर न रह गया। स्वार्थ का कीड़ा जहाँ किसी छिद्र से घुसा कि फिर वह अपना

बहुत विस्तार कर लेता है। जैन समाज के केवल यही दो टुकड़े होकर न रह गये। आगे जाकर इन सम्प्रादायों की गिनती और भी बढ़ने लगी। श्वेताम्बरियो मे भी परस्पर मतभेद होने लगा, इधर दिगम्बरी भी इससे शून्य न रहे कुछ ही समय पश्चात् इन दोनों श्रेणियों में भी कई उपश्रेणियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) वीर संवत् ८८२ में श्वेताम्बरी लोगो में चैत्यवासी नामक दलकी उत्पत्ति हुई।

(२) वीरात् ८८६ में उनमें "ब्रह्मद्वीपिक" नामक नवीन सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

(३) वीरात् १४६४ में "वटगच्छ" को स्थापना हुई।

(४) विक्रम सं० ११३९ में षट्कल्याणकवाद नामक नवीन मत की स्थापना हुई।

(५) विक्रम सं० १२०४ में खरतर सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ।

(६) विक्रम सं० १२२३ से आंचलिक मत का आविष्कार हुआ।

(७) विक्रम सं० १२३६ में सार्धपौर्णिमियक का प्रारम्भ हुआ।

(८) विक्रम सं० १२५० में आगमिक मत का आरम्भ हुआ।

(९) विक्रम सं० १२८५ मे तपागच्छ की नीव पड़ी।

(१०) विक्रम सं० १५०८ में लूँका गच्छ की स्थापना और १५३३ में उसके साधु संग को स्थापना हुई।

(११) विक्रम संवत् १५६२ में कटुकमत की स्थापना हुई।

(१२) विक्रम संवत् १५७० में वीजा मत का आरम्भ हुआ।

(१३) विक्रम १५७२ में पार्श्वचन्द्र सूरि ने अपने पक्ष की स्थापना विरम गाँव में की।

उसके पश्चात् इसी वृक्ष मे से स्थानकवासी, तेरापंथी, भीखम पंथी, तीन थोई वाले, विधि पक्षी आदि कई शाखाएँ तथा चौथ पंचमी का झगड़ा, अधिक मास का झगड़ा, चौदस पूर्णिमा का झगड़ा, उपधान का झगड़ा, श्रावक प्रतिष्ठा कर सकता है या नहीं इस विषय का झगड़ा, आदि कई झगड़े निकले और मजा यह कि इन सबो की पुष्टि करनेवाले कई ग्रंथ-रत्न भी हमारे साहित्य मे दृष्टिगोचर होने लगे, और ये सब लोग आपस मे बुरी तरह लड़ने लगे।

इधर दिगम्बरियों में भी मतमतान्तरो का बढ़ना आरम्भ हुआ। द्राविड़ संघ, व्यापनीय संघ, काष्ठासंघ, माथुर संघ, भिल्लक संघ, तेरा पंथ, वीस पंथ, तारण पंथ, भट्टारक प्रथा वगैरह अनेक मतमतान्तर इनमें भी प्रचलित होकर आपस में लड़ने लगे।

इन सब बातों का फल यह हुआ कि, चरित्र और आचार के उज्वलरूप जो हमारी आत्मा का विकास करते थे इस मत-भेद के कोहरे में विलीन हो गये। हमारी सारी शक्तियाँ-हमारी सब भावनाएँ आचार और तत्वज्ञान के मार्ग को छोड़ कर इस तूतू मैंमैं में आगई। धर्म एक निर्वाह का साधन बन गया। यहाँ तक कि इस मतभेद के वायुमण्डल से धार्मिक साधु भी न बचे। बल्कि यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि कुछ

कलह-प्रिय और संकीर्ण हृदय साधुओं ही के प्रताप से इन मत मतान्तरों की उत्पत्ति और उनका प्रचार हुआ।

इन मतभेदों का जो भयंकर परिणाम हमारे धर्म और समाज पर हुआ और वर्तमान में हो रहा है वह हमारी आँखों के सम्मुख उपस्थित है। कुछ पाठक हम पर अवश्य इस बात का आरोप करेंगे कि भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र लिखने-वाले को इन सब झगड़े बखेड़ों से क्या मतलब है? उसे तो जीवन चरित्र लिखकर अपना कार्य्य समाप्त कर देना चाहिए, पर लेखक का मत इससे कुछ भिन्न है। लेखक अपना कर्तव्य समझता है कि महावीर का जीवन लिखते हुए वह उनके पवित्र सिद्धान्तों से पाठकों को परिचित करे, और उनके पवित्र नाम की आड़ में समाज के अन्तर्गत जो अनाचार और अत्याचार हो रहे हैं उनसे पाठकों को परिचित करे।

भगवान् महावीर के पवित्र नाम की आड़ में आज समाज के अन्तर्गत कौन सा दुष्कृत्य नहीं हो रहा है। हम लोग अपने मतभेद को भगवान् महावीर के पवित्र नाम के नीचे रखकर उसका प्रचार करते हैं। हम लोग भगवान् महावीर को अपनी जायदाद-अपनी सम्पत्ति की तरह समझ कर दूसरों से वह हक छीन लेने की कोशिश कर रहे हैं, हम लोग अपने मत-भेद को सर्वज्ञ कथित बतला कर दुनिया में सर्वज्ञत्व की हँसी उड़वा रहे हैं, यहाँ तक की हम लोग अपने तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के लिए न्याय के रङ्ग मंच पर जाकर अपना हक साबित करने के लिए लाखों रुपयों का पानी कर देते हैं। कहाँ तो हमारा उदार पवित्र धर्म और कहां ये हेयदृश्य! हा! भगवान् महावीर!!!

धर्म के लिये टण्टा मचानेवालों-और धर्मपर अपना हक साबित करनेवालों को यह समझ रखना चाहिये कि धम किसी की मौरूसी जायदाद या सम्पत्ति नहीं है, यह तो वह विश्वव्यापी पदार्थ है जिसे प्रत्येक व्यक्ति धारण करके आत्म-कल्याण कर सकता है। धर्म का एक निश्चित स्वरूप आज तक दुनिया में कहीं आविष्कृत नहीं हुआ और न भविष्य में ही होने की आशा है। हमेशा अपेक्षाकृत दृष्टि ही से इसको लोग धारण करते आये हैं। यह कभी हो नहीं सकता कि सभी लोगों की मनो-वृत्तियाँ एक सी हो जांय और सब एक निश्चित स्वरूप को अङ्गीकार कर लें। स्वयं भगवान् महावीर के शिष्यों में भी यत्र तत्र यह मत-भेद पाया जाता था। मत-भेद का होना बुरा नहीं है प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का प्राकृतिक अधिकार है कि वह अपने मतानुसार धर्माचरण करे, इस अधिकार पर आक्षेप करने का किसी को अधिकार नहीं। पर अपने मत के लिए इस प्रकार हठ और दुराग्रह करना कि नहीं मेरा ही मत सत्य है, इसी को भगवान् महावीर ने कहा है, यही सर्वज्ञ कथित है और इसी से मोक्ष मिल सकता है—सर्वथा अनुचित, घातक और समाज का नाशक है। दिगम्बरी यदि नग्नता को पसन्द करे और यदि वे नग्न-साधु एवं नग्न मूर्त्ति की उपासना करे तो ऐसा करने का उन्हें अधिकार है, अपने सिद्धान्तों के अनुसार धर्माचरण करने का उन्हे पूरा हक है, इसके लिये श्वेताम्बरियो का यह कहना कि नहीं, कपड़ा पहने बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती, या दिगम्बरी मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते सर्वथा अनौचित्य पूर्ण है। इसी प्रकार यदि श्वेताम्बरी

लोग अधो-वस्त्र से युक्त मूर्त्ति और साधु को पसन्द करते हैं तो ऐसा करने का उन्हें अधिकार है इसके लिए दिगम्बरों का यह कहना है कि नहीं, मोक्ष तो दिगम्बरत्व में ही है श्वेताम्बरी मोक्ष पा ही नहीं सकते सर्वथा अनुचित है। इसी हठ, दुराग्रह, से हमारी जाति इतनी पतित हुई और हो रही है। और इस पर तुर्रा यह कि हम इस हठ और दुराग्रह के पीछे झट महावीर का नाम लगा देते हैं। श्वेताम्बरी उनकी मूर्त्ति बना कर उनको लंगोट पहना देते हैं एवं आँखे, केशर, चन्दन लगा कर अपनी सम्पत्ति बना लेते हैं और दिगम्बरी उनकी नग्न-मूर्त्ति बना कर उन्हे अपनी जायदाद समझ लेते हैं। यदि मूर्त्ति नग्न हुई तो फिर वह महावीर ही की क्यों न हों श्वेताम्बरी कभी उसकी पूजा न करेंगे और इसी प्रकार केशर चन्दन युक्त मूर्त्ति को दिगम्बरी भी नमस्कार न करेंगे। भगवान् महावीर के इन अनुयायियों से भगवान् महावीर के नामकी कितनी दुर्गति हो रही है। यदि आज भगवान् महावीर होते तो न मालूम श्वेताम्बरी उन्हे जवर्दस्ती लंगोट पहनवाते या दिगम्बरी उनकी लगोटी को जवर्दस्तो छीन लेते !! पर वे महात्मा इस पञ्चम काल की पापमय भूमि में आने ही क्यो लगे ?

इन मूर्त्तियों के पीछे आज हम लोगों का जितना कलह बढ़ रहा है, जितनी सम्पत्ति धूल धानी हो रही है, जितनी शक्तियाँ खर्च हो रही हैं उनका कोई हिसाब नहीं। इस कलह के अगुआओ को कोर्ट मे जाने के पूर्व जरा यह सोच लेना चाहिए कि जैनधर्म जड़वादो नहीं है और न वह मूर्त्तियो को सचेतन पदार्थ समझता है। मूर्त्तियो की स्थापना ही इसलिए हुई है कि

हम अपने पूज्य तीर्थंकरों की स्मृति की रक्षा कर सकें, हम उन मूर्त्तियों को देखकर हृदय की कलुषित वृत्तियों को निकाल सकें, और उन मूर्त्तियों के द्वारा हम ध्यान की पद्धति सीख कर, निर्विकार होना सीखें। इसके सिवाय मूर्त्ति रखने का या उसकी पूजा करने का कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है। इन मूर्त्तियों के लिए लड़ना और इन्हीं को अपना सर्वस्व सिद्ध करना, अर्थात् अपने आप को जड़वादी सिद्ध करना है। इन मूर्त्तियों के पीछे हम अपने तीर्थंकरों तक को भूल गये हैं। कहाँ तो ये तीर्थ हमारी आत्मा को पवित्र बनाने के कारण होने चाहिए थे और कहाँ ये हमारे रागद्वेष को बढ़ाने के कारण हो रहे हैं। मूर्त्तिपूजा के वास्तविक उद्देश्य को भूल हम इन्हीं जड़मूर्त्तियों को अपना सर्वस्व समझने लग गये हैं और इनके पीछे हम अपने लाखों सचेतन भाइयों की एवं अपनी निज की आत्मा की अशान्ति का कारण बना रहे हैं, जो कि एक भयङ्कर हिंसा है। याद रखिए, इन मूर्त्तियों पर कोर्ट के द्वारा अपना अधिकार साबित करवा के हम अपनी आत्मिक उन्नति नहीं कर सकते—याद रखिए इन मूर्त्तियो पर केशर, चन्दन, लगा कर या बिल्कुल दिगम्बर रखकर भी हम मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते—याद रखिए, जड़वादियों की तरह इन मूर्त्तियों को अपना सर्वस्व समझ लेने पर भी हम अपना उद्धार नहीं कर सकते और निश्चय याद रखिए कि लाखों रुपये का पानी कर अ ने ·तिपक्षि यों को नी ।। दिखलाने पर भी हम स जैनी नहीं : सकते— हावीर के अनुयायी नहीं कहला सकत । । आत्मिक उन्नति करना और स ं जैन ी कहलाना दूसरी ब त है और तीर्थों के लिए कोर्टों में चढ़ना दूसरी बात

है। ये दोनों बातें एक दूसरे के इतनी विरुद्ध हैं कि एक की मौजूदगी में दूसरी रह ही नहीं सकती। इन्हीं पारस्परिक झगड़ों के कारण हम अपने सब असली सिद्धान्तों को भूल गये हैं, इसी दुराग्रह और हठवादिता के कारण हमने भौतिकता के फेर में पड़कर आध्यात्मिकता को तिलांजलि दे दी है। इसी मतभेद के कारण हम जैनधर्म के उदार और विश्वव्यापी सिद्धान्तों से बहुत दूर जा पड़े हैं। यदि आज किसी जैनी से पूछा जाय कि भाई स्याद्वाद क्या है, अनेकान्त दर्शन की रचना किन सिद्धान्तो पर की गई है, जैनियों का अहिंसातत्व किन आधारो पर अवलम्बित है तो सिवाय चुप के कुछ उत्तर नहीं मिल सकता। मिले कहाँ से, एक तो समाज का अधिकांश पैसा मुकद्दमेबाजी में खर्च हो जाता है, रहा सहा प्रतिष्ठा और नवीन मन्दिरों की योजना में उठ जाता है। साहित्य और शिक्षा की ओर किसी का ध्यान नहीं है, ध्यान हो कहां से लड़ाई झगड़ों से अवकाश मिले तब तो। हमारी सब शक्तियां इसी ओर खर्च हो रही हैं। यहाँ तक कि इनके फेर में पड़कर हम सच्चे जैनत्व को भूल गये हैं। मुकद्दमेबाजी और मतभेद के पक्षपाती प्रत्येक जैनबन्धु को भगवान् महावीर के पवित्र जीवनचरित का अध्ययन करना चाहिए। उसे देखना चाहिए कि इन झगड़ों में और महावीर के जीवन की पवित्रता में कितना अन्तर है ? भगवान् महावीर कभी हठ और दुराग्रह के अनुमोदक नहीं रहे, फिर हम उनके अनुयायी होकर क्यों हठ और दुराग्रह के फेर में पड़ रहे हैं। यदि यही पैसा जो मुकद्दमेबाजी में खर्च होता है महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार करने में लगाया जाय

तो उससे कितना उपकार हो सकता है ? यदि इसी पैसे से हम हमारे बच्चों के लिए विद्यालय, बीमारों के लिए औषधालय, और अनाथों के लिए भोजन-गृह खुलवावें तो कितना बड़ा पुण्य और लाभ हो सकता है। जो पैसा जड़मूर्त्तियों के लिए बरबाद हो रहा है वही यदि सचेतन प्राणियों के लिए व्यय किया जाय तो कितना लाभ हो सकता है।

यदि हम चाहते हैं कि भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का घर २ प्रचार हो यदि हम चाहते हैं कि हम सच्चे जैनधर्म के अनुयायी बनकर अपनी आत्मिक उन्नति करें, यदि हम चाहते हैं कि संसार हमें जीवित जातियों में गिने और हमारी इज्जत करे, और यदि हम इहलौकिक शान्ति के साथ परलौकिक सुख भी प्राप्त करना चाहते हैं तो इस दुराग्रह और हठवादिता को छोड़कर महावीर के सच्चे अनुयायी बनें।

जबतक हमारे हृदय मे स्वार्थ, घृणा, राग, द्वेष, और बन्धु-विद्रोह के स्थान पर परमार्थ, प्रेम, बन्धुत्व और सहानुभूति की भावनाएँ उदित न होंगी, जबतक हम जड़ के लिये चेतन का और छिलके के लिए मीगी का अपमान करते रहेंगे तबतक न जैनधर्म का, न जैनजाति का और न हमारा ही लौकिक और परलौकिक हित हो सकता है।

जिस समय जातियों की पतनावस्था का आरम्भ होता है उस समय वे अपने महात्माओ के बतलाए हुए मार्ग को भूल जाती हैं—वे धर्म की असलियत को छोड़ कर नकलियत पीछे लड़ने लग जाती है। और इस प्रकार अपने संगठन को बिखेर कर तीन तेरह हो जाती है। जैनजाति का अधःपात अपनी

पूर्णता को पहुँच गया है, हम लोग जातीयत्व और मनुष्यत्व की भावनाओं को भूलकर अपनी जाति का तीन तेरह कर चुके हैं। अब यदि हमें अपनी मृत-प्राय जाति को पुन. सजीवित करना है—यदि हमें जैनजाति के इस शीघ्रगामी ह्रास को रोकना है तो हमारा कर्त्तव्य है कि पारस्परिक द्वेष की भावनाओं को भूलकर, उधार धर्म को तिलांजलि दे नगद धर्म को ग्रहण करें, और भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायी कहलाने का गौरव प्राप्त करें।

२

जैनधर्म पर अजैन विद्वानों की सम्मतियां

[१]

श्रीयुत डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. पी. एच. डी एफ. आई. आर. एस. सिद्धान्त महोदधि प्रिंसपिल संस्कृत कालिज कलकत्ता।

आपने २६ दिसम्बर सन् १९२३ को काशी (बनारस) नगर में जैन-धर्म के विषय में व्याख्यान दिया उसके सार रूप कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं।

जैन साधु.. ....एक प्रशंसनीय जीवन व्यतीत करने के द्वारा पूर्ण रीति से व्रत, नियम और इन्द्रिय संयम का पालन करता हुआ, जगत के सम्मुख आत्म संयम का एक बड़ा ही उत्तम आदर्श प्रस्तुत करता है। प्राकृत भाषा अपने सम्पूर्ण मधुमय सौन्दर्य को लिये हुए जैनियों की रचना में ही प्रकट की गई है।

[२]

श्रीयुत महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य्य सर्वान्तर पं० स्वामी राममिश्रजी शास्त्री भूतपूर्व प्रोफेसर संस्कृत कालेज बनारस।

आपने मिती पौष शुक्ला १ सम्वत् १९६२ को काशीनगर में व्याख्यान दिया उसमें के कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं।

(१) ज्ञान, वैराग्य, शान्ति, चान्ति, अदम्भ, अनीर्ष्या, अक्रोध, अमात्सर्य, अलोलुपता, शम, दम, अहिंसा समदृष्टि इत्यादि गुणों में एक एक गुण ऐसा है कि जहाँ वह पाया जाय वहां पर बुद्धिमान् पूजा करने लगते हैं। तब तो जहां ये (अर्थात् जैनों मे) पूर्वोक्त सब गुण निरतिशय सीम होकर विराजमान हैं उनकी पूजा न करना अथवा ऐसे गुण पूजकों की पूजा में बाधा डालना क्या इन्सानियत का कार्य है।

(२) मैं आपको कहां तक कहूँ, बड़े बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थो में जो जैन मत खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे देखसुन कर हँसी आती है।

(३) स्याद्वाद का यह (जैनधर्म) अभेद्य किला है उसके अन्दर वादी प्रतिवादियों के मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

(४) सज्जनों एक दिन वह था कि जैन सम्प्रदाय के आचार्योंकी हूँकार से दसों दिशाएं गूंज उठती थीं।

(५) जैन मत तब से प्रचलित हुआ है जब से ससार या सृष्टि का आरम्भ हुआ।

(६) मुझे इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है।

(३)

भारत भूमि के तिलक, पुरुप शिरोमणी इतिहासज्ञ, माननीय पं० [बाल गङ्गाधर तिलक के ३० नवम्बर सन् १९०४ को बड़ोदा नगर में दिये हुए व्याख्यान से उद्धृत कुछ वाक्य।

(१) श्रीमान् महाराज गायकवाड़ (बड़ोदा नरेश) ने पहले दिन कॉन्फ्रेंस मे जिस प्रकार कहा था उसी प्रकार 'अहिंसा परमोंधर्म' इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूर्वकाल में यज्ञ के लिये असंख्य पशु हिंसा होती थी इसके प्रमाण मेघदूत काव्य आदि अनेक ग्रन्थों से मिलते हैं...इस घोर हिंसा का ब्राह्मण धर्म से विदाई लेजाने का श्रेय (पुण्य) जैन धर्म के हिस्से में है।

(२) ब्राह्मण धर्म को जैन धर्म ही ने अहिंसा धर्म बनाया।

(३) ब्राह्मण व हिन्दू धर्म में जैन धर्म के ही प्रताप से मांस भक्षण व मदिरापान बन्द हो गया।

(४) ब्राह्मण धर्म पर जो जैन धर्म ने अक्षुण्ण छाप मारी है उसका यश जैन धर्म ही के योग्य है। जैन धर्म मे अहिंसा का सिद्धान्त प्रारम्भ से है, और इस तत्व को समझने की त्रुटि के कारण बौद्ध धर्म अपने अनुयायी चीनियों के रूप मे सर्व भक्षी हो गया है।

(५) पूर्व काल में अनेक ब्राह्मण जैन पण्डित जैन धर्म के धुरन्धर विद्वान हो गये हैं।

(६) ब्राह्मण धर्म जैन धर्म से मिलता हुआ है इस कारण टिक रहा है। बौद्ध धर्म जैन धर्म से विशेष अमिल होने के कारण हिन्दुस्थान से नाम शेष हो गया।

(७) जैन धर्म तथा ब्राह्मण धर्म का पीछे से इतना निकट सम्बन्ध हुआ है कि ज्योतिष शास्त्री भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ में ज्ञान दर्शन और चारित्र (जैन शास्त्र विहित रत्नत्रय धर्म) को धर्म के तत्व बतलाये हैं।

केशरी पत्र १३ दिसम्बर सन् १९०४ में भी आपने जैन धर्म के विषय में यह सम्मति दी है।

ग्रन्थों तथा समाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है यह विषय निर्विवाद तथा मत भेद रहित है। सुतरां इस विषय मे इतिहास के दृढ़ सबूत हैं और निदान ईस्वी सन् से ५२६ वर्ष पहले का तो जैन धर्म सिद्ध है ही। महावीर स्वामी जैन धर्म को पुनः प्रकाश में लाए इस बात को आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके है बौद्ध धर्म की स्थापना के पहले जैन धर्म फैल रहा था यह बात विश्वास करने योग्य है। चौबीस तीर्थंकरों मे महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे, इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता जानी जाती है। बौद्ध धर्म पीछे से हुआ यह बात निश्चित है।

(४)

पेरिस (फ्रांस की राजधानी) के डाक्टर ए. गिरनाट ने अपने पत्र ता० ३-१२-११ में लिखा है कि मनुष्यो की तरक्की के लिये जैन धर्म का चरित्र बहुत लाभकारी है यह धर्म बहुत

ही असली, स्वतन्त्र, सादा, बहुत मूल्यवान तथा ब्राह्मणों के मतों से भिन्न है तथा यह बौद्ध के समान नास्तिक नहीं है।

(५)

जर्मनी के डाक्टर जोहन्नेस हर्टल ता० १७–६–१९०८ के पत्र में कहते हैं कि मैं अपने देशवासियों को दिखाऊंगा कि कैसे उत्तम नियम और ऊँचे विचार जैन-धर्म और जैन आचार्यों में हैं। जैनो का साहित्य बौद्धों से बहुत बढ़ कर है और ज्यों २ मैं जैन-धर्म और उसके साहित्य को समझता हूँ त्यों २ मैं उनको अधिक पसन्द करता हूँ।

जैन हितैषी भाग ५-अङ्क ५-६-७ में मि० जोहन्नेस हर्टल जर्मनो की चिठ्ठी का भाव छपा है उसमें से कुछ वाक्य उद्धृत।

(१) जैन-धर्म में व्याप्यमान हुए सुदृढ़ नीति प्रामाणिकता के मूल तत्व, शील और सर्व प्राणियों पर प्रेम रखना इन गुणों की मैं बहुत प्रशंसा करता हूँ।

जैन-पुस्तकों में जिस अहिंसा धर्म को शिक्षा दी है उसे मैं यथार्थ में श्लाघनीय समझता हूँ।

(३) गरीब प्राणियों का दुःख कम करने के लिए जर्मनी में ऐसी बहुत सी संस्थाएँ अब निकली हैं (परन्तु जैन-धर्म यह कार्य हजारों वर्षों से करता है)।

(४) ईसाई धर्म में कहा है कि "अपने प्यारे लोगों पर और अपने शत्रुओं पर भी प्यार करना चाहिये" परन्तु यूरोप से यह प्रेम का तत्व संपूर्ण जाति के प्राणियों की ओर विस्तृत नहीं हुआ।

(६)

अन्यमतधारी मि० कन्नुलालजी जोधपुर की सम्मति।

(देखो The Theosophist माह दिसम्बर सन् १९०४ व जनवरी सन् १९०५)

जैन-धर्म एक ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहास का पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है। इत्यादि

(७)

मि० आबे जे० ए८ डवाई मिशनरी की सम्मतिः—

(Description of the character manners and customs of the people of India and of their institution and ciril)

इस नाम की पुस्तक मे जो सन् १८१७ मे लंडन मे छपी है अपने बहुत बड़े व्याख्यान मे लिखा है किः—निःसन्देह जैन-धर्म ही पृथ्वी पर एक सच्चा धर्म है, और यही मनुष्य मात्र का आदि धर्म है। आदेश्वर को* जैनियों मे बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध पुरुष जैनियों के २४ तीर्थंकरो में सबसे पहले हुए हैं ऐसा कहा है।

(८)

श्रीयुत वरदाकान्त मुख्योपाध्याय एम० ए० बंगला, श्रीयुत नाथूराम प्रेमी द्वारा अनुवादित हिन्दी लेख से उद्धृत कुछ वाक्य।

(१) जैन निरामिष भोजी (मांस त्यागी) क्षत्रियों का धर्म है।

* आदिश्वर को जैनी लोग ऋषभदेव जी कहते हैं।

(२) जैन-धर्म हिन्दू से सर्वथा स्वतंत्र है। उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है। मेक्समुलर का भी यही मत है।

(३) पार्श्वनाथ जी जैन-धर्म के आदि प्रचारक नहीं थे परन्तु इसका प्रथम प्रचार रिषभदेवजी ने किया था। इसकी पुष्टी के प्रमाणो का अभाव नहीं है।

(४) बौद्ध लोग महावीरजी को निर्ग्रन्थों अर्थात् जैनियों का नायक मात्र कहते हैं, स्थापक नहीं कहते। जर्मन डाक्टर जेकोबी का भी यही मत है।

(५) जैन-धर्म ज्ञान और भाव को लिए हुए है और मोक्ष भी इसी पर निर्भर है।

(९)

रा० रा० वासुदेव गोविन्द आपटे बी० ए० इन्दौर निवासी के व्याख्यान से कुछ वाक्य उद्धृत।

(१) प्राचीन काल में जैनियो ने उत्कृष्ट पराक्रम वा राज्य * भार का परिचालन किया है। (२) जैन-धर्म मे अहिंसा का तत्व अत्यन्त श्रेष्ठ है। (३) जैन-धर्म मे यतिधर्म अत्यन्त उत्कृष्ट है इसमें सन्देह नहीं। (४) जैनियों मे स्त्रियो को भी यति दीक्षा लेकर परोपकारी कृत्यों में जन्म व्यतीत करने की आज्ञा है यह सर्वोत्कृष्ट है। (५) हमारे हाथ से जीव हिंसा

* प्राचीन काल में चक्रवर्ती, महामण्डलीक, मण्डलीक आदि बड़े २ पदाधिकारी जैन धर्मी हुए हैं। जैनियों के परम पूज्य २४ मों तीर्थंकर भी सूर्यवंशी चन्द्रवंशी आदि क्षत्रिय कुलोत्पन्न बड़े बड़े राज्याधिकारी हुए, जिसकी साक्षी जैनग्रंथों तथा किसी २ अजैन शास्त्रों व इतिहास ग्रन्थों में भी मिलती है।

न होने पावे इसके लिये जैनी जितने डरते हैं इतने बौद्ध नहीं डरते। बौद्ध धर्म देशों में मांसाहार अधिकता से जारी है। आप स्वतः हिंसा न करके दूसरे के द्वारा मारे हुए बकरे आदि का मांस खाने में कुछ हर्ज नहीं ऐसे सुभीते का अहिंसा तत्व जो बौद्धों ने निकाला था वह जैनियों को सर्वथा स्वीकार नहीं है।
(६) जैनियों की एक समय हिन्दुस्तान में बहुत उन्नतावस्था थी। धर्म, नीति, राजकार्य धुरन्धरता, शास्त्रदान समाजोन्नति आदि बातों में उनका समाज इतर जनों से बहुत आगे था।

संसार में अब क्या हो रहा है इस ओर हमारे जैन बन्धु लक्ष देकर चलेंगे तो वह महापद पुनः प्राप्त कर लेने में उन्हें अधिक श्रम नहीं पड़ेगा।

(१०)

पूर्व खानदेश के कलेक्टर साहिब श्रीयुत ऑटोरोय फिल्ड साहिब ७ दिसम्बर सन् १९१४ को पाचोरा में श्रीयुत वछराजजी रूपचन्दजी की तरफ से एक पाठशाला खोलने के समय आपने अपने व्याख्यान मे कहा कि—जैन जाति दया के लिये खास प्रसिद्ध है, और दया के लिये हजारों रुपया खर्च करते हैं। जैनी पहले क्षत्री थे, यह उनके चेहरे व नाम से भी भी जाना जाता है। जैनी अधिक शान्तिप्रिय हैं।

(जैन हितेच्छु पुस्तक १६ अङ्क ११ मे से)

(११)

मुहम्मद हाफिज सय्यद बी० ए०, एल० टी०, थियोसोफिकल हाईस्कूल कानपुर लिखते हैं:—"मैं जैन सिद्धान्त के सूक्ष्म तत्वों से गहरा प्रेम करता हूँ।"

(१२)

राय बहादुर पूर्नेन्दु नारायण सिंह एम०ए० बाँकीपुर लिखते हैं—जैनधर्म पढ़ने की मेरी हार्दिक इच्छा है क्योंकि मैं ख्याल करता हूँ कि व्यवहारिक योगाभ्यास के लिये यह साहित्य सबसे प्राचीन (Oldest) है। यह वेद की रीति रिवाजो से पृथक् है। इसमें हिन्दू धर्म से पूर्व की आत्मिक स्वतंत्रता विद्यमान है, जिसको परम पुरुषों ने अनुभव व प्रकाश किया है। यह समय है कि हम इसके विषय में अधिक जानें।

(१३)

महामहोपाध्याय पं० गंगानाथझा एम० ए० डी० एल० एल० इलाहाबाद—"जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त पर खंडन को पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है जिसको वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा, और ,जो कुछ अब तक मैं जैन-धर्म को जान सका हूँ उससे मेरा यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि यदि वह जैन-धर्म को उसके असली ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाता तो उनको जैन-धर्म के विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।

(१४)

श्रीयुत् नैपालचन्द राय अधिष्ठाता ब्रह्मचर्य्याश्रम शांति निकेतन बोलपुर—मुझको जैन तीर्थंकरों की शिक्षा पर अतिशय भक्ति है।

(१५)

श्रीयुत् एम० डी० पाण्डे, थियोसोफिकल सोसाइटी बना-

रस—मुझे जैन सिद्धान्त का वहुत शौक है, क्योंकि कर्म सिद्धान्त का इसमें सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

सम्मतियाँ नं० १२ से १६ जैनमित्र भाग १७ अङ्क १० वें से संग्रह की गई हैं।

(१६)

सुप्रसिद्ध श्रीयुत महात्मा शिवव्रतलाल वर्म्मन, एम० ए० सम्पादक "साधु", "सरस्वती भण्डार", "तत्वदर्शी", "मार्तंड" "लक्ष्मीभण्डार," "सन्त सन्देश" आदि उर्दू तथा नागरी मासिक पत्र; रचयिता विचार कल्पद्रुम, " "विवेक कल्पद्रुम," "वेदान्त कल्पद्रुम;" "कल्याण धर्म," "कवीरजीका बीजक" आदि ग्रन्थ, तथा अनुवादक "विष्णु पुराणादि"।

इन महात्मा महानुभाव द्वारा सम्पादित "साधु" नामक उर्दू मासिकपत्र के जनवरी सन् १९११ के अंक मे प्रकाशित "महावीर स्वामीका पवित्र जीवन" नामक लेख से उद्धृत कुछ वाक्य, जो न केवल श्री महावीर स्वामी के लिये किन्तु ऐसे सर्व जैनतीर्थंकरों, जैनमुनियो तथा जैनमहात्माओ के सम्बन्ध मे कहे गए हैं।

(१) "गए दोनों जहान नजरसे गुजर तेरे हुस्न का कोई बशर न मिला"।

(२) यह जैनियों के आचार्य्यगुरू थे। पाकदिल, पाकख्याल, मुजस्सम-पाकीजगी थे। हम इनके नाम पर, इनके काम पर और इनके बे नजीर नफ्सकुशी व रिआजत की मिसालपर, जिस कदर नाज (अभिमान) करें बजा (योग्य) है।

(३) हिन्दुओ ! अपने इन बुजुर्गों की इज्जत करना सीखो ......तुम इनके गुणों को देखो, उनकी पवित्र सूरतों का दर्शन करो, उनके भावों को प्यार की निगाह से देखो, वह धर्म कर्म की झलकती हुई चमकती मूर्तियाँ हैं......उनका दिल विशाल था, वह एक वेपायाकनार समन्दर था जिसमें मनुष्य प्रेम की लहरे जोर शोर से उठती रहती थीं और सिर्फ मनुष्य ही क्यो उन्होंने संसार के प्राणीमात्र की भलाई के लिये सब का त्याग किया। जानदारो का खून बहना रोकने के लिये अपनी जिन्दगी का खून कर दिया। यह अहिंसा की परम ज्योतिवाली मूर्तियाँ हैं।

ये दुनियाँ के जबरदस्त रिफार्मर, जबरदस्त उपकारी और बड़े ऊँचे दर्जे के उपदेशक और प्रचारक गुजरे हैं। यह हमारी कौमी तवारीख (इतिहास) के कीमती [बहुमूल्य] रत्न हैं। तुम कहाँ और किन में धर्मात्मा प्राणियो की खोज करते हो इन्हीं को देखो। इनसे बेहतर [उत्तम] साहबे कमाल तुमको और कहां मिलेंगे। इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था, इनमे धर्म का कमाल था, यह इन्सानी कमजोरियों से बहुत ही ऊँचे थे। इनका खिताब "जिन" है। जिन्होंने मोहमाया को और मन और काया को जीत लिया था। यह तीर्थंकर हैं। इनमें बनावट नहीं थी, दिखावट नहीं थी, जो बात थी साफ साफ थी। ये वह लासानी [अनौपम] शखसीयतें हो गुजरी हैं। जिनको जिसमानी कमजोरियों, व ऐबों के छिपाने के लिये किसी जाहिरी पोशाक की जरूरत महसूस नहीं हुई। क्योंकि उन्होंने तप करके, जप करके, योग का साधन करके, अपने आप को मुकम्मिल और पूर्ण बना लिया था..............इत्यादि इत्यादि..........

[१८]

श्रीयुत् तुकाराम कृष्ण शर्मा लद्दु वी० ए० पी०एच० डी० एम० आर० ए० एस० एम० ए० एस० वी० एम० जी० ओ० एस० प्रोफेसर संस्कृत शिलालेखादि के विषय के अध्यापक कीन्स कालेज बनारस।

स्याद्वाद महाविद्यालय काशी के दशम वार्षिकोत्सव पर दिये हुए व्याख्यान में से कुछ वाक्य उद्धृत।

(१) सब से पहले इस भारतवर्ष में "रिषभदेवजी" नाम के महर्षि उत्पन्न हुए। वे दयावान भद्रपरिणानी, पहिले तीर्थंकर हुए जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्था को देख कर "सम्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूपी मोक्ष शास्त्र का उपदेश किया। बस यही जिन दर्शन इस कल्प में हुआ। इसके पश्चात् अजीत-नाथ से लेकर महावीर तक तेईस तीर्थंकर अपने अपने समय मे अज्ञानी जीवो का मोह अंधकार नाश करते थे।

[१९]

साहित्य रत्न डाक्टर रवीन्द्रनाथ टागोर कहते हैं कि महा-वीर ने डींडींग नाद से हिन्द में ऐसा सन्देश फैलाया कि:—धर्म यह मात्र सामाजिक रूढ़ि नहीं है परन्तु वास्तविक सत्य है, मोक्ष यह बाहरी क्रिया कांड पालने से नही मिलता, परन्तु सत्य-धर्म स्वरूप में आश्रय लेने से ही मिलता है। और धर्म और मनुष्य में कोई स्थायी भेद नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य पैदा होता है कि इस शिक्षा ने समाज के हृदय में जड़ करके बैठी हुई भावनारूपी विघ्नों को त्वरा से भेद दिये और देश को वशी-

भूत कर लिया, इसके पश्चात् बहुत समय तक इन क्षत्रिय उपदेशकों के प्रभाव बल से ब्राह्मणों की सत्ता अभिभूत हो गई थी।

(२०)

टी० पी० कुप्पुस्वामी शास्त्री एम. ए. असिसटेन्ट गवर्नमेंट म्युजियम तंजौर के एक अंग्रेजी लेख का अनुवाद "जैन हितैषी भाग १० अंक २ में छापा है उसमें आपने बतलाया है कि:—

(१) तीर्थंकर जिनसे जैनियों के विख्यात सिद्धान्तों का प्रचार हुआ है आर्य्य क्षत्रिय थे।

(२) जैनी अवैदिक भारतीय-आर्य्यों का एक विभाग है।

(२१)

श्री स्वामी विरुपाक्ष वडियर 'धर्म भूषण' 'पण्डित' 'वेद-तीर्थ' 'विद्यानिधी' एम. ए. प्रोफेसर संस्कृत कालेज इन्दौर स्टेट। आपका "जैन धर्म मीमांसा" नाम का लेख चित्रमय जगत मे छपा है उसे 'जैन पथ प्रदर्शक' आगरा ने दीपावली के अंक में उद्धृत किया है उससे कुछ वाक्य उद्धृत।

(१) ईर्षा द्वेष के कारण धर्म प्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुए जैन शासन कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी ही होता रहा है। इस प्रकार जिसका वर्णन है वह 'अर्हन्तदेव' साक्षात् परमेश्वर (विष्णु) स्वरूप है इसके प्रमाण भी आर्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

(२) उपरोक्त अर्हंत परमेश्वर का वर्णन वेदों मे भी पाया जाता है।

(३) एक बंगाली बैरिष्टर ने 'प्रेकटिकलपाथ' नामक ग्रन्थ बनाया है। उसमें एक स्थान पर लिखा है कि रिषभदेव का नाती

मरीचि प्रकृतिवादी था, और वेद उसके तत्वानुसार होने के कारण ही ऋगवेद आदि ग्रंथों की ख्याति उसीके ज्ञान द्वारा हुई है फलतः मरीचि ऋषी के स्तोत्र, वेद पुराण आदि ग्रन्थो मे हैं और स्थान २ पर जैन तीर्थकरो का उल्लेख पाया जाता है, तो कोई कारण नहीं कि हम वैदिक काल मे जैन धर्म का अस्तित्व न मानें।

(४) सारांश यह है कि इन सब प्रमाणों से जैन धर्म का उल्लेख हिन्दुओ के पूज्य वेद मे भी मिलता है।

(५) इस प्रकार वेदो मे जैन धर्म का अस्तित्व सिद्ध करने वाले वहुत से मन्त्र हैं। वेद के सिवाय अन्य ग्रन्थो में भी जैन धर्म के प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाले उल्लेख पाये जाते हैं। स्वामीजी ने इस लेख में वेद, शिव पुराणादि के कई स्थानो के मूल श्लोक देकर उस पर व्याख्या भी की है।

पीछे से जव ब्राह्मण लोगों ने यज्ञ आदि मे वलिदान कर "मा हिंसात सर्व भूतानि" वाले वेद वाक्य पर हरताल फेर दी उस समय जैनियों ने उन हिंसामय यज्ञ योगादि का उच्छेद करना आरम्भ किया था वस तभी से ब्राह्मणो के चित्त में जैनों के प्रति द्वेष बढ़ने लगा, परन्तु फिर भी भागवतादि महापुराणो मे रिषभदेव के विपय मे गौरवयुक्त उल्लेख मिल रहा है।

(२२)

अम्बुजाक्ष सरकार एम. ए. बी. एल. लिखित "जैन दर्शन जैनधर्म" जैनहितैषी भाग १२ अङ्क ९-१० में छपा है उसमे के कुछ वाक्य।

(१) यह अच्छी तरह प्रमाणित होचुका है कि जैन धर्म

बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है। महावीर स्वामी जैन धर्म के स्थापक नहीं हैं। उन्होंने केवल प्राचीन धर्म का प्रचार किया है।

(२) जैन दर्शन में जीव तत्व की जैसी विस्तृत आलोचना है वैसी और किसी भी दर्शन में नहीं है।

(२३)

हिन्दी भाषा के सर्व श्रेष्ठ लेखक और धुरंधर विद्वान् प० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी ने प्राचीन जैन लेख-संग्रह की समालोचना "सरस्वती" मे की है। उसमें से कुछ वाक्य ये हैं:—

(१) प्राचीन ढर्रे के हिन्दू धर्म्मावलम्बी बड़े बडे शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियोंका स्याद्वाद किस चिडिया का नाम है। धन्यवाद है जर्मनी और फ्रांस, इङ्गलैण्ड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञों को जिनकी कृपा से इस धर्म्म के अनुयाइयों के कीर्ति कलाप की खोज और भारतवर्ष के साक्षर जैनो का ध्यान आकृष्ट हुआ। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनो के धर्म्म ग्रन्थों आदि की आलोचना न करते यदि ये उनके कुछ ग्रन्थो का प्रकाशन न करते और यदि ये जैनो के प्राचीन लेखो की महत्ता न प्रकट करते तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत ही अज्ञान के अन्धकार में ही डूबे रहते।

भारतवर्ष में जैन धर्म्म ही एक ऐसा धर्म्म है जिसके अनुयाई साधुओं (मुनियों) और आचार्यों में से अनेक जनो ने धर्म्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रन्थ-रचना और ग्रन्थ संग्रह मे खर्च कर दिया है।

(३) बीकानेर, जैसलमेर और पाटन आदि स्थानो

हस्त-लिखित पुस्तकों के गाड़ियों वस्ते अब भी सुरक्षित पाये जाते हैं।

(४) अकबर इत्यादि मुग़ल बादशाहों से जैन धर्म्म को कितनी सहायता पहुँची, इसका भी उल्लेख कई में है।

(५) जैनों के सैकड़ों प्राचीन लेखो का संग्रह सम्पादन और आलोचना विदेशी और कुछ स्वदेशी विद्वानों के द्वारा हो चुकी है। उनका अङ्गरेजी अनुवाद भी अधिकांश में प्रकाशित हो गया है।

(६) इन्डियन ऐन्टीकेरी, इपिग्राफिआ इन्डिका सरकारी गैजेटियरों और आर्कियालाजिकल रिपोर्टों तथा अन्य पुस्तकों में जैनों के कितने ही प्राचीन लेख प्रकाशित हो चुके हैं। बूलर, कौसेसकिर्स्टे विल्सन, हूल्टश, केलटर और कीलहार्न आदि विदेशी पुरातत्वज्ञों ने वहुत से लेखों का उद्धार किया है।

(७) पेरिस (फ्रांस) के एक फ्रेंच पण्डित गेरिनाट ने अकेले ही १२०७ ई० तक के कोई ८५० लेखो का संग्रह प्रकाशित किया है। तथापि हजारों लेख अभी ऐसे पड़े हुए हैं जो प्रकाशित नहीं हुए।

(२४)

सौराष्ट्र प्रान्त के भूतपूर्व पोलिटिकल एजेन्ट मि० एच० डब्ल्यू० बर्हन साहिब का मुकाम जेतपुर युरोपियन गेस्ट तरीके पधारना हुआ, आपने जेतपुर विराजमान लींबड़ी सम्प्रदाय के महाराज श्री लबजी स्वामी जेठमलजी स्वामी से भेट की। आपने महाराज श्री के साथ जैन रिलीजियन सम्बन्धी चर्चा पौन घण्टे तक की आखीर में आपने जैन मुनियो के पारमार्थिक जीवन

और त्याग धर्म की योग्य प्रशंसा की और पीछे, से पत्र द्वारा अपना संतोष जाहिर किया इसमें बहुत तारीफ करने के साथ समयाभाव से अधुरा विषय छोड़ना पड़ा इसका अफसोस जाहिर किया।

जैन वर्तमान १४ जून १९१३ ई० से

(२५)

श्रीयुत् डाक्टर जोली प्रोफेसर संस्कृत वृजवर्ग यूनिवर्सिटी जर्मनी।

जैन धर्म की उपयोगिता को सार्व रूप से पश्चिमीय विद्वानों को स्वीकार करना चाहिये।

जैन मित्र १९ जुलाई १९२३ ई. से

(२७)

इन्डियन रिव्यू के अक्टोबर सन् १९२० ई० के अङ्क में मद्रास प्रेसीडेन्सी कॉलेज के फिलोसोफी के प्रोफेसर मि० ए. चक्रवर्ती एम. ए. एल. टी. लिखित "जैन फिलोसोफी" नाम के अर्टिकल का गुजराती अनुवाद महावीर पत्र के पौष शुक्ला १ संवत् २४४८ वीर संवत् के अंक में छपा है उस में से कुछ वाक्य उद्धृत हैं—

(१) धर्म अने समाज की सुधारणा में जैन-धर्म बहु अगत्य नो भाग भजी शके छे: कारण आ कार्य माटे ते उत्कृष्ट रीते लायक छे।

(२) आचार पालन मां जैन-धर्म घणो आगल वधे छै अने बीजा प्रचलित धर्मों ने तो ,सम्पूर्णतानु भान करावे छे कोई धर्म मात्र श्रद्धा (भक्ती) उपर तो कोई ज्ञान उपर अने कोई

वली मात्र चारित्र उपरज भार मुके छै, परन्तु जैन-धर्म एत्रणे ना समन्वय अने सहयोगथीज आत्मा परमात्मा थाय छे एम स्पष्ट जणावे छै।

(३) रिषभदेवजी 'आदि जिन' "आदिश्वर" भगवान् ना नामे पण ओलखाय छै ऋग्यवेद नां सूकती मां तेमनो 'अर्हत' तरीके उल्लेख थएलो छै जैनो तेमने प्रथम तीर्थंकर माने छै.

(४) बीजा तीर्थंकरो वधा क्षत्रियोज हता,

(२९)

श्रीयुत् सी. वी. राजवाड़े, एम. ए. वी. एस. सी प्रोफेसर ऑफ पाली, बरोडा कालेज का एक लेख "जैन-धर्म नुं अभ्ययन" जैन साहित्य संशोधक पूना भाग १ अङ्क १ में छपा है उसमे से कुछ वाक्य उद्धृत।

(१) प्रोफेसर ,वेबर वुल्हर जेकोवी हारनल भांडारकर ल्युयन राइस गॅरीनोट वगैरा विद्वानोए जैन धर्मना संवंधमां अत:करण पूर्वक अथाग परिश्रम लेई अनेक महत्वनी शोत्रो प्रगट करेली छै।

(२) जैन-धर्म पूर्वना धर्मों मां पोतानो स्वतंत्र. स्थान प्राप्त करतो जाय छे,

(३) जैन-धर्म ते मात्र जैनो नेज नहीं परंतु तेमना सिवाय प्राश्चात्य संशोधनना प्रत्येक विद्यार्थी अने खास करीने जो पौर्वात्य देशो ना धर्मों ना तुलनात्मक अभ्यास मां रस लेता होय तेमने तल्लीन करी नाके एवो रसिक विषय छै.

(३०)

डाक्टर F. OTTO SGHRADER, P.H.D. का

एक लेख वुद्धिष्ट रिव्यु ना पुस्तक अंक १ मां प्रगट थयेला अहिंसा अने वनस्पति आहार शीर्षक लेख का गुजराती अनुवाद जैन साहित्य संशोधक अंक ४ में छपा है उसमें से कुछ वाक्य उद्धृत।

(१) अनिवारे आस्तीत्व धरावतां धर्मों मां जैन–धर्म एक एवो धर्म छे के जेमां अहिंसा नो क्रम संपूर्ण छे अने जो शक्य तेटली दृढ़ताथी सदा तेने वलगी रह्यो छे ।

(२) ब्राह्मण धर्म मां पण घणीं लांवा समय पच्छी संन्यासियो माटे आ सुक्ष्मतर अहिंसा विदित थई अने आखरे वनस्पति आहार ना रूप मां ब्राह्मण ज्ञाति मां पण ते दाखील थई हती कारण ए छे के जैनों ना धर्म तत्वोए जे लोक मत जीत्यो हतो तेनी असर सजड रीते वधती जती हती,

(३१)

श्रीयुत वावू चम्पतरायजी जैन वैरिस्टर एट-ला हरदोई सभापति, श्री भ० दि० जैन महासभा का ३६ वां अधिवेशन लखनऊ ने अपने व्याख्यान में जैन धर्म को वोद्ध धर्म से प्राचीन होने के प्रमाण दिये हैं उससे उद्धृत ।

(१) इन्सायक्लोपेडिया में योरुपीयन विद्वानों ने दिखाया है कि जैन धर्म वौद्ध धर्म से प्राचीन है और वौद्ध मत ने जैन धर्म से उनकी दो परिभाषाएँ आश्रव व संवर लेली है अंतिम निर्णय इन शब्दों में दिया है कि—

जैनी लोग इन परिभाषाओं का भाव शब्दार्थ मे समझते हैं और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग के संवंध मे इन्हें व्यवहृत करते हैं (आश्रयों के संवर और निर्जरा से मुक्ति प्राप्त होती है) अव यह परिभाषाएँ उतनी ही प्राचीन हैं जितना कि जैन धर्म है ।

कारण की बौद्धों ने इससे अतीव सार्थक शब्द आश्रव को ले लिया है। और धर्म के समान ही उसका व्यवहार किया है। परन्तु शब्दार्थ में, नहीं कारण की बौद्ध लोग कर्म सूक्ष्म पुद्गल नहीं मानते हैं और आत्मा की सत्ता को भी नहीं मानते हैं। जिसमें कर्मों की आश्रव हो सके। संवर के स्थान पर वे आसा-वाकन्य को व्यवहृत करते हैं। अब यह प्रत्यक्ष है कि बौद्ध धर्म में आश्रव का शब्दार्थ नहीं रहा। इसी कारण यह आवश्यक है कि यह शब्द बौद्धों में किसी अन्य धर्म से जिसमें यह यथार्थ भाव में व्यवहृत हो अर्थात् जैन धर्म से लिया गया है। बौद्ध सवर का भी व्यवहार करते हैं अर्थात् शील संवर और क्रिया रूप में संवर का यह शब्द ब्राह्मण आचार्यों द्वारा इस भाव में व्यवहृत नहीं हुए हैं अतः विशेषतया जैन धर्म से लिये गये हैं। जहाँ यह अपने शब्दार्थ रूप में अपने यथार्थ भाव को प्रकट करते हैं। इस प्रकार एक ही व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्म का कार्य सिद्धान्त जैन,धर्म में प्रारम्भिक और अखंडित रूप में पूर्व से व्यवहृत है और यह भी सिद्ध होता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से प्राचीन है।

जैन भास्करोदय सन् १९०४ ई० से उद्धृत।

चित्र परिचय।
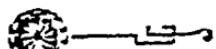
इस पुस्तक के प्रारम्भ में पाठक जिन सेठ साहब का चित्र देख रहे हैं उनसे हम उनका संक्षिप्त परिचय करवा देना उचित समझते हैं।

हम यहाँ पर प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता श्रीमुन्सिफ देवी प्रसाद जी जोधपुर का संवत् १९६८ का 'मेरा दौरा, शीर्षक लेख के अन्तर्गत का वृत्तान्त देते हैं जो मुन्शीजी ने नागरीप्रचारिणी सभा की मुख पत्रिका खड १ के अंक २ पृष्ट १७७ मे लिखा है वह इस प्रकार है—

रीयां

पींपाड़ से एक कोस पर खालसे का एक बड़ागाँव रीयां नामक है, इसको सेठो की रीयां भी बोलते हैं; क्योंकि यहाँ के सेठ पहिले बहुत धनवान् थे। कहते हैं कि एक बार राजा मान-सिंहजी से किसी अंग्रेज ने पूछा था कि मारवाड़ में कितने घर हैं? तो महाराजा ने कहा था कि ढाई घर हैं—एक घर तो रीयां के सेठो का है, दूसरा भीलाड़े के दीवानों का है और आधे में सारा मारवाड़ है।

ये सेठ मोहणोत जाति के ओसवाल थे। इनमें पहिले रेखाजी वड़े सेठ थे इनके पीछे जीवनदासजी हुए, इनके पास लाखो रुपये सैकड़ों हजारों सिक्के के थे। महाराज विजयसिह जी ने उनको नगर सेठ का खिताव और एक महीने तक किसी आदमी को कैद कर रखने का अधिकार भी दिया था। जीवनदास जी के पुत्र हरजीमल जी, हरजीमल जी के रामदास जी, रामदास जी के हमीरमल जी और हमीरमल जी के पुत्र सेठ चांदमल जी हैं।

जीवनदास जी के दूसरे पुत्र गोरधनदास जी के सोभागमल जी, सोभागमल जी के पुत्र धनरूप मल जी, कुचामण में थे, जिनकी गोद अब सेठ चांदमल जी के पुत्र मगनमल जी हैं।

सेठ जीवणदास जी की छत्रीगांव के वाहर पूरव की तरफ पींपाड़ के रास्ते पर वहुत अच्छी वनी है। यह १६ खभो की है, शिखर के नीचे चारो तरफ एक लेख खुदा है जिसका सारांश यह है—

सेठ जीवणदास मोहणोत्त के ऊपर छत्री सुत गोरधनदास हरजीमल कराई। नींव सम्वत् १८४१ फागुन सुदी १ को दिलाई कलश माह सुदी १५ संवत् १८४४ गुरुवार को चढ़ाया।

कहते हैं कि एक वेर यहाँ नवाव अमीर खाँ के डेरे हुवे थे, किसी पठान ने छत्री के कलस पर गोली चलाई तो उसमें से कुछ अशरफियाँ निकल पड़ीं, इससे छत्री तोड़ी गई तो और भी माल निकला जो नवाब ने ले लिया। फिर बहुत वर्षों वाद छत्री की मरम्मत सेठ चांदमल जी के पिता या दादा ने अजमेर से आकर करा दी। इन सेठो की हवेली रीयां में है।

मारवाड़ के अन्दर ढाई घर की बावत लोग ऐसा भी कहते हैं कि एक दफा महाराजा जोधपुर को धन की बड़ी आवश्यकता पड़ी, उन्होंने सुना कि मारवाड़ के अन्दर रीयां वाले सेठों के पास अथाह द्रव्य है। महाराजा साहब (ऊँटनी) सांड पर बैठ कर रीयां ग्राम में गये और अपना डेरा ग्राम बाहर बावड़ी पर लगाया। रीयांवाले सेठ प्रातःकाल प्रति दिन स्नान करने को बिला नागा बावड़ी पर आते थे उस दिवस भी आये और स्नान करके जाने लगे तो उन्होंने एक पराक्रमी तेजस्वी राजपूत सरदार को चिन्ता मे निमग्न बैठा हुवा देख कर पूछा कि आप कौन सरदार हैं, यहाँ किस कारण पधारे हैं, कहाँ निवास स्थान है और किधर जाने का विचार है ? राजपूत सरदार ने कहा कि मैं एक ग्राम का ठाकुर हूँ किसी विशेष कारण से यहाँ आया हूँ किन्तु कारण की सिद्धि होना बड़ी कठिन है यही देख कर मुझे चिन्ता होती है।

सेठ ने कहा कि आप मेरे घर पर पधारिए, और भोजन करिए। बाद आगमन का कारण भी बतलाइए, भगवत् कृपा से उसको पूर्ण करने का प्रयत्न किया जायगा क्योंकि हमारे पास जो कुछ भी है वह सब आप लोगों का ही है। हमारा कर्त्तव्य है कि इस समय पर आप लोगो की सहायता करें। यह श्रवण कर महाराजा साहब को शान्ति हुई, अत्याग्रह करने पर वे सेठ कें मकान पर गये, वहाँ भोजन किया, और बाद में कहा कि हमें राज्य के निमित्त इतनी रकम की जरूरत है।

सेठ ने कहा, बहुत अच्छा, क्या बड़ी बात है, आप पधार जाइए मैं भेजता हूँ। महाराजा साहब के चले जाने पर सेठ

ने एक ही सिक्के के रुपयों से इतने छकड़े भर दिये की रीयां से लगा कर जोधपुर तक छकड़ो की कतार बंध गई।

महाराजा साहब अतुल द्रव्य देख कर वहुत प्रसन्न हुवे और उनको सेठ की उपाधि से विभूपित किया और उनको इतना मान-मरतवा दिया जितना पूर्व किसी को भी जोधपुर राज्य में न दिया गया था। उस समय से ही इनका घर ढाई घरों मे गिना जाने लगा और रीयां गाँव अधिक प्रसिद्धि में आया।

सेठ जीवणदास।

सेठ जीवणदास जी वड़े पराक्रमी पुरुप थे। उन्होंने जोधपुर राज्य मे वडी ख्याति प्राप्त की थी यही नहीं किन्तु उन्होंने अपना दवदवा पेशवा के राज्य मे भी जमाया। समस्त महाराष्ट्र और दूर २ तक इनका सिक्का जमा हुआ था, इनके अतुल धन, स्वतन्त्र और उदार विचार की प्रशंसा चहुँओर थी और उस समय वह Millioney क्रोड़पति कहे जाते थे।

पेशवा के दरबार मे सेठ जीवनदासजी का बड़ा मान था उन्होंने पेशवाओ की उस नाज़ुक समय में धन से सहायता की थी जिस समय उनके Cheefs सरदार Tribute खिरज देने को इनकार हो गये थे, यदि सेठ जीवणदास जी धन से सहायता न देते और फौज को इतमिनान न दिलाते तो उनकी राजधानी पर फौज का पूर्ण आधिपत्य हो जाता उस समय उनकी दुकान पूने मे थी, और पेशवा राज्य की सरहद में कई स्थानों में उनकी शाखाएं थीं, एक शाखा राजपुताने के अन्तर्गत अजमेर में भी थो।

सेठ हमीरमल ।

सेठ हमीरमल जो की इज्जत सिन्धिया के दरबार में बहुत थी, इनकी बैठक दरबार में थी और अतर पान दिया जाता था। सम्वत् १९११ (सन् १८५४) में सेठ हमीरमल को महाराजा जोधपुर ने फिर सेठ की उपाधि प्रदान की जो सौ वर्ष पूर्व महाराजा विजय सिंह जी ने सेठ जीवणदास जी को दी थी । इसके अतिरिक्त पालकी, खिल्लत और दर्बार में बैठक का मर्तबा दिया था जो राज्य के दिवानों को भी न दिया गया था। साथ ही महाराजा साहब ने प्रसन्न होकर निज के माल या सामान की चुंगी बिल्कुल न ली जाने तथा व्यापार के माल पर आधी चुंगी ली जाने की रियायत बखशी जो आज तक चली आती है।

अंग्रेज सरकार की भी सेठ हमीरमल जी ने बड़ी सेवा की थी इससे उनका बड़ा मान और आदर सत्कार किया जाता था, सन् १८४६ में कर्नल सीमन एजन्ट गवर्नर जनरल बुन्देलखण्ड और सागर ने पत्र व्यवहार में "सेठ साहब महरबान सलामत बाद शोक मुलाकात आंके" का अलकाब आदाब व्यवहृत किये जाने की सूचना दी थी जिसको कर्नल जे० सी० ब्रुक कमिश्नर और एजेन्ट गवर्नर जनरल राजपूताना ने २० फरवरी सन् १८७१ को उसी अलकाब आदाब को जारी रखने की स्वीकृति दी थी।

सन् १९५२ और ५५ में जब सेठ हमीरमल अपने खजानों को देखभाल करने पन्जाब में गये उस समय फायिनेन्स कमिश्नर पंजाब, तथा कमिश्नर जालन्धर डिविजन ने तहसीलदारों के

नाम हुक्म जारी किया था कि सेठ हमीरमल जी को पेशवाई के लिये स्टेशन पर रहे। पंजाब में उनकी इतनी इज्जत थी कि जब कभी वे जाते थे तहसीलदार आदि को उनकी पेशवाई के लिये स्टेशन पर जाना पड़ता था।

पंजाव पर आधिपत्य करने के लिये जब अंग्रेजी फौज भेजी गई थी उस समय सेठ हमीरमल जी का एजन्ट गुलाबचन्द फौज के साथ खजानची था, फौज का कब्जा होने पर उनका वहाँ खजाना हो गया।

राय सेठ चान्दमल।

सेठ चान्दमल जी का जन्म संवत १९०५ मे हुआ था। उनके धीरजमलजी और चन्दनमलजी दो भाई थे, सब खुशहाल थे व कारोबार अच्छी तरह से चलता था।

सेठ चांदमल जी अपने पिता और दादा के सदृश पराक्रमी, साहसी, दानी, उदारचित्त और विचारवान थे। इनकी चमत्कारिक बुद्धि, और अनुभव की ख्याति चहुंओर थी छोटी अवस्था में ही इन्होंने अनेक गुण धारण कर लिये थे।

सम्वत् १९२१ मे महाराजा साहब जोधपुर ने इनको 'सेठ' की उपाधि प्रदान की वह उपाधि पूर्व महाराजा विजयसिंह जी ने वहां परम्परा के लिये दे दी थी। इस समय पेशावर, जालन्धर, घोघोपारपुर, काँगरा, सांभर, सागर और मुरार में खजाने थे। बाम्बे, जबलपुर, नरसिंगपुर मिरजापुर में सागर, रोहिल्ला, दमोह, कौरी, सोरी, जालन्धर, होशियारपुर, धर्मशाला, पेशावर, ग्वालियर, जोधपुर, सागर, अजमेर, भेलसा, झांसी,

इन्दौर, मेनिन और आजमगढ़ मे दुकाने थीं, मध्यप्रदेश में जमीनदारी थी।

सन् १८६८–६९ में मध्यप्रदेश और राजपूताने में अकाल पड़ा था। सेठ चन्दमल जी की इजाजत से सागर दुकान के मुनीम ने गरीबो और निराधारों की सहायता की थी। इसके उपलक्ष्य में चीफ कमीश्नर ने स्वर्णपदक प्रदान किया था। अजमेर मे उस समय 'चेरीटेवल ग्रेन क्लब' और 'वूचर हाउस कमेटी' सर्व साधारण के लाभार्थ स्थापित की गई थी। कर्नल आर. एच. कीटिनं, वी. सी. सी. एस. आई. ई. एजन्ट गवर्नर जनरल राजपूताना ने इनको कमेटी का मेम्वर वनाया। इस काम में इन्होंने वड़ी दिलचस्पी ली और आगरे से नाज मगवा कर अजमेर मे वाजार भाव से सस्ता वेचा, इस कमेटी की तरफ से भूखो को अन्न दिया जाता था और पर्दानशीन औरतो को जो वाहर नहीं निकल सकती थीं उनके घर पर नाज पहुँचाया जाता था।

सन् १८७१ मे अर्लमेवो ने पञ्जाव का दौरा किया था और पालनपुर फेअर मे दरवार भरा। उस समय सेठ चाँदमल जी के मुनीम ने सरकार की अच्छी सेवा वजाई, जिसको देख कर श्रीमान् वाइसराय महोदय ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की और मुनीम को दरवार में वैठक दी तथा सोने के कड़े (Bracelets) इनायत किये।

सन् १८६८ मे ये म्युनिसिपल कमिश्नर वनाये गये और १८७८ मे इनको आनरेरी मजिस्ट्रेट दर्जा दोयम वनाया तथा सन् १८७७ में देहली दरवार भरा था उसमें सेठ चाँदमल जी को आमन्त्रित किया गया था। वहाँ श्रीमान् चीफ कमिश्नर साहव व कमिश्नर

अजमेर की सिफारश पर सेठ चाँदमल जी को श्रीमान् वायसराय महोदय लार्ड लिटन से 'राय साहिब' का ख़िताब, स्वर्णपदक और सार्टिफिकट दिया था जिस पर महाराणी विक्टोरिया का नाम अंकित था। सन् १८७८-७९ मे काबुल का युद्ध आरंभ हुआ। पेशावर से परे लुन्डी, कोटल, जलालाबाद और काबुल के खजाने के साथ जिम्मेदार आदमियो को जाना जरूरी समझा गया, ऐसे नाजुक समय मे सब ने किनारा काटा किन्तु सेठ चाँदमल जी के एजन्ट शिवनाथ ने अपने आदमी फौज के साथ भेजे और करीब करोड़ रुपये तक जरूरत के अनुसार खजाने से खर्च किये—इस सेवा से प्रसन्न होकर छोटे लाट साहेब पञ्जाब ने सेठ के एजन्ट को एक दुशाला और दुपट्टा खिल्लअत सहित दिया।

राजपूताने मे सम्वत् १९२५ और १९३४ मे घोर दुष्काल पड़े थे। इन अवसरों में आपने राजपूताने की गरीब प्रजा की बड़ी सहायता की थी।

अजमेर की प्रजा सेठ चाँदमल जी से बड़ी प्रसन्न थी, इन पर उसका पूर्ण विश्वास था, कोई भी काम हो इनको कहा जाता था। एक दफा का जिक्र है कि अजमेर म्युनिसीपल्टी ने नया बाजार की घाट को तोड़ने की आज्ञा दे दी थी—मजदूर लग गये थे, कुदाली से घाट तोड़ने ही वाले थे कि बाजार के कुछ भलेमानुष सेठ चाँदमल जी की हवेली पर गये और कहने लगे कि घाट के टूट जाने से बाजार की रोनक बिगड़ जायगी और पानी पीने की दिक्कत हो जायगी हम तो आपको ही सर्वेसर्वा समझते हैं—इसलिये आपके पास आये हैं, आपसे

ही यह कार्य होगा—यह श्रवण कर सेठ चाँदमल जी अपनी वग्घी मे वैठ कर आये और घाट तोड़ने वालो से कहने लगे—"भाई आप जरा ठहरिए जव तक कि मैं श्रीमान् चीफ कमिश्नर साहव वहादुर के पास जाकर लौट न आऊँ।" ऐसा कह कर चीफ कमिश्नर साहव के पास गये और इनको सच्ची हकीकत समझाइए। इस पर साहव वहादुर ने घाट तोड़ने के हुक्म को रद्द कर दिया।

एक दफा वावू गढ़ पहाड़ पर मुसलमानों ने कब्जा कर लिया, और वालाजी का मेला करना वन्द कर दिया। हिन्दू लोग फिर सेठ चाँदमल जी के पास गये और इस संकट से निवारण करने की प्रार्थना की। सेठ चाँदमल जी ने यह काम अपने हाथ में लिया और वहुत प्रयत्न कर वालाजी का मेला भरा दिया जो आज दिन भी विना रोक टोक भरा जाता है।

लोग कहते हैं कि जव श्रीमती भारत-सम्राज्ञी क्वीन मेरी अजमेर पधारी थीं उस समय उनका पुष्कर भी पधारना हुआ था। वहाँ छोटी वस्ती वारादगार के पास वाजार में वड़का गोल चवूतरा है—जिसके पास मोटर घूम कर निकलती है—इस वास्ते ऐसी आज्ञा दी गई कि चवूतरे को तोड़ डालना चाहिए। इस पर वहाँ के ब्राह्मणों ने अनेक प्रार्थनाएँ की किंतु, कुछ ध्यान न दिया गया। इस पर पुष्कर के ब्राह्मण सेठ चाँदमल जी के पास आये और इनसे सव हकीकत कही। इस पर सेठ चाँदमल जी श्रीमान कमिश्नर साहव के पास गये और उनको मना किया कि इससे वड़ा पाप लगेगा और वदनामी होगी—कमिश्नर साहव ने आपकी वात मान ली और चवूतरा गिरवाने का विचार छोड़ दिया। जव ब्राह्मणो को यह ज्ञात हुआ तो उन्होने

आपको आशिर्वाद दिये और मङ्गलकामना के लिये ईश्वर से प्रार्थना की। इसी तरह इन्होंने अजमेर की जनता की समय२ पर अनेक सेवाएं की थीं किन्तु विस्तार भय से सबको छोड़ कर एक दो घटनाओं का ही उल्लेख दिग्दर्शनार्थ किया गया है।

सेठ चाँदमल जी जैन थे किन्तु किसी धर्म से भी आपको द्वेष न था। सर्व धर्मों को आप इज्जत की निगाह से देखते थे, बुलाने पर सबके उत्सवों मे सम्मिलित होते थे और यथाशक्ति सब को देते भी थे। मेम्बर या पदाधिकारी बनने में भी आप एतराज न करते थे।

दयावान राजपूताने भर में आप प्रसिद्ध थे। आनासागर तथा फाई सागर में मछलियों का पकड़ना बन्द करा दिया था। दोनो तलावो का पानी सूख जाने पर इनकी मछलियाँ बूढ़े पुष्कर मे भिजवा दी जाती थी। आपकी तरफ से सदाव्रत जारी था। कच्ची वालो को सीधा और पक्की वालो को पुड़ी दी जाती थी, गरीब स्त्री पुरुष और बच्चो को रोजाना चना दिया जाता था, गायो को घास डलाया जाता था, कबूतर तोते आदि पक्षियों को अनाज छुड़ाया जाता था, गरीब मुसलमान रोजे रखने वालों के लिये रोजा खोलने के लिये रोटी बनवा कर उनके पास भिजवायी जाती थी। कहने का अर्थ यह है कि बिना भेदभाव सबको दिया जाता था यही सबब था कि कोई भी गरीब, अपाहिज स्टेशन से उतरते ही या रेल ही से चाँदमल जी का नाम रटता हुआ चला आता था और वहाँ जाने पर उसके भाग्य अनुसार मिलता ही था कोई भी व्यक्ति बिना कुछ लिये उनके द्वार से न लौटता था हर समय १०–२०–५० का जमघट जमा ही रहता था, और उन सब को

दिया ही जाता था, सर्दी के मौसिम मे वस्त्रहीनो को कम्वल, रजाइएं रूई की अँगरखिए वाँटी जाती थी इस तरह मौसिम २ का दान दिया जाता था।

सेठ चाँदमल जी पूर्व स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के जनरल सेक्रेटरी थे, साधु मुनिराज के प्रति उनकी अनन्य भक्ति थी। हर समय उनके हवेली पर धर्मध्यान होता ही रहता था, दीक्षा आदि भी आपकी तरफ से होती रहती थीं, जीव दया तथा अन्य खातो में सब से अधिक रकम आपकी तरफ से लिखी जाती थी आप जिस धार्मिक कार्य मे आगे वढ़ जाते थे उससे कदम कभी भी पीछे न हटाते थे चाहे उसमें लाख रुपये भी क्यों न खर्च हो जावे। यह आपका स्वभाव था इससे हर एक धार्मिक कार्य में सबसे आगे आपको किया जाता था।

कान्फ्रेंस का प्रथम अधिवेशन जो मोरवी शहर में हुआ था, उसके आप सभापति थे, अजमेर में कान्फ्रेंस का चतुर्थ अधिवेशन हुआ उसमें अधिक आप ही का हाथ था और आपके हजारों रुपये उसमें व्यय हुए थे। कान्फ्रेंस आफिस कुछ वर्ष तक आपके यहां रहा था और उसमे आप वरावर योग देते रहे थे जैन जनता में आपका वड़ा मान है। आप जवरदस्त नेता गिने जाते थे। आपकी वात का वड़ा आदर था, जो वात आप की जवान से निकल जाती थी लोह की लकीर समझी जाती थी। आप वड़े धर्मिष्ट सदाचारी थे, प्रजा और राजा दोनो मे आपकी इज्जत थी और सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे, आपके सम्वन्ध में वड़े वड़े ओहदेदार अंगरेजों के अच्छे २ सार्टिफिकेट दिये हुवे हैं उन सब का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। केवल इतना

ही लिखा जा सका है कि आप सरकार के वड़े कृपापात्र थे। आप का शरीर पुष्ट था, वृद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर भी आपका चेहरा दमकता था, निराशा आपके पास होकर फटकती ही न थी।

आपकी मृत्यु सम्वत् १९७१ मे ६६ वर्ष की अवस्था में हो गई। आपने अन्तिम समय में वडी रकम धर्मादा खाते निकाली थी जिसका सदुपयोग आज भी जारी है।

आपके देहान्त के समय पुत्र-पौत्र आदि सब थे और भण्डार धन-धान्य से भरपूर था सब तरह का आनन्द था।

आपके पुत्रों के नाम घनश्याम दासजी, छगनमलजी, मगनमलजी और प्यारेलालजी हैं।

बड़े पुत्र घनश्यामदास सेठ साहब के गुजरने के कुछ समय बाद ही इन तीनों भाइयों से अलग हो गये थे उनकी मृत्यु ३८ वर्ष की अवस्था में हुई उनके दो पुत्र हैं।

छगनमलजी, मगनमलजी और प्यारेलालजी—इन लोगो का करोबार शामिल है इनमे छगनमलजी बड़े अच्छे पुरुष हुए। इन्होने कम उम्र में ही अपने पिता की तरह राजा और प्रजा मे अधिक ख्याति पैदा करली थी। गवर्नमेंट ने आपकी योग्यता देख कर आनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिया था और सन् १९१६ मे राय बहादुर के खिताब से सुशोभित किया था। धार्मिक कार्य मे आपकी अधिक वृति थी। सात वर्ष तक आप कान्फ्रेंस के आनरेरी सेक्रेटरी रहे। आपने अपने खर्च से हुन्नरशाला चलाई जिसमें लड़कों को खान पान और हुन्नर कला सीखने का सब साधन उपस्थित किया। आप भी अपने पिता की तरह अधिक दानी

परोपकारी और उदारचित्त थे किन्तु दु:ख के साथ लिखना पड़ता है कि २६ मार्च सन् १९२० को ३१ वर्ष की छोटी अवस्थाही मे आप इस संसार से विदा हो गये।

आपकी मृत्यु से जैन-जनता में वड़ी कमी होगई जो आज तक न मिटी। जिसने एक दफा आप को देख लिया था वह अब भी आप का नाम स्मरण होने पर दो आंसू वहाए विना रह नहीं सकता। आपका सोम्य-स्वभाव, हँसमुख सरल-वृत्ति और सादा मिज़ाज था। मगनलालजी और प्यारेलालजी अपनी मुश्तरका (ज्वायन्ट फेमली) यानी मगनमलजी और प्यारेलालजी के संयुक्त कारोवार को दिन प्रतिदिन तरक्की दे रहे हैं और वे अपने पिता और वड़े भाई के सदृश सरलस्वभावी, उदारचित्त परिश्रमी, दयावान, धर्म के कार्य मे अधिक अनुराग रखने वाले, और जीवदया के अनन्य भक्त हैं। आप हिन्दी अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान रखते हैं, आप सदाचार की मूर्त्ति हैं। रात दिन आप काम में लगे रहते हैं। आप इतने लोकप्रिय हैं कि कई सभा सोसायटियों के अधिकारी हैं। पुष्कर गो आदि पशुशाला की अधिक सहायता करते हैं और आपका हाथ होने से ही उसका अस्तित्व कायम है, अहिंसा प्रचारक आप ही के खर्च से चलता है, वंगलोर मिहगला, घाटों पर जीवदया मण्डल आदि मे आप ने अच्छी सहायता दी है आप के पिता के समय जिस क्रम से दान दिया जाता था वह क्रम आज भी जारी है वलिक उससे अधिक ही दिया जाता है। आप के सात्विक विचार हैं। आप प्रपंचो से दूर रहते हैं, सत्य के प्रेमी हैं वड़े भाई मगनमल जी आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं म्युनिसिपल कमिश्नर भी रहे थे, समस्त

जैन समाज में आपकी बड़ी इज्जत है। स्थानकवासी कान्फ्रेन्स के जनरल सेक्रेटरी तथा सुखदेव सहाय जैन प्रेस के आनरेरी सेक्रेटरी हैं।

इस समय आपकी निम्न स्थानों पर दुकानें हैं।

१—सेठ चांदमलजी छगनमलजी बम्बई
२—सेठ चांदमलजी छगनमलजी बनारस
३—सेठ चांदमलजी छगनमलजी दमोह
४—सेठ चांदमलजी छगनमलजी पेशावर
५—सेठ चांदमलजी छगनमलजी बंगलोर
६—सेठ चांदमलजी छगनमलजी सतपुरा
७—सेठ हमीरमलजी छगनमलजी मिरजापुर
८—सेठ हमीरमलजी छगनमलजी झांसी
९—सेठ हमीरमलजी छगनमलजी जालधर
१०—सेठ चांदमलजी प्यारेलालजी ब्यावर
११—सेठ रूघनाथदासजी चांदमलजी जोधपुर
१२—सेठ चांदमलजी मगनमलजी पेशावर
१३—सेठ चांदमलजी मगनमलजी भागसु
१४—सेठ चांदमलजी मगनमलजी जबलपुर
१५—राय सेठ चांदमलजी मगनमलजी होशियारपुर
१६—राय सेठ चांदमलजी मगनमलजी कोहट
१७—सेठ चांदमलजी मगनमलजी बोराई
१८—सेठ चांदमलजी प्यारेलालजी कलकत्ता

हिन्दी के कुछ चुने हुए ग्रंथ-रत्न